विद्यापीठ-ग्रन्थमाला

[तृतीय पुष्प]

भारतीय संस्कृति के नये आयाम

कुलपति प्रो. वाचस्पति उपाध्याय के 'नैवेद्यम्' से अलंकृत

प्रणेता

आचार्य श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ

(मानित विश्वविद्यालय)

नई दिल्ली

विद्यापीठ-ग्रन्थमाला
[तृतीय पुष्प]

भारतीय संस्कृति के नये आयाम

कुलपति प्रो. वाचस्पति उपाध्याय के 'नैवेद्यम्' से अलंकृत

प्रणेता एवं सम्पादक
आचार्य श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी
पूर्व-अध्यक्ष, सांख्ययोग-तन्त्रागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

नई दिल्ली

२०५४ वैक्रमाब्द १९१९ शकाब्द १९९७ खैस्ताब्द

प्रकाशक :
कुलसचिव
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली - ११० ०१६

❒

प्राप्ति-स्थान :
प्रकाशन-विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली - ११० ०१६

❒

प्रथम संस्करण - १००० प्रतियाँ

मूल्य - रू० १४०.००

❒

मुद्रक :
शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस्
डी. ३५/७७, जंगमवाड़ीमठ
वाराणसी - २२१ ००१

VIDYĀPĪṬHA-GRANTHAMĀLĀ
[Vol.3]

BHARATIYA SAMSKRITI KE NAYE AYAMA

FOREWORD BY
PROF. VACHASPATI UPADHYAYA
VICE-CHANCELLOR

WRITTEN & EDITED BY
PROF. VRAJAVALLABHA DWIVEDI
Ex-Head of the Dept. of Sāṅkhya-Yogatantrāgama
Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi

NEW DELHI

1997

Published by :
Registrar,
Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeeth
(Deemed University)
New Delhi - 110016

❒

Available at :
Publication Department
Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeeth
(Deemed University)
New Delhi - 110016

❒

First Edition - 1000 Copies

Price - Rs. 140.00

❒

Printed by :
Shiva-Shakti Computer Process
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221001

।। ॐ नमः परमात्मने ।।

नैवेद्यम्

यह हर्ष एवं सन्तोष का विषय है कि श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ को भारत सरकार ने अब मानित विश्वविद्यालय के अधिकार से सम्पन्न कर दिया है। भारत की राजधानी दिल्ली महानगरी में विद्यमान इस संस्था का संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति की रक्षा में और भारत के पुरातन गौरव की पुनः प्रतिष्ठा करने में महनीय योगदान रहा है। अपनी विविध गतिविधियों के बीच प्राचीन ग्रन्थों के उद्धार और नवीन विषयों पर ग्रन्थरचना भी इसका एक लक्ष्य रहा है। इसी कड़ी में आज हमें **''भारतीय संस्कृति के नये आयाम''** शीर्षक ग्रन्थ को प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है।

संस्कृति है क्या? शब्दकोष देखने पर इसकी अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। एक बड़े लेखक का कहना है कि ''संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गयी हैं, उनसे अपने आपको परिचित कराना संस्कृति है''। एक दूसरी परिभाषा में कहा गया है कि ''संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है। यह मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है। यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है''। इस अर्थ में संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम हो जाता है, जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है। फिर, संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अनेक राष्ट्रों ने अपना कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व तथा अपने भीतर कुछ खास ढंग के मौलिक गुण विकसित कर लिये हैं।

संस्कृति शब्द पर कुछ लोगों का यह आक्षेप है कि भारत के प्राचीन साहित्य में इस शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है। यह शब्द पाश्चात्त्य 'कल्चर' शब्द के अनुवाद के रूप में गृहीत है। कुछ लोग इसके अनुवाद के रूप में 'कृष्टि' शब्द का प्रयोग करने की भी सलाह देते हैं। ऐसे महानुभावों से हमारा निवेदन है कि इस शब्द का प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के ''सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा' (७.१४) इस मन्त्र में मिलता है। इतना ही नहीं काण्व संहिता और कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी (१.३.१२), काठक (४.४) और कपिष्ठल-कठ (३.३) संहिताओं में भी इसका प्रयोग मिलता है। मीमांसा दर्शन में भी विकृति और संस्कृति शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ''यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'' विश्वभारती शान्तिनिकेतन का यह आदर्श वाक्य भी शुक्ल यजुर्वेद (३२.८) से ही लिया गया है। इस स्थिति में हमारी दृष्टि में संस्कृति के स्थान पर कृष्टि शब्द के प्रयोग का कोई औचित्य नहीं है।

आज हमारा देश राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि के साथ सांस्कृतिक संकट से भी गुजर रहा है। उसके समाधान के लिये राष्ट्र जागरूक है। इसी सातत्य में सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान के लिये अनेक आन्दोलन हुए हैं।

भारतीय संस्कृति नदी की धारा के समान निरन्तर प्रवहमान रही है। आज की भारतीय संस्कृति के अजस्र प्रवाह में वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, आगमिक, पौराणिक, सन्त, इस्लाम और पाश्चात्त्य संस्कृति की धाराओं का जल मिलकर बह रहा है। इस विषय पर भी सांस्कृतिक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में पर्याप्त ग्रन्थ लिखे गये हैं।' किन्तु उनमें आगम-तन्त्रशास्त्र की पूर्ण उपेक्षा कर दी गई है। इसके अभाव में पौराणिक वाङ्मय का और विगत एक हजार वर्षों में विभिन्न भारतीय भाषाओं के माध्यम से विकसित सन्त साहित्य का न तो हम सही मूल्यांकन कर पाये हैं और न अपसंस्कृतियों से अपने को बचाने में समर्थ हो रहे हैं। इसी कमी की पूर्ति के लिये यह ग्रन्थ लिखा गया है।

इस ग्रन्थ के लेखक वर्तमान काल में आगम-तन्त्रशास्त्र के उद्धारक महामनीषी पद्मविभूषण महामहोपाध्याय **श्री गोपीनाथ कविराज** के प्रिय शिष्य **श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी** हैं। उन्हीं की समन्वयात्मिका दृष्टि का अवलम्बन कर इन्होंने अपने अनेक संस्कृत ग्रन्थों में आगम-तन्त्रशास्त्र का ऐतिहासिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक अनुशीलन प्रस्तुत किया है। भारतीय संस्कृति के परिष्कृत स्वरूप को प्रस्तुत करने में इनकी विशेष रुचि रही है। उसी का परिणाम यह प्रस्तुत ग्रन्थ है।

आचार्य द्विवेदी जी ने अपने सुदीर्घ शैक्षणिक एवं गवेषणात्मक अनुभव से भारतीय वाङ्मय की विभिन्न धाराओं का निकट से परीक्षण एवं निरीक्षण किया है। योगतन्त्र वाङ्मय के साथ-साथ आपने अन्य महनीय तथा आकर ग्रन्थों का स्वाध्याय किया है। आचार्य द्विवेदी जी जिस गुरुपरम्परा के हैं, मेरा सौभाग्य है कि मेरे श्रद्धेय प्रात:स्मरणीय गुरुदेव तथा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति स्वर्गीय **डॉ. गौरीनाथ शास्त्री** उसी परम्परा के थे। अत: विद्या-वंश के रूप में मेरा आचार्य द्विवेदी जी से नैकट्य है। मेरे लिये यह गौरव एवं हर्ष का विषय है कि उन्होंने कृपापूर्वक मेरी प्रार्थना को स्वीकार करके अपने इस अमूल्य ग्रन्थ को इस विद्यापीठ के माध्यम से प्रकाशित करने के लिये अनुमति प्रदान की है। मैं विद्यापीठ परिवार तथा अपनी ओर से आचार्य द्विवेदी जी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ तथा भूतभावन भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि वे आचार्य द्विवेदी जी को दीर्घायुष्य प्रदान करें।

अन्त में इस ग्रन्थ के उत्कृष्ट मुद्रण हेतु शिवशक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस् के व्यवस्थापक को धन्यवाद प्रदान करते हुए यह उत्कृष्ट रचना भारतीय संस्कृति के विद्वानों को उपहृत करता हूँ।

गुरुपूर्णिमा
वि. सं. २०५४
नई दिल्ली

विनीत
वाचस्पति उपाध्याय
कुलपति

आमुख

'भारतीय संस्कृति के नये आयाम' नामक ग्रन्थ में पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने कई महत्त्वपूर्ण आयामों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। हम अपनी संस्कृति के मूलाधार वेद-वेदान्त और आगम-तन्त्रशास्त्र को ठीक से नहीं समझने के कारण उनकी बुराइयों से घिरे हुए हैं और उनके उत्कृष्ट अवदानों को भुला बैठे हैं। भारतीय संस्कृति के चार पुरुषार्थों का विश्लेषण करते हुए वे कहते हैं कि धर्म इनमें प्रधान है; धर्म-नियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन से ही मानव जाति सुख-शान्ति से रह सकती है। लौकिक दृष्टि से इसी को हम मोक्ष मान सकते हैं। आगमिक संस्कृति ने कुल, जाति, धन और विद्या की अपेक्षा चरित्र को वरीयता दी है। आज उसी की देश को आवश्यकता है। इसके अभाव में नैतिकताविहीन अर्थ और अहंकारभरी विद्या से देश का हित कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

सनातन धर्म की विशेषता को परिलक्षित कर वे कहते हैं कि उसने आजीवक, लोकायत, जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त आन्दोलनों के उदात्त तत्त्वों को ग्रहण करने में कभी परहेज नहीं किया। सिद्धों, नाथों, संतों और गुरुओं ने इसी दृष्टि का अनुसरण किया है। महात्मा गाँधी और आचार्य नरेन्द्रदेव के वैदिक विश्वबन्धुत्व की भावना के साथ आज हमें भगवान् बुद्ध की महाकरुणा को एवं भगवान् महावीर की कठोर तपस्या को मिलाना होगा। साथ ही आगम और तन्त्रशास्त्र में तथा सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं की वाणी में बताई गई समतादृष्टि का भी विस्तार करना होगा। वैयक्तिक एवं सामूहिक साधनाओं का पं०द्विवेदी जी ने मार्मिक विवेचन किया है। वे कहते हैं कि वैयक्तिक साधना का अपना महत्त्व है। यह भी मानव कल्याण के लिये प्रवृत्त है, किन्तु व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामूहिक उन्नति की भावना की, पारलौकिक उपलब्धि के साथ ऐहलौकिक नैतिकता की, सीमित रूप में ही सही, ह्रासवाद के स्थान पर विकासवाद और भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषार्थ की भारतीय जनमानस में प्रतिष्ठा हो, इस पर अधिक जोर दिया जाना चाहिये।

वैदिकधारा में कभी हिंसाप्रधान कर्मकाण्ड का बाहुल्य हो गया था, जिसका विरोध औपनिषद धारा ने किया। भौतिक एवं आध्यात्मिक संस्कृतियों के बीच में एक स्पष्ट रूपरेखा पं० द्विवेदी जी ने खींची है। वे कहते हैं कि किसी भी संस्कृति में आत्मा और विश्व के संस्कार की प्रक्रिया साथ-साथ ही चलती है, तो भी किसी में आध्यात्मिक और किसी में भौतिक पक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता है। पाश्चात्य संस्कृति में बाह्य विश्व के उपभोग पर अधिक बल दिया गया है, जबकि भारतीय संस्कृति में आत्मिक विकास पर। इसी अर्थ में पाश्चात्त्य संस्कृति भौतिक और भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक कही जाती है।

सभी भारतीय धर्म और दर्शन मानवमात्र के कल्याण को परमार्थ मानते हैं। भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता एवं सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी ने कहा है कि यहाँ विभिन्न जाति, धर्म और भावनाओं के अनुयायियों ने मिलजुल कर एक बहुरंगी किन्तु शान्तिप्रद

भारत के निर्माण में योगदान किया है। पं० द्विवेदी जी ने भगवद्गीता की समन्वयात्मक दृष्टि का निरूपण बड़े सुन्दर ढंग से किया है।

पं० द्विवेदी जी ने हमारा ध्यान श्री अरविन्द और म. म. गोपीनाथ कविराज की ओर आकृष्ट किया है ,जिन्होंने तन्त्रशास्त्र के उत्कृष्ट अवदानों को उजागर कर पूरी भारतीय परम्परा में इस टूटी हुई कड़ी को जोड़कर अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त किया है।

पं० द्विवेदी जी आगम और तन्त्रशास्त्र के विद्वानों में योग्यतम व्यक्ति हैं। बौद्ध तन्त्र-साहित्य की गवेषणा में भी वे सुदीर्घकाल से रत हैं। उनका अध्ययन बहुत व्यापक है एवं वे भारतीय संस्कृति की अखण्डता के पक्षपाती हैं। भारत के सभी दर्शनों के प्रति उनके हृदय में उदार समादर है। किसी दर्शन को वे अपूर्ण नहीं समझते। मुझे पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन से पाठक भारतीय संस्कृति की गरिमा को पूर्णरूपेण हृदयंगम कर सकेंगे एवं समन्वयात्मक अखंड भारतीय संस्कृति के निर्माण में सहयोग प्रदान करने में सक्षम होंगे।

डॉ० नथमल टाटिया
निदेशक, अनुसन्धान
जैन विश्वभारती (मानित विश्वविद्यालय)

लाडनू (राजस्थान)
१६-३-९७

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति पर जाने-अनजाने चतुर्दिक् प्रहार हो रहे हैं। सुधारवादी आन्दोलन शांकर वेदान्त के इर्द-गिर्द घूमा है और इसके कारण अनेक विसंगतियाँ उठ खड़ी हुई हैं। श्रमण-ब्राह्मण, आर्य-द्रविड़, वर्णव्यवस्था जैसी अनेक समस्याओं को जान-बूझ कर पुनः जिला दिया गया है, जिनका कि समाधान तान्त्रिक वाङ्मय ने एक हजार वर्ष पहले ही खोज लिया था। आज हम वेद-वेदान्त और आगम-तन्त्रशास्त्र की बुराइयों से घिरे हुए हैं और इनके उत्कृष्ट अवदानों को भुला बैठे हैं। यही कारण है कि हमारी आक्रमणशील कुसंस्कारों को हज़म करने की शक्ति अजीर्ण से ग्रस्त हो गई है। एक हजार वर्ष तक साथ रहने पर भी हम इस्लाम की क्रूरता, हठवादिता और असहिष्णुता जैसे कुसंस्कारों को दूर नहीं कर सके हैं और उनके चिरप्रचारित भाईचारे के संदेश को भी इस्लामिक घरौंदे से बाहर नहीं निकाल सके हैं। उलटे हम भी उन दूषणों से घिरते जा रहे हैं। एकता में अनेकता और अनेकता में एकता को देखने वाले भारतीय दर्शन को एकेश्वरवाद के समक्ष तुच्छ सिद्ध करने का अबाध प्रचार चल रहा है और ये एकेश्वरवादी कुसंस्कार इस पूरी दुनिया पर केवल अपना ही एकच्छत्र आधिपत्य जमाने को उद्यत हैं। छल-छद्म अथवा नकली दयाभाव के सहारे धर्मपरिवर्तन का चक्र निरन्तर चल रहा है। हम मूक दर्शक बने हुए हैं और चिरपुरातन होते हुए भी चिरनवीन उदारवादी भारतीय संस्कार इनका प्रतीकार करने में स्वयं असहाय से हो गये हैं। राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, सन्त कबीर, रविदास, गुरु नानकदेव और महात्मा गांधी के देश की क्या यही नियति लिखी गई है?

भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की कल्पना की गई है। धर्म इनमें प्रधान है। धर्म-नियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन से ही मानव जाति सुख-शान्ति से रह सकती है। लौकिक दृष्टि से इसी को हम मोक्ष मान सकते हैं। योगी अरविन्द की कल्पना तभी साकार हो सकती है। किन्तु न मालूम किस अशुभ घड़ी में किये गये 'सेक्युलर स्टेट' के 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' अनुवाद ने पूरे देश को अनियन्त्रित अर्थ और काम के शिकंजे में फँसा दिया है। तथाकथित राजनेताओं और बुद्धिजीवियों में इसका प्रभाव तीव्र गति से बढ़ा है। धीरे-धीरे पूरा देश नैतिकताविहीन होता चला रहा है। धन और विद्या को संमान मिले, इसमें किसको एतराज हो सकता है? किन्तु नैतिकता-विहीन धन और अहंकारभरी विद्या से समाज का क्या कल्याण होगा? आज देश को चरित्रवान् अर्थपरिशुद्ध व्यक्तियों की आवश्यकता है। आगमिक संस्कृति ने कुल, जाति, धन और विद्या की अपेक्षा चरित्र को वरीयता दी है। आज उसी की देश को आवश्यकता है। इसके अभाव में नैतिकता-विहीन अर्थ और अहंकारभरी विद्या से देश का हित कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

पुरातन की आज जिस प्रकार उपेक्षा हो रही है, उसका एक अच्छा उदाहरण मनुस्मृति है। सनातन धर्म में विद्यमान सारे अनर्थों की जड़ आज इस स्मृति को मान लिया गया है। ऐसे महानुभाव आचार्य नरेन्द्रदेव की दी गई सनातन धर्म (भारतीय संस्कृति) की परिभाषा से अपरिचित हैं। सनातन धर्म के परिष्कार के लिये सम्पन्न हुए अन्य अनेक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में ही हम आर्यसमाजी विचारों की भी समीक्षा कर सकते हैं। सनातन धर्म ने आजीवक, लोकायत, जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि आन्दोलनों के उदात्त तत्त्वों को ग्रहण करने में कभी परहेज नहीं किया। सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं ने इसी दृष्टि का अनुसरण किया है। महात्मा गांधी और आचार्य नरेन्द्रदेव इसी परम्परा के प्रतिनिधि हैं। ''सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते'' इसका आदर्श वाक्य है। यह किसी एक ग्रन्थ पर आधारित नहीं है, अथ च सभी उत्कृष्ट अवदानों को स्वीकार करने में कभी संकोच नहीं करता। जेन्दावेस्ता, बाईबिल और कुरान को भी वह उतनी ही महत्ता देता है। इसे हम विश्व का उदारतम धर्म (संस्कृति) मान सकते हैं। इस उत्कृष्ट अवदान को दिखाने के लिये [१]मनुस्मृति के कुछ वचन ही पर्याप्त हैं। आधुनिक प्रबुद्ध विचारक थोड़ा ठहर कर सोचेंगे कि क्या ये शाश्वत मूल्य कभी उपेक्षणीय हो सकते हैं?

प्रस्तुत ग्रन्थ में भगवद्गीता, पांचरात्राधिकरण, नारायणीयोपाख्यान, भागवत जैसे ग्रन्थों और विश्वाहन्ता, अखण्ड महायोग जैसे विषयों की भी चर्चा की गई है। आपाततः इनका परस्पर कोई संबन्ध प्रतीत नहीं होता, किन्तु इनके आधार पर यहाँ एक राष्ट्रीयता, भावात्मक एकता और अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण के लिये उपयुक्त सामग्री का ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक पद्धति से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। मीमांसाशास्त्र में उपक्रम-उपसंहार पद्धति से शास्त्र की एकरूपता का निर्णय लिया जाता है और आवाप एवं उद्वाप (ग्रहण और परित्याग) की पद्धति से उपादेय विषय का संग्रह तथा हेय विषय का परित्याग किया जाता है। इन नियमों का यहाँ पूरी तरह से पालन किया गया है और ''पुराणमित्येव न साधु सर्वम्'' कालिदास की इस उक्ति के अनुसार पुरातन और नूतन में सहज समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।

''वसुधैव कुटुम्बकम्'' और विश्वाहन्ता-दृष्टि का निरूपण करने के साथ ही यहाँ अन्तरराष्ट्रियता के व्यामोह की आलोचना भी की गई है। स्वत्व के विस्तार के साथ उसका लोप न हो जाय, इसको देखना भी जरूरी है। किन्तु विश्व स्वत्व के संकोच की ओर तेजी से बढ़ रहा है। विगत कुछ वर्षों में अनेक देश खंडित हो चुके हैं। संघात्मकता विघटन की ओर तेजी से बढ़ रही है। इसको तभी रोका जा सकता है, जब कि दुनियाँ में नये-नये राष्ट्रों की संख्या बढ़ने के बजाय घटने लगे। यह तभी हो सकता है, जब कि राष्ट्रों में परस्पर संघबद्ध होने की भावना जगे। एक दुनियाँ का स्वप्न भी तभी साकार हो सकता है। यह जब तक संभव नहीं होता, हमें अन्तरराष्ट्रियता के व्यामोह से बचना होगा।

वैदिक विश्वबन्धुत्व की भावना के साथ आज हमें भगवान् बुद्ध की महाकरुणा को एवं भगवान् महावीर की कठोर तपस्या को मिलाना होगा। साथ ही आगम और तन्त्रशास्त्र में तथा

---

१. हमने अपनी पुस्तक ''निगमागम संस्कृति'' में इन वचनों को यत्र तत्र इकट्ठा किया है।

सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं की वाणी में बताई गई समता दृष्टि का भी विस्तार करना होगा। आज की दुनियाँ केवल राजनीतिक संघर्ष से ही नहीं, धार्मिक और सांस्कृतिक विद्रूपताओं से भी भरी हुई है। राजनीतिक लाभ के लिये धार्मिक और सांस्कृतिक क्रिया-कलापों का भी सहारा लिया जा रहा है और एक अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण में बाधा पहुँचाई जा रही है। दुर्योधन की जंघा की तरह कमजोर अंगों पर आक्रमण सदा होता रहा है। इसलिये हमें अपनी कमजोरियों को पहचान कर उनको दूर करने का प्रयत्न करना होगा। इसके लिये दूसरों को दोषी बताने से हमारा कोई लाभ नहीं है और न इस तरह से विघटन की प्रक्रिया ही रुक सकेगी।

दक्षिण के वैष्णव और शैव सन्तों पर तथा उत्तर के सिद्धों, नाथों और सन्तों पर आगम और तन्त्रशास्त्र का गहरा प्रभाव है। भक्त नरसी मेहता की वाणी भी इनसे आप्यायित है, जो कि महात्मा गांधी की आध्यात्मिक शक्ति की प्रेरणा-स्रोत रही है। आज कबीर, नामदेव, रविदास आदि की तथा गुरुओं की वाणी का अध्ययन इस दृष्टिकोण से नहीं किया जाता। इनको नवीन दृष्टिकोण का उद्भावक मान कर एक संकीर्ण घेरे में डाल दिया जाता है। सूफी सन्तों के अध्ययन में भी यही त्रुटि रह गई है। इसके निवारण के लिये हमें संस्कृत वाङ्मय की, विशेष कर आगम और तन्त्रशास्त्र की सहायता लेनी होगी, जिसका कि उपदेश मानवमात्र के कल्याण के लिये हुआ है।

वैयक्तिक साधना का अपना स्थान है। यह भी मानव कल्याण के लिये प्रवृत्त है, किन्तु व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामूहिक उन्नति की भावना की, पारलौकिक उपलब्धि के साथ ऐहलौकिक नैतिकता की, सीमित रूप में ही सही, ह्रासवाद के स्थान पर विकासवाद और भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषार्थ की भारतीय जनमानस में प्रतिष्ठा हो, इस पर अधिक जोर दिया जाना चाहिये। ऐसा करने पर ही हम श्रद्धेय गुरुचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज के बताये अखण्ड महायोग के माध्यम से योगी अरविन्द की अतिमानस सृष्टि को धरती पर उतार सकते हैं। एक दुनियाँ और विश्वसंस्कृति की कल्पना तभी साकार हो सकती है। इसके लिये हमें गणेशपुरी के सन्त स्वामी मुक्तानन्द के आश्रम में अंकित "परस्परदेवो भव" वाक्य को चरितार्थ करना होगा।

यहाँ मोहेंजोदड़ो-हड़प्पा की संस्कृति और वैदिक साहित्य के साथ बौद्ध एवं जैन वाङ्मय की पृष्ठभूमि में सामग्री संकलित की गई है। आगमशास्त्र की पांचरात्र और पाशुपत शाखाओं का उल्लेख वैदिक और पालि वाङ्मय में भी मिलता है। पाशुपत सूत्रों के रचयिता लकुलीश का प्रादुर्भाव ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी में कायावरोहण में हो चुका था। इनके मौसुल, कारुक आदि शिष्यों का तथा उनके हृदयप्रमाण आदि ग्रन्थों का उल्लेख प्राचीन टीकाकारों ने किया है। तन्त्रशास्त्र में जातिग्रह को एक प्रकार का पाश माना जाता है। विभिन्न धर्मों और वादों के अनुयायी जन यहाँ रहते हैं। आगम और तन्त्रशास्त्र के दृष्टिकोण के आधार पर इन सबको एकजुट किया जा सकता है।

भारत को स्वतन्त्रता मिलने के बाद देश में धर्मनिरपेक्ष जनतन्त्र प्रणाली का शासन स्थापित हुआ है, किन्तु भारतीय परराष्ट्र नीति की यह विडम्बना ही मानी जायगी कि इस देश का कोई राजकीय धर्म या संस्कृति न रहते हुए भी हम बौद्ध धर्म के माध्यम से दक्षिण-पूर्व एशिया के

देशों से, इस्लाम के आधार पर पश्चिम एशिया के देशों से और अपने जीवन में व्याप्त पाश्चात्त्य संस्कृति और भाषा के माध्यम से पूरे विश्व से सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं। भारतीय परराष्ट्र नीति की असफलता का मूल इसी में निहित है। देश की आन्तरिक उथल-पुथल को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। देश को स्वतन्त्र हुए पचास वर्ष हो रहे हैं, किन्तु एक राष्ट्रीयता अथवा देश की एक अखण्ड संस्कृति के विकास का कोई प्रयत्न ही प्रारम्भ नहीं किया गया। देश में ईसाईकरण, इस्लामीकरण, हिन्दूकरण या बौद्ध दीक्षा की बात जब चलती है और अनेक संस्थाएँ तदनुकूल आचरण भी करती हैं, तो हमारे कान में जूँ तक नहीं रेंगती, किन्तु भारतीयकरण की जब बात उठती है, तो हमारी नींद हराम हो जाती है। किसी का दिल और दिमाग जब कमजोर हो जाता है, तो वह नींद में बड़बड़ाने लगता है। संस्कृत के प्रसिद्ध सामाजिक नाटक मृच्छकटिक का विदूषक अपने स्वामी आरैर सखा चारुदत्त की सारी न्यस्त (धरोहर=अमानत) सम्पत्ति को इसी कमजोरी के कारण जाते हुए चोर (शर्विलक) का बुलाकर दे देता है। करीब-करीब हमारी भी आज यही स्थिति हो गयी है। अपनी स्वतन्त्रता को बचाने के बजाय आज हम उसको दूसरों को बुला कर सौंप देने की तैयारी कर रहे हैं।

कुछ राजनीतिज्ञों का कहना है कि भारतीय संविधान के अनुसार यहाँ के सभी निवासी भारतीय हैं, उनके लिये भारतीयकरण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। संविधान द्वारा प्रदत्त इस परिभाषा का हम आदर करते हैं। किन्तु भारतीय जनतन्त्र ने विगत पचास वर्षों में क्या कोई ऐसा आधार स्थिर किया, जिससे कि यहाँ के नागरिक अपने को हिन्दु, सिख, जैन, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई, पारसी के साथ-साथ भारतीय भी समझें। इसके विपरीत भारतीय जनतन्त्र ने तो देश में विलगाव करने वाली जाति, वर्ग, भाषा, राज्य आदि की अनगिनत व्याधियों को उभाड़ दिया है। भावात्मक एकता के भारतीय आधारों को तो हम छोड़ते जा रहे हैं, पाश्चात्त्य नैतिकता और भ्रातृभाव को भी हम ग्रहण नहीं कर सके हैं।

डॉ. मंगलदेव शास्त्री वाराणसी की स्व. डॉ. भगवान्दास, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ. सम्पूर्णानन्द की परम्परा के प्रतिनिधि विद्वान् थे। वे एक ग्रन्थ लिख रहे थे — ''भारतीय संस्कृति का विकास''। भारतीय संस्कृति को ऐतिहासिक दृष्टि से इन्होंने सात धाराओं में विभक्त किया था — (१) वैदिक, (२) औपनिषद, (३) जैन, (४) बौद्ध, (५) पौराणिक (वर्तमान हिन्दू धर्म), (६) सन्त, (७) इस्लाम और ईसाइयत आदि। इन सभी धाराओं पर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ लिखने का उनका विचार था। वैदिक और औपनिषद धारा पर उनके दो ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। पौराणिक धारा पर भी इन्होंने लिखा था। किन्तु उसको पुस्तक का रूप नहीं दिया जा सका। अन्य पुरातन संस्कृतियाँ आज जब कि नामशेष रह गई हैं, भारतीय संस्कृति की मूल पावन धारा अविरल धीर-गम्भीर गति से आज भी बह रही है। विभिन्न देश-काल और परिस्थितियों में पली हुई संस्कृतियों को आत्मसात् कर लेने का अद्भुत सामर्थ्य इसमें था। इस संस्कृति ने आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के आक्रमणों का बड़े आत्मविश्वास के साथ सामना किया था और अन्य संस्कृतियों के उदात्त तत्त्वों को अपना लेने में कभी परहेज नहीं किया। प्रारम्भ से ही यह संस्कृति त्याग, तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय के चार सुदृढ़ पायों पर खड़ी हुई है। आज ये मूल मान्यताएँ लड़खड़ाती सी नजर आ रही हैं।

क्या वैदिक, क्या जैन और क्या बौद्ध, सभी धाराओं में त्याग और तपस्या के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का समान विकास हुआ है और पाश्चात्त्य संस्कृति अपने राष्ट्र के लिये समय उपस्थित होने पर अधिक से अधिक त्याग और उसकी उन्नति के लिये कठोर परिश्रम करना सिखाती है। आज भारत में साधारण जन से लेकर उच्चपदस्थ व्यक्तियों तक में त्याग की भावना का नितान्त अभाव है। जनहित के नाम पर सभी अपनी गोटी लाल करने में लगे हैं। *त्याग और तपस्या की भावना आज वहाँ भी मर गयी है, जो कि अपने को वैदिक या अन्य आध्यात्मिक संस्कृति का प्रतिनिधि मानते हैं। इनके केन्द्रों में जाकर देखा जा सकता है कि बाह्य आडम्बरों की ओट में मूल मान्यताएँ किस प्रकार सिसक रहीं हैं।*

वैदिक धारा में कभी हिंसा-प्रधान कर्मकाण्ड का बाहुल्य हो गया था। औपनिषद धारा ने इसका विरोध किया। उसने वैदिक कर्मकाण्ड को मोक्षपथ की यात्रा के लिये कमजोर नाव बताया। ये औपनिषद उपदेश आज विश्व की धरोहर हैं। शताब्दियाँ बीत जाने पर भी देश और काल की सीमा को लाँघकर विद्यमान ये चिरपुरातन उपदेश आज भी चिरनवीन हैं। धन से तृप्ति नहीं हो सकती (नहि वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः)। इसके विपरीत मार्क्सवाद हमको आज कहाँ ले जा रहा है।

औपनिषद दर्शन और सांख्य-योग दर्शन की परम्परा में ही यहाँ एक ओर महावीर और बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ, तो दूसरी ओर पाशुपत और पांचरात्र मतों का। बुद्ध और महावीर ने वेद का प्रामाण्य जहाँ सर्वात्मना अस्वीकार कर दिया, वहीं उपनिषद्, सांख्य, योग, पाशुपत और पांचरात्र मत ने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया। इसी के परिणामस्वरूप भगवद्गीता में इन सभी मतों के समन्वय का प्रथम श्लाघ्य प्रयत्न परिलक्षित होता है। परस्पर सहिष्णुता के भाव के विकास के कारण ही यह सम्भव हो सका। इसके बाद सहिष्णुता और समन्वय के फलस्वरूप ही यहाँ दीर्घकाल तक पौराणिक संस्कृति का विकास हुआ, जो कि भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। भागवतकार ने न केवल उपर्युक्त वेदानुवर्ती या मध्यममार्गी, अपितु वेदविरोधी बौद्ध और जैन सिद्धान्तों का भी अपने ग्रन्थ में समावेश किया है। विष्णु के दस अवतारों में बुद्धदेव और चौबीस अवतारों में जैनों के आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव भी समाविष्ट हैं। ''कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'' यहाँ बुद्धदेव की वाणी मुखरित होती प्रतीत होती है। गीतगोविन्दकार जयदेव गाते हैं — ''केशव धृत बुद्धशरीर जय जगदीश हरे''। प्रत्येक सनातनी धार्मिक कृत्यों के प्रारम्भ में संकल्प वाक्य का उच्चारण करता हुआ कहता है — ''बौद्धावतारे''। यदि कोई यह कहता है कि विष्णु के दस अवतारों में परिगणित बुद्धदेव बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध से भिन्न हैं, तो यह उस पर आर्यसमाज का ही प्रभाव माना जायगा। आजकल यह फैशन चल पड़ा है कि बौद्ध धर्म को भारतवर्ष से बाहर कर दिया गया। हम पूँछना चाहते हैं कि मलयेशिया और इण्डोनेशिया में बौद्ध धर्म क्यों नामशेष हो गया?

भारतीय संस्कृति ने आज हिंसाप्रधान वैदिक कर्मकाण्ड को भी छोड़ दिया है और बौद्ध धर्म की उन उपासना-विधियों को भी, जिनके कि असंगत आचरण से बौद्ध धर्म में स्वयं ही विदेशी प्रभाव के आगे टिक सकने की शक्ति शेष नहीं रह गयी थी। इसके विपरीत वैदिक,

औपनिषद, जैन, बौद्ध और पौराणिक संस्कृति के संमिलित उत्कृष्ट उपादानों से बनी भारतीय संस्कृति एक हजार वर्ष की विपरीत परिस्थितियों का सामना करते हुए आज तक टिकी रही और आज स्वतन्त्रता की साँस ले रही है।

इन संकटपूर्ण घड़ियों में भारतीय संस्कृति सन्तों की अमृतमयी वाणी से अपनी जीवनी शक्ति अर्जित करती रही है। सन्त कबीर, जायसी, अमीर खुसरो, रसखान और अनेकों सूफी सन्तों ने, अकबर और दाराशिकोह जैसे राजपुरुषों ने इस्लाम का भारतीयकरण करने में पूरा योगदान दिया है। आगरा का ताजमहल हो या बीजापुर का गोलगुम्बद, इस्लामिक संस्कृति के साथ ये हमारी भावात्मक एकता के प्रतीक हैं। हिन्दु और मुसलमानों ने कंधे से कंधा मिलाकर भारतीय स्थापत्यकला, संगीत और चित्रकला का विकास किया है और स्वातन्त्र्य-संग्राम का संचालन भी किया है। पाश्चात्त्य संस्कृति और विज्ञान का प्रभाव तो आज पूरे भारत में स्पष्ट ही परिलक्षित हो रहा है।

इस प्रकार आज की भारतीय संस्कृति के अजस्र प्रवाह में वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, पौराणिक, सन्त, इस्लाम और पाश्चात्त्य संस्कृति की धाराओं का जल मिल कर बह रहा है। इन सभी धाराओं के साथ सम्पूर्ण भारतीय जनमानस में भावात्मक एकता स्थापित होने के बाद ही अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकेगा और तभी देश में एक राष्ट्रीयता का विकास होगा। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद क्या इस दिशा में कुछ कार्य हुआ है?

संस्कृति की दो प्रकार की परिभाषाएँ की जाती हैं। एक व्यापक अर्थ में और दूसरी सीमित अर्थ में। पहले अर्थ में मानव के द्वारा निर्मित आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक विश्व का संस्कृति में समावेश किया जाता है, तो दूसरे में केवल मानव की भौतिक उन्नति का। इसी को हम संस्कृति के आध्यात्मिक और भौतिक पक्ष कह सकते हैं। किसी भी संस्कृति में आत्मा और विश्व के संस्कार की प्रक्रिया साथ-साथ ही चलती है, तो भी किसी में आध्यात्मिक और किसी में भौतिक पक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता है। बाह्य विश्व के उपभोग या भौतिक प्राप्ति को प्रधानता देना भौतिक संस्कृति का लक्षण है। इसी अर्थ में आधुनिक पाश्चात्त्य संस्कृति को भौतिक कहा जाता है। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति आत्मा की, मानव की मानसिक उन्नति की ओर विशेष रूप से दत्तचित्त है। इसीलिये भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक कही जाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि पाश्चात्त्य संस्कृति में आध्यात्मिक और भारतीय संस्कृति में भौतिक अंश हैं ही नहीं, ''प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'' इस न्याय के अनुसार उक्त परिभाषा में केवल उनकी विशेषता की ओर इंगित मात्र किया गया है।

वर्तमान समय में भारतीय, चीनी, यूरोपीय और इस्लामिक आदि ऐसी संस्कृतियाँ विद्यमान हैं, जिनकी पूर्व परम्परा सैकड़ों-हजारों वर्षों की है। इन संस्कृतियों की वृद्धि अविच्छिन्नतया निकटवर्ती पारस्परिक साहचर्य एवं सहयोग से नहीं हुई। इनका प्रारम्भिक विकास पृथक्-पृथक् रूप से हुआ है। अतएव इनमें विरोधी विशेषताओं का निर्माण हुआ। उक्त विशेषताओं के कारण ये संस्कृतियाँ परस्पर सामंजस्य के साथ निर्वाह नहीं कर पा रही हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण स्वतन्त्र अहंकारों तथा अभिनिवेशों का निर्माण हुआ है।

उक्त सारी संस्कृतियाँ आज पूर्णतया परस्पर सम्पर्क में आयी हैं। विश्व के सभी राष्ट्रों और समाजों के आर्थिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक व्यवहार आजकल अभेद्य रूप से आपस में गुँथे हुए हैं। पाश्चात्त्य संस्कृति आज संसार के सभी राष्ट्रों तथा समाजों के एकत्र संमिलन का कारण बनी है। अपने यातायात के साधनों तथा व्यापार की पद्धति के कारण यह संस्कृति समूचे संसार को एक जगह ले आयी है। यान्त्रिक संस्कृति ने गत तीन सौ वर्षों में मानव जीवन में क्रान्ति कर दी है। अब उस संस्कृति ने सब सुसंस्कृत राष्ट्रों के अन्तरंग में प्रवेश किया है। गत तीन सौ वर्षों में अप्रतिहत रूप से पाश्चात्त्य संस्कृति की प्रगति हुई है। उसने अन्य पुरानी संस्कृतियों को निष्प्रभ सा बना दिया है। खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा-लिपि, साहित्य-कला, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में भी आज पूरा विश्व पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित है।

यह पाश्चात्त्य संस्कृति भौतिक है, यह हमने अभी बताया है। विज्ञान की प्रगति के साथ इसका यह रूप इधर और भी प्रखर हुआ है। आध्यात्मिकता की इसने उपेक्षा सी कर दी है। इसलिये बीसवीं शताब्दी के मध्य में उक्त संस्कृति की अवनति के ही नहीं, विश्व के भी विनाश के अशुभ चिह्न दिखाई देने लगे हैं। इससे त्राण पाने का एकमात्र मार्ग इसमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण का समावेश करना ही है। इस संस्कृति में यह तत्त्व भारतीय संस्कृति से लिया जा सकता है। क्या शैव, क्या वैष्णव, क्या जैन, क्या बौद्ध — सभी भारतीय धर्म और दर्शन मानवमात्र के, अर्थात् समूची मानव-जाति के कल्याण को परमार्थ मानते हैं। भारतीय संस्कृति की मूलभूत प्रेरणा विश्वव्यापिनी है। विभिन्न दृष्टियों और संस्कृतियों में सहिष्णुता और समन्वय की भावना को जाग्रत् कर सकने के कारण ही यह सम्भव हो सका है। भारतीय संस्कृति के इस उज्ज्वल पक्ष का दर्शन पूरे विश्व को महात्मा गांधी ने न केवल विचारों से, अपितु अपने कार्यों और आचरण से भी कराया था।

भारतीय संस्कृति संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इस संस्कृति की वृद्धि करने में अनेकों मानव-वंश प्राचीन काल से संलग्न हैं। वर्तमान समय में भी यह निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर है। कतिपय परिवर्तन तथा क्रान्तियाँ इसके विकास की उज्ज्वल कड़ियाँ बनी हैं। संसार की विविध सभ्यताएँ इस संस्कृति में घुल-मिल कर एक हुई हैं। अन्य संस्कृतियों ने कुछ अंशों में अगर इसे उपकृत किया है, तो इससे उन्होंने बहुत कुछ पाया भी है। *वास्तव में भारतीय संस्कृति विश्व-संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।*

भारतवर्ष में विभिन्न जाति, धर्म और भावनाओं के अनुयायी जन बसते हैं। हिन्दु, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि धर्म तो इसी धरा की उपज हैं। ईशामसीह की मृत्यु के बाद प्राचीन यहूदी-धर्म के अनुयायियों ने यहाँ शरण ली थी। वैदिक धर्म के सहोदर जरथुष्ट्र धर्म के अनुयायी इस्लाम से प्रताड़ित होकर यहाँ शरण लेने आये थे। यूरोपियन आक्रान्ताओं के साथ ख्रीष्ट धर्म यहाँ आया, यह तो हाल की बात है। शताब्दियों पूर्व भी विजातीय व्यक्तियों से प्रताड़ित होकर ख्रीष्ट धर्म यहाँ आया था और केरल में आज भी उस सम्प्रदाय के अनुयायी शान्तिपूर्वक निवास कर रहे हैं।

इस प्रकार सहिष्णुता और समन्वय भारतीय संस्कृति के विशेष गुण हैं। सहिष्णुता इसका प्रकट गुण है और समन्वय की प्रक्रिया जाने-अनजाने मन्थर गति से चलती रहती है। भारतीय

संस्कृति की सहिष्णुता का यह ज्वलन्त उदाहरण है कि विभिन्न देश, काल और वातावरण में विकसित संस्कृतियाँ यहाँ निर्बाध रूप से रहती आयी हैं, जिनका कि वर्णन ऊपर के अनुच्छेद में हमने किया है। अभी हाल में चीनी तानाशाहों से पराभूत होकर आयी तिब्बती जन-संस्कृति यहाँ स्वतन्त्रता की साँस ले रही है। इस्लामी राज्यकाल में भी भारतीय संस्कृति के ये गुण उजागर थे, किन्तु राजदण्ड का सहारा लेकर चलने वाली भौतिक पाश्चात्त्य संस्कृति के प्रभाव से अंग्रेजों के शासन काल के प्रारम्भ में ही ये गुण धूमिल से होने लगे थे। न केवल पाश्चात्त्य संस्कृति, किन्तु उसके राजनीतिक चंगुल में फँसी इस्लामिक संस्कृति भी भारतीय संस्कृति को पुन: तहस-नहस कर देने में लग गयी थी। इन आक्रमणों से भारतीय संस्कृति को बचाने के लिये किये गये राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, बाल गंगाधर तिलक, योगी अरविन्द आदि महापुरुषों के प्रयत्नों से हम सभी परिचित हैं। इन महानुभावों ने न केवल बाह्य आक्रमण से, अपितु कालविपाक से आये दोषों से भी भारतीय संस्कृति को उन्मुक्त करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

भारत में दो तरह की दृष्टियों का साथ-साथ विकास हुआ है। एक दृष्टि है ब्रह्मसूत्र की, जिसमें अपने सिवाय सबको नकार दिया गया है। दूसरी दृष्टि है भगवद्गीता की, जिसमें सांख्य और योग को ही अभिन्न नहीं बताया गया, अपितु उस समय प्रचलित सभी दृष्टियों में समन्वय स्थापित करने का भी स्तुत्य प्रयास किया गया है। भगवत्पाद शंकराचार्य ने पहली दृष्टि का समर्थन किया। जाने-अनजाने स्वामी दयानन्द ने भी अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद की पद्धति से ही अवैदिक मतों की समालोचना की, जब कि दक्षिण के शैव और वैष्णव सन्तों ने और उत्तर के सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं ने दूसरी दृष्टि को श्रेयस्कर माना। आगम और तन्त्रशास्त्र की पृष्ठभूमि में ही यह सब कुछ हो सका। वे भगवान् बुद्ध और महावीर के सार्वभौम उपदेशों को स्वीकार करने में परहेज नहीं करते। वैष्णव और शैव आगमों ने इस ओर क्रान्तिकारी कदम उठाये। न जाने क्यों भारतीय समाज में यह दृष्टि धूमिल हो गयी। बौद्ध दृष्टि के साथ समाज ने तन्त्रागम शास्त्र की समन्वयवादिनी दृष्टि को भी नकार दिया। आज हम वैदिक और तान्त्रिक दोनों धर्मों की अच्छाइयों को भुला बैठे हैं और कालक्रम से प्रविष्ट उनकी बुराइयों से चिपके हुए हैं। तान्त्रिक रहस्यवाद फिर समाज को भ्रमित करने लगा है और वैदिक दृष्टिकोण अपने संकीर्ण घेरे से हमें बाहर नहीं निकलने देता। इन दोषों से मुक्ति हम तभी पा सकते हैं, जब कि वैदिक और तान्त्रिक दृष्टि में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया जाय।

कुछ भद्रपुरुष संस्कृति शब्द पर ही आपत्ति करते हैं। उनका कहना है कि यह एकदम पश्चिम का शब्द है, जो 'कल्चर' का अनुवाद होकर आया है। भारतीय साहित्य में इस शब्द का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। इसके स्थान पर कृष्टि शब्द के प्रयोग की भी कुछ लोग सिफारिश करते हैं। गीता के शब्दों में इस पर इतना ही कहा जा सकता है कि ज्ञान-सरीखी कोई पवित्र वस्तु नहीं है। (नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते)। ज्ञान कहीं का भी रहे, वह ग्राह्य होना चाहिये। हाँ, इतना जरूरी है कि उसका सचेत अध्ययन किया जाय। 'संस्कृति' शब्द पूरे विश्व को जोड़ने वाला शब्द है। इसमें यदि हम भारतीयता के उपादानों का भी समावेश करें, तो एक विश्वसंस्कृति का निर्माण हो सकता है। यह बात भी सही नहीं है कि इस शब्द का प्रयोग भारतीय

साहित्य में कहीं नहीं हुआ। प्राय: वर्तमान अर्थ में ही यह शब्द शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता में—''सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा''(७.१४) में मिलता है। ''यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'' (३२.८) विश्वभारती, का यह आदर्श वाक्य भी वहीं से लिया गया है। मीमांसाशास्त्र में कर्मभेद के विवरण में भी संस्कृति के साथ विकृति शब्द भी प्रयुक्त है। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद की अन्य संहिताओं में भी इस शब्द की उपस्थिति की सूचना मिलती है। इस स्थिति में संस्कृति के स्थान पर कृष्टि शब्द के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। *इतना अवश्य समझ लेना चाहिये कि मात्र संगीत, नृत्य, स्थापत्य, चित्र आदि कलाओं का ही इसमें समावेश नहीं होता, प्रत्युत नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों तथा परम्पराओं का भी इसमें अनिवार्य रूप में समावेश किया जाता है। इस दृष्टि से देखने पर संस्कृति का एक ही दोष हमारी नजर में आता है कि प्राय: प्रत्येक धर्म के अनुयायी को अपने धर्म के लोप का खतरा इसमें दीखने लगता है।*

भारतीय संस्कृति पर हिन्दी भाषा में भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, किन्तु उनमें कहीं भी आगम-तन्त्रशास्त्र के अवदान की चर्चा नहीं आई। सिद्धों, नाथों और सन्तों के अवदान को वहाँ इस रूप में प्रस्तुत किया गया है, जैसे कि उनका अपनी पुरातन परम्परा से कोई सरोकार न हो। इसका कारण यह है कि विगत सौ-ड़ेढ सौ वर्षों में हुए सुधारवादी आन्दोलन ने इसकी ओर से आँखें मूँद ली हैं। यहाँ प्रत्यभिज्ञा दर्शन की अपेक्षा वेदान्त और बौद्ध दर्शन को वरीयता दी गयी है एवं पूरी ताकत से तन्त्रशास्त्र की निकृष्टता को उजागर किया गया है। इसमें एकमात्र अपवाद है योगी अरविन्द। आगम-तन्त्रशास्त्र के अध्ययन को नयी दिशा देने का प्रमुख श्रेय महामनीषी श्री श्री गोपीनाथ कविराज के खाते में जाता है, जिन्होंने तन्त्रशास्त्र के उत्कृष्ट अवदानों को उजागर कर, पूरी भारतीय परम्परा में इस टूटी हुई कड़ी को जोड़कर अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त किया है। *हमारा निश्चित मत है कि पुराणों पर और वर्तमान सभी भारतीय धर्मों पर वेदों की अपेक्षा आगम-तन्त्रशास्त्र का अधिक गहरा प्रभाव है।* इस प्रभाव की अनदेखी कर किया गया वेदों का और मनुस्मृति जैसे धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन ही भारतीय संस्कृति पर ब्राह्मणवादी और मनुवादी होने जैसे अनर्गल आक्षेपों के लिये जिम्मेदार है। इसी के सहारे भारतीय प्रजा को भ्रमित कर धर्मनिरपेक्षता के झण्डे तले जुटाने का जतन किया जा रहा है। भारतीय संस्कृति पर यह एक प्रकार का अपसंस्कृति का हमला ही माना जायगा।

भारतीय संस्कृति के अभिनव स्वरूप के निर्धारण की प्रक्रिया में आयी एक बुनियादी त्रुटि की ओर भी हम विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं कि बौद्ध दृष्टि को यहाँ जरूरत से ज्यादा स्थान मिल गया है और जैन दृष्टि को एक तरह से आँख ओझल कर दिया गया है। अहिंसा का उपदेश जैन धर्म की विशेषता है। वैष्णवों ने भी इसे स्वीकार किया। वर्तमान काल में गुजरात में प्रभावी इन दोनों धर्मों के प्रभाव से ही महात्मा गांधी की अहिंसा उपजी है।

सर्वधर्मसमभाव एक अच्छा शब्द है, किन्तु महात्मा गांधी के अनुयायियों ने इसका एक ही अर्थ समझा है कि सभा-संमेलनों के प्रारंभ में सभी धर्मों के पुरोधाओं को एकत्र कर प्रार्थना की जाय। क्या इतने मात्र से सभी धर्मों में परस्पर सद्भावना आ पाई है? इसके लिये तो गंभीरता से एक-दूसरे के विचारों के आदान-प्रदान की, तर्कपद्धति से प्रत्येक मजहब के गुण-दोषों की

समीक्षा अपेक्षित है। क्या वैदिक, क्या जैन, क्या बौद्ध — सभी धर्मों और दर्शनों में खण्डन-मण्डन और शास्त्रार्थ की पद्धति से सैकड़ों वर्षों तक विचारों का आदान-प्रदान होता रहा है। क्या आज के मजहबी घरौंदों में यह संभव है? *सर्वधर्मसमभाव की वास्तविक प्रतिष्ठा तो तब हो सकती है, जब कि धर्मान्तरण पर पूरी तरह से रोक लगा दी जाय और विभिन्न वर्गों में सही समालोचना को सुनने-समझने की मनोवृत्ति जाग सके। जब तक यह संभव नहीं होता, तब तक के लिये हमें सर्वधर्मसद्भाव (संमान) शब्द तक ही सीमित रहना चाहिये।*

इन पंक्तियों के लेखक का यह निश्चित मत है कि भारतीय धर्म, दर्शन और तदाधारित संस्कृति के नूतन स्वरूप का निर्धारण एक हजार वर्ष पहले कश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित प्रत्यभिज्ञा शास्त्र की पृष्ठभूमि में ही किया जाना चाहिये। जब तक ऐसा नहीं होता, अपसंस्कृतियों के प्रभाव से भारत मुक्त नहीं हो सकता।

भारतीय संस्कृति पर हो रहे हर तरह के मिथ्या आक्षेपों के परिहार के लिये हमने समय-समय पर अखण्ड भारतीय संस्कृति के नये आयामों को उजागर करने वाले निबन्धों की रचना की थी। ऊपर चर्चित सभी विषयों की इनमें विस्तार से चर्चा की गई है। वे सब निबन्ध उसी रूप में प्रकाशित न हो सके। इस त्रुटि के परिहार के लिये ही यहाँ उनमें से कुछ चुने हुए निबन्धों को वर्गीकृत कर प्रकाशित कराया जा रहा है। आगम-तन्त्रशास्त्र, पुराण और तदनुप्राणित समस्त भारत के सन्तों की वाणी की पृष्ठभूमि में इनकी रचना की गई है। यहाँ संस्कृत भाषा और संस्कृत शिक्षा से संबद्ध निबन्धों का भी संग्रह किया गया है। वह इस अभिप्राय से कि इस देश में संस्कृत भाषा की प्रतिष्ठा के बिना अखण्ड भारतीय संस्कृति की भी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। अभी तो देश की स्थिति यह है कि संस्कृत तो दूर की बात, संस्कृति के सशक्त वाहक टेलीविजन जैसे साधन हिन्दी भाषा को ही बिगाड़ने पर उतारु हैं।

भारतीय संस्कृति पर किये जा रहे अपसंस्कृति के आक्रमणों को निष्प्रभावी बनाने में यह ग्रन्थ समर्थ है या नहीं? इसका निर्णय तो पाठक ही कर सकते हैं ।।

वाराणसी
माघपूर्णिमा, संवत् २०५३

विद्वद्वशंवद
व्रजवल्लभ द्विवेदी

✻✻✻

विषय-सूची

***

भारतीय संस्कृति के नये आयाम

प्रथम परिच्छेद

संस्कृत भाषा व भारतीय संस्कृति

- संस्कृत और भारतीय संस्कृति का भविष्य
- संस्कृत शिक्षा का व्यापक दृष्टिकोण
- व्याधि-जराग्रस्त संस्कृत शिक्षा
- क्या संस्कृत शिक्षा संकीर्णता से बाहर निकलेगी ?

संस्कृत और भारतीय संस्कृति का भविष्य

प्राचीन संस्कृत शिक्षा की विशेषता

'तुनोक्तमपि नोक्तम्' किसी ग्रन्थ की इस पंक्ति के परस्परविरोधी-से प्रतीत हो रहे अर्थ को न समझ पाने के कारण अध्यापक परेशान थे। अध्यापन बन्द कर वे चिन्तामग्न हो उठे और कक्षा छोड़ बाहर चले गये। कुशाग्र बुद्धि शिष्य ने अध्यापक की परेशानी भाँप ली और उसने गुरु की अनुपस्थिति में ग्रन्थ में इस प्रकार संशोधन कर दिया — 'तुनोक्तमपिनोक्तम्' (तुना उक्तम्, अपिना उक्तम्)। थोड़ी देर बाद अध्यापक ने ग्रन्थ को पुनः देखा और उसको पंक्ति का अर्थ स्पष्ट हो गया। ग्रन्थ का संशोधन करनेवाले शिष्य को अध्यापक ने 'गुरु' पदवी से विभूषित किया। अध्यापक थे प्रसिद्ध मीमांसक भट्ट कुमारिल और शिष्य थे प्रभाकर भट्ट, जिनका दार्शनिक सिद्धान्त बाद में 'गुरुमत' के नाम से प्रख्यात हुआ।

यह कथा यहाँ इस अभिप्राय से उद्धृत की गयी है कि प्राचीन संस्कृत शिक्षा की यह विशेषता रही है कि उसमें 'तु' और 'अपि' शब्द का प्रयोग भी बहुत सावधानी से किया जाता था और अध्यापक इनका निगूढ़ अभिप्राय शिष्यों को पारम्परिक रूप से समझाता चला आ रहा था। प्राचीन भाषा के वास्तविक अर्थ और अभिप्राय को समझते रहने के लिये शिक्षा की यह पद्धति नितान्त आवश्यक है। किसी भी प्राचीन अथवा नवीन भाषा के निगूढ़ अभिप्राय को समझने के लिये इसी पद्धति से सहारा मिल सकता है। यही नहीं, प्राचीन ग्रन्थों के शुद्ध संस्करणों को प्रस्तुत करने के लिये भी इस पद्धति की आवश्यकता है। आज प्राचीन पद्धति के विद्वान् ग्रन्थ-सम्पादन की नवीन विधि से परिचित नहीं हैं और नवीन पद्धति के विद्वान् पंक्तियों पर अपना ध्यान केन्द्रित न कर पा सकने के कारण इन ग्रन्थों का संशोधन ठीक से नहीं कर पाते। इस प्रकार केवल शास्त्रों की रक्षा और परिष्कार के लिये ही नहीं, नवीन ज्ञान-विज्ञान और नवीन अनुसंधान की उद्भावना के लिये भी संस्कृत की प्राचीन और नवीन उभय शिक्षापद्धतियों के आनुपातिक सुचारु समन्वय की आवश्यकता है।

इसकी कुछ त्रुटियाँ

प्राचीन पद्धति की संस्कृत शिक्षा भी, जिन शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन प्रचलित है, उनकी रक्षा करने में तो यथाकथंचित् समर्थ हुई है, किन्तु वेद ही नहीं, प्राचीन शिल्प, कला आदि के, जिनका कि संस्कृत की शिक्षा पद्धति से ही नहीं, आधुनिक समाज से भी

संबन्ध छूट गया है, पारिभाषिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने में असमर्थ रही है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का द्वितीय अध्याय, जिसमें नाट्यशाला के निर्माण की विधि बतायी गयी है, अग्निपुराण के शिल्पशास्त्रीय प्रकरण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण का चित्र प्रकरण आदि ऐसे स्थल हैं, जिनके कि स्पष्ट अभिप्राय को समझने का हमें अभी प्रयत्न करना है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के चतुर्थ अंक में अभिनय के लिये प्रासंगिक अनेक निर्देश दिये गये हैं। उनका अभिप्राय आज दुरूह हो चुका है। संस्कृत वाङ्मय की अनेक शाखाएँ आज उपेक्षित पड़ी हैं।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ आदि प्राचीन विद्वान् अष्टादश भाषा और अनेक लिपियों के विशेषज्ञ रहे हैं। ऐसा भी समय आया कि ब्राह्मी और खरोष्ट्री आदि प्राचीन लिपियों को पढ़ पानेवाले इस देश में नाम-शेष हो गये। आज भी संस्कृत विश्वविद्यालय और उसके प्रसिद्ध पुस्तकालय सरस्वती भवन में एक-दो व्यक्तियों को छोड़कर आधुनिक अथवा प्राचीन भारतीय लिपियों को पढ़ पाने की उत्कंठा भी किसीमें नहीं जागी है। प्राचीन शिलालेखों और मुद्रालेखों के पढ़ने का काम आज नवीन पद्धति ने सँभाल लिया है, किन्तु वहाँ कठिनाई यही है कि पंक्ति-पाण्डित्य के अभाव में वे कभी-कभी अर्थ का अनर्थ कर बैठते हैं। आज से ८०-९० वर्ष पूर्व राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में इसकी व्यवस्था थी। विश्वविद्यालय बन जाने के बाद इन सभी उपेक्षित विषयों के अध्ययन और अनुसन्धान की यहाँ व्यवस्था होनी चाहिये थी। संस्कृत शिक्षा की उक्त समस्याओं के समाधान करने की मंशा से ही स्वर्गीय डाक्टर सम्पूर्णानन्दजी ने संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की थी।

संस्कृत शिक्षा का केन्द्रीय सूची में समावेश

संस्कृत शिक्षा के सामने सबसे बड़ी बाधा यह है कि संस्कृत शिक्षा को भी प्रान्तीय विषय बना दिया गया है। प्रत्येक राज्य की संस्कृत शिक्षा की अपनी व्यवस्था है और दूसरे राज्य की संस्कृत शिक्षा के साथ इसका सम्पर्कसूत्र जोड़नेवाली कोई कड़ी नहीं है। फलत: संस्कृत शिक्षा में भी आज प्रान्तीय भाषाओं की संकीर्णता ने प्रवेश कर लिया है और उसका अखिल भारतीय स्वरूप लुप्त होता जा रहा है। यह संकीर्ण भावना कमोबेश सभी राज्यों की संस्कृत संस्थाओं में अपना प्रभाव दिखला रही है। दूर दक्षिण भारत के किसी कोने में भी पहले संस्कृत भाषा के माध्यम से सम्पर्क बनाया जा सकता था, किन्तु अब नागरी लिपि के साथ संस्कृत भाषा और शिक्षा को भी तमिलनाडु से जबरदस्ती निकाला जा रहा है। परिणामत: केवल तमिलनाडु में ही नहीं, पूरे देश में एक राष्ट्रीयता की भावना शिथिल पड़ती जा रही है। देश में एक राष्ट्रीयता और एक संस्कृति के विकास के लिये यह आवश्यक है कि संस्कृत शिक्षा को प्रान्तीय विषयों की सूची से निकालकर केन्द्रीय सूची में शामिल किया जाय और प्रत्येक राज्य की शिक्षा में इसका अनिवार्य रूप से समावेश हो।

केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय

यह कार्य जब तक सम्पन्न नहीं हो जाता, तब तक के लिये केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना से ही इसकी कुछ अंशों में क्षतिपूर्ति हो सकती है। वाराणसी के दैनिक 'आज' ने अपनी सम्पादकीय टिप्पणी में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय को ही केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में परिणत करने का सुझाव दिया था। अन्य प्रबुद्ध पाठकों ने भी इसी वृत्तपत्र में प्रकाशित अपने पत्रों में इस विचार को आगे बढ़ाया है कि केन्द्रीय संस्कृत संस्थान के द्वारा चलाये जा रहे विद्यापीठों एवं वहाँ की परीक्षा को इसी विश्वविद्यालय से जोड़ दिया जाय। ऐसा करने से सरकार को आर्थिक बचत भी होगी।

क्षेत्र विस्तार अपेक्षित

संस्कृत विश्वविद्यालय तथा पाठशालाओं में प्राचीन शिक्षापद्धति जिस रूप में विद्यमान है, उसके क्षेत्र विस्तार की तथा जो कुछ हमारे पास है, उसको ईमानदारी से शिष्यों को सौंपने की जिम्मेदारी का बोध होना अत्यन्त आवश्यक है। थोड़े से छात्र ही मनोयोगपूर्वक इस ओर लगे हैं। इस प्रकार का वातावरण बनाने की आवश्यकता है कि अधिकाधिक छात्र इस ओर आकृष्ट हों। यहाँ व्याकरण का अध्ययन प्राचीन अथवा नवीन पाणिनि व्याकरण तक ही सीमित है। इसके लिये आवश्यक है कि संस्कृत की सभी पाणिनि-भिन्न व्याकरण-शाखाओं के परिज्ञान के साथ आधुनिक भाषाविज्ञान से भी इन छात्रों को परिचित कराने वाले प्रवचनों की यहाँ नियमित व्यवस्था करायी जाय। साहित्य के अध्यापन के साथ पाश्चात्त्य आलोचना शास्त्र का, वेदान्त के साथ मेटाफिजिक्स का, वैशेषिक दर्शन के साथ भौतिक विज्ञान और रसायन शास्त्र का, न्याय के साथ तर्कशास्त्र का और धर्मशास्त्र के साथ आधुनिक विधिशास्त्र का समन्वित अध्ययन भी अपेक्षित है।

आज देश में अनेक चिकित्सा पद्धतियाँ प्रचलित हैं। इन सबमें समन्वय स्थापित कर देश में केवल एक भारतीय चिकित्सा पद्धति ही चलनी चाहिये, जिसमें सभी चिकित्सा पद्धतियों की विशेषताओं का समावेश हो। इस चिकित्सा पद्धति का मूल आधार आयुर्वेद हो सकता है। आज आवश्यकता है कि आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्रतिपादित दिनचर्या वाले प्रकरणों का सामान्य भारतीय स्वास्थ्य शिक्षा में समावेश हो। आयुर्वेद के ग्रन्थों में चिकित्सकों के आवश्यक कर्तव्यों का निर्देश है। आजकल के मेडिकल कालेजों के पाठ्यक्रम में इनका समावेश अविलम्ब होना चाहिये। साथ ही आयुर्वेद में भी आधुनिक चिकित्सा पद्धतियों की विशेषताओं का समावेश निःसंकोच किया जाना चाहिये। तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में रसायन विद्या के साथ अन्य अनेक चिकित्सकीय प्रयोग भी उपलब्ध हैं। इनका आयुर्वेद के साथ अनुसन्धानात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। उपयुक्त प्रयोगशाला के माध्यम से ही यह कार्य सम्पन्न हो सकता है।

आज का विज्ञान गणित और खगोल विद्या में समन्वय स्थापित कर चन्द्रमा तक पहुँच चुका है। हमारा ज्योतिष ज्ञान स्थिर है। स्वर्गीय डाक्टर सम्पूर्णानन्द के प्रयत्न से संस्कृत विश्वविद्यालय के साथ एक आधुनिक वेधशाला स्थापित हुई थी, किन्तु अब वह नैनीताल चली गयी है और इसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। छोटी दूरबीन के यहाँ स्थापित होने की बात थी, किन्तु अब उसकी कोई चर्चा नहीं सुनाई पड़ती। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर की भावना का अनुसरण कर आज हमें भारत के गणित और सिद्धान्त ज्योतिष का आधुनिक गणित और खगोल विद्या के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिये।

हमें यह यह भी देखना है कि प्राचीन राजशास्त्र और अर्थशास्त्र का आन्वीक्षिकी के साथ संबन्ध जोड़ने की धुन में क्या कामन्दकीय नीतिसार और उसकी टीका उपाध्यायनिरपेक्षा का नव्य न्याय की परिष्कार पद्धति से अध्ययन करने मात्र से हम अमेरिकी राष्ट्रपति की परराष्ट्रनीति के निर्माता डाक्टर हेनरी किसिंगर के भू-मण्डलीय शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त के चक्रव्यूह से पूरे विश्व की बात तो क्या, अपने देश को भी बचा सकेंगे? आज आवश्यकता है कि उपलब्ध सभी नीति-ग्रन्थों के अतिरिक्त पुराणों और विशेषकर महाभारत में वर्णित कणिक, विदुर, भीष्म आदि के राजनीतिक सिद्धान्तों के साथ भारतीय वाङ्मय की बौद्ध और जैन शाखाओं में एवं महाकाव्यों में वर्णित पूरे राजनीति शास्त्र का पाश्चात्त्य राजनीतिक सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक अध्ययन कर नवीन भारतीय राजनीति की प्रतिष्ठा की जाय।

अन्य भारतीय कलाओं और विद्याओं के साथ भारतीय वास्तुविद्या, स्थापत्यकला भी अब नामशेष होने जा रही है। गुजरात, उड़ीसा और दक्षिण भारत में भारतीय स्थपतियों के वंशज स्वतन्त्र भारत में भी घुटन-भरा जीवन बिता रहे हैं।

अखण्ड भारतीय संस्कृति

पारसी धर्मग्रन्थ जेन्दावेस्ता की भाषा का ऋग्वेदिक भाषा से अतीव साम्य है। मध्य-एशिया के बोगाजकोई स्थान पर उपलब्ध इष्टका-लेखों में इन्द्र, वरुण और नासत्य नामक वैदिक देवताओं का उल्लेख मिलता है। मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृति में मिस्र की प्राचीन सभ्यता से समानता मिलती है। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में बौद्ध धर्म के साथ शैव और वैष्णव धर्म का भी प्रचार हुआ। तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया और मंगोलिया में ही नहीं, आज रूसी गणतन्त्र के अधीन मरुभूमि में भी कभी बौद्ध धर्म और संस्कृति का व्यापक प्रभाव था और बहुत कुछ अंशों में अब भी है। प्राचीन पद्धति की संस्कृत शिक्षा के साथ इनका तादात्म्य होने पर ही सही माने में प्राच्य और पाश्चात्त्य, प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान के समन्वय के साथ देश में नवीन अखण्ड भारतीय संस्कृति का आविर्भाव हो सकेगा।

सांस्कृतिक राजधानी

कुछ विचारकों की कल्पना है कि दिल्ली जैसे देश की राजनीतिक राजधानी है, उसी भाँति सांस्कृतिक राजधानी का गौरव काशी को दिया जाना चाहिये। काशी अपने आपमें पूरे देश का प्रतिनिधित्व करती है। सभी राज्यों के प्रबुद्ध जन यहाँ निवास करते हैं। काशी के विभिन्न अंचलों में समूह रूप से बसी विभिन्न राज्यों की जनता को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि पूरा भारत सिमट कर यहाँ आ बसा है। देश की इस सांस्कृतिक राजधानी में स्थापित केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय ही देश में भावात्मक एकता, राष्ट्रीयता और एक संस्कृति के प्रसार का प्रेरणा-केन्द्र बने और इसी के अधीन देश की पूरी संस्कृत शिक्षा का संचालन हो, यह आवश्यक है। किन्तु यह प्रयोग सफल तभी हो सकता है जब कि काशी का शासन और इस विश्वविद्यालय का नियन्त्रण राजनीतिक वादों के प्रभाव और क्षुद्र संकीर्ण स्वार्थों से उन्मुक्त उदारचेता व्यक्तियों के हाथों में हो। तभी संस्कृत शिक्षा और भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल भविष्य की आशा की जा सकती है ॥

संस्कृत शिक्षा का व्यापक दृष्टिकोण

भारत में अपने राज्यकाल में अंग्रेज अधिकारियों ने संस्कृत भाषा को केवल पंडितों की भाषा बनाने का पूरा प्रयत्न किया और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये उसको उर्दू भाषा के साथ जोड़ दिया, जिसको कि अघोषित रूप में इन्होंने मुल्ला-मोलवियों की भाषा मान लिया था। ये लोग इन दोनों भाषाओं को धार्मिक आधार पर एक ही तराजू से तोलते थे और इसका पूरा ख्याल रक्खा जाता था कि जैसी सुविधा एक भाषा को दी जाय, वैसी ही सुविधा दूसरी भाषा को भी मिले। विशेषकर इसका पूरा ध्यान रक्खा जाता था कि शासन यदि संस्कृत को कोई सुविधा देता है, या उसके लिये कुछ करता है, तो उसी अनुपात में उर्दू भाषा के लिये भी किया जाय। शासकों के इस दृष्टिकोण के बावजूद विगत २०० वर्षों में यूरोपियन विद्वानों के अथक परिश्रम से, जिनमें कि अंग्रेज विद्वानों की संख्या भी काफी है, संस्कृत भाषा को विश्व की प्राचीनतम भाषा के रूप में अन्तरराष्ट्रिय मान्यता प्राप्त हुई है।

अंग्रेज अधिकारी अन्तरराष्ट्रिय क्षेत्र में तो संस्कृत भाषा के बढ़ते प्रभाव को रोक न सके, किन्तु भारत में अपने मानसपुत्रों के मन में ही नहीं, साधारण जनता में भी यह भ्रम फैला सके कि संस्कृत केवल पण्डितों की भाषा है। अपने क्षुद्र स्वार्थों की सिद्धि होते देख पण्डित-समुदाय के एक बड़े वर्ग ने भी आशंकित दुष्परिणामों को आँख ओझल कर, इस बात को प्रोत्साहन ही दिया, इसको रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। इस कार्य में इनको अंग्रेजों का ही नहीं, उनके मानसपुत्रों का भी पूरा सहयोग मिला। इसी का यह परिणाम

है कि स्वतन्त्र भारत में पचास वर्ष की लम्बी कालावधि के बाद भी जनमानस में संस्कृत के प्रति कोई विशेष अनुराग नहीं जागा है, इसके अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व को नहीं समझा है। आज विश्व की इस प्राचीनतम भाषा को धार्मिक आधार पर आधुनिकतम भाषा उर्दू के साथ जोड़ दिया गया है।

यह निर्विवाद सत्य है कि काशी चिरकाल से संस्कृत शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रही है और अब भी है। यहाँ की शिक्षापद्धति का पूरे देश की प्राचीन पद्धति की संस्कृत शिक्षाप्रणाली पर व्यापक प्रभाव है। पहले के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय तथा अब के संस्कृत विश्वविद्यालय को संस्कृत शिक्षा की नब्ज के रूप में परखा जा सकता है। यहाँ के यूरोपियन एवं भारतीय अध्यक्षों और विद्वानों का इसको अन्तरराष्ट्रीय भाषा बनाने में जिस प्रकार का प्रशंसनीय योगदान रहा है, उसी तरह इसको कोरे पण्डितों की भाषा बने रहने देने के लिये किये गये आन्दोलनों का संचालन भी यहीं से हुआ है।

संस्कृत की विश्वव्यापकता एवं उपयोगिता

विश्व का प्राचीनतम साहित्य इस भाषा में सुरक्षित है। इसी दृष्टि से पूरे विश्व में इसका अध्ययन होता है। इस अध्ययन के परिणामस्वरूप विगत २०० वर्षों में भाषाविज्ञान, देवताशास्त्र, नृवंशशास्त्र आदि ज्ञान की विभिन्न नवीन धाराओं का उद्भव और विकास हुआ है। यूरोपीय एवं भारतीय विद्वानों के अथक परिश्रम से संस्कृत भाषा के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में तुलनात्मक एवं समालोचनात्मक अध्ययन की एक नई पद्धति विकसित हुई है। इससे देश और विदेश में इस भाषा की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। विश्व की प्राच्य विद्याओं का अध्ययन इसके बिना अधूरा ही नहीं, असंभव है। इस प्रकार यह कहना उचित ही है संस्कृत के कारण भारत को अन्तरराष्ट्रीय गौरव प्राप्त हुआ है। इस भाषा में भारत की सांस्कृतिक एकता के ही नहीं, विश्वभारती शान्तिनिकेतन की आदर्श वाक्यावली के ''यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'' इस अंश के अनुसार पूरे विश्व की सांस्कृतिक एकता के भी बीज निहित हैं। इस भाषा के अध्ययन के लिये विश्व के अनेक देशों के विश्वविद्यालयों में संस्कृत विभाग, शोधसंस्थान तथा हस्तलेखों के पुस्तकालय स्थापित किये गये हैं और अभी कुछ वर्ष पहले तक यहाँ से देवनागरी लिपि में ग्रन्थों का प्रकाशन होता रहा है। इस प्रकार संस्कृत भाषा आज पूरी मानव जाति की थाती है। अध्यात्म, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, कला, दर्शन, साहित्य, भाषा आदि के क्षेत्र में सभी राष्ट्रों के संभूय-समुत्थान की जननी इस भाषा की विश्वव्यापकता और उपयोगिता में किसी को सन्देह नहीं रहना चाहिये।

संस्कृत शिक्षा का लक्ष्य

संस्कृत की विश्वव्यापकता एवं उपयोगिता के अनुरूप ही हमें संस्कृत शिक्षा का लक्ष्य निर्धारित करना चाहिये। आज देश में संस्कृत शिक्षा की दो तीन प्रणालियाँ प्रचलित हैं।

पूरे देश में फैली संस्कृत पाठशालाओं और संस्कृत विश्वविद्यालयों में एक प्रकार की, देश-विदेश के आधुनिक विश्वविद्यालयों और कलाशालाओं में दूसरे प्रकार की पाठ्यपद्धति से संस्कृत शिक्षा दी जाती है। आर्यसमाज द्वारा संचालित गुरुकुलों में भी संस्कृत शिक्षा की एक विशेष प्रणाली प्रचलित है। शास्त्रों के अध्ययनाध्यापन द्वारा प्राचीन ज्ञान का संरक्षण पहली पद्धति की विशेषता है, जब कि दूसरी पद्धति अनुसन्धान पर अधिक जोर देती है। तीसरी पद्धति अध्ययनाध्यापन की प्राचीन परम्परा में उपेक्षित कुछ विषयों के अध्ययन पर अधिक केन्द्रित है। इन तीनों पद्धतियों में समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि संस्कृत शिक्षा का लक्ष्य शास्त्रों में प्रौढ़ पाण्डित्य की प्राप्ति के साथ संस्कृत वाङ्मय की सभी शाखाओं का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक एवं समालोचनात्मक अध्ययन भी होना चाहिये। यह अध्ययन प्राचीन विषयों तक ही सीमित न रहकर प्राचीन शास्त्रों से सम्बद्ध आधुनिक विषयों को भी अपने में समेटने वाला हो। संस्कृत शिक्षा का लक्ष्य प्राचीन शास्त्रों की रक्षामात्र न होकर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की पृष्ठभूमि में प्राचीन विचारों की पर्यवेक्षा एवं नवीन उद्भावना भी होना चाहिये।

आज से १००-१५० वर्ष पहले काशी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय ने इस ओर लघु प्रयत्न किया था। तब पाश्चात्त्य दर्शन और विज्ञान के कुछ चुने हुए ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुए थे। संस्कृत विश्वविद्यालय ने भी अपने प्रारंभिक काल में सम्पूर्णानन्द ग्रन्थमाला के अन्तर्गत आधुनिक विषयों पर दो-चार संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित किये, किन्तु यह कार्य अब अवरुद्ध है। इस ओर विशेष रूप से प्रयत्न होना चाहिये।

प्रौढ़ पाण्डित्य एक गतिशील शब्द माना जाना चाहिये। आज प्रौढ़ पाण्डित्य की परिभाषा के अन्तर्गत प्राचीन शास्त्रों की पंक्तियों के स्पष्ट अर्थावबोध और विभिन्न प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्तों पर वादविवाद क्षमता द्वारा शास्त्रार्थ प्रणाली की संरक्षा के साथ प्राचीन और आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से ग्रन्थों का संपादन भी होना चाहिये। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये तदनुरूप शिक्षाप्रणाली का विकास अपेक्षित है। बहुश्रुतता प्रौढ़ पाण्डित्य का मुख्य आधार रही है। इस बहुश्रुतता का क्षेत्र अब केवल प्राचीन भारतीय ज्ञान ही न रहकर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान तक फैलना चाहिये।

केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित संस्कृत आयोग ने संस्कृत की विभिन्न शिक्षा प्रणालियों में धीरे-धीरे समन्वय स्थापित कर पूरे देश में एक ही प्रकार की संस्कृत शिक्षा प्रणाली के विकास पर जोर दिया था। जीविका को भी जब संस्कृत शिक्षा की लक्ष्यकोटि में रखा जाता है, तब इस समन्वित पद्धति के विकास की अतीव आवश्यकता है। यह इसलिये भी आवश्यक है कि देश में शिक्षाप्रणाली के भेद से विभिन्न दृष्टिकोणों वाली जीवनपद्धति या नागरिकता विकसित न हो। आज प्राचीन पद्धति से संस्कृत शिक्षा लेने वाले छात्र जीविका के अनेक क्षेत्रों से वंचित रह जाते हैं और आधुनिक पद्धति से पढ़े व्यक्तियों में संस्कृत शास्त्रों के संरक्षण

की क्षमता नहीं के बराबर विकसित होती है। इन समस्याओं का समाधान तभी संभव हो सकता है, जब कि संस्कृत विश्वविद्यालयों की ओर से यह समन्वय-प्रक्रिया चले। इसका आरंभ प्रथमा और मध्यमा परीक्षा से होना चाहिये।

संस्कृत शिक्षा की शोचनीय स्थिति

यह सही है कि प्राचीन प्रणाली की संस्कृत शिक्षापद्धति में आधुनिक विषयों का समावेश तो कर दिया गया है, किन्तु पाठशालाओं में ही नहीं, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों तक में उनके अध्यापन की समुचित व्यवस्था नहीं है। इस प्रणाली में जीविका के अधिक से अधिक क्षेत्रों की सुलभता की दृष्टि से नवीन विषयों का समावेश किया गया था, किन्तु अध्ययन की सुविधा के अभाव में यहाँ के स्नातक अपेक्षित योग्यता अर्जित नहीं कर पाते। इसी का यह दुष्परिणाम है कि मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के उपरान्त भी यहाँ के स्नातकों की संस्कृत महाविद्यालयों, संस्कृत विश्वविद्यालयों और संस्कृत पाठशालाओं के निरीक्षक के कार्यालयों तक में नियुक्ति नहीं हो पाती। दूसरी ओर, आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने उपरान्त भी ये परम्परागत पाण्डित्य से भी वंचित रह जाते हैं। एक ही अध्यापक सम्बद्ध विषय में आचार्य कक्षा पर्यन्त अध्यापन कराता है। फलत: उस बहुश्रुतता का उनमें अभाव रहता है, जो कि प्रौढ़ पाण्डित्य के लिये एक आवश्यक गुण है।

पाठशालाओं तथा पाठ्यपद्धति का पुनः संघटन

इस दोहरी हानि से बचने के लिये आवश्यक है कि माध्यमिक एवं उच्च स्तर पर शिक्षा का कार्यक्षेत्र विभाजित किया जाय। मध्यमा कक्षा तक की पाठ्यप्रणाली का पुनरीक्षण किया जाय और मध्यमा कक्षा तक की संस्कृत पाठशालाओं का तदनुरूप पुन: संघटन हो। संस्कृत पाठशालाएँ तेजी से अंग्रेजी पाठशालाओं तथा महाविद्यालयों में परिणत हो रही हैं। इस प्रकार के विद्यालयों को लेकर, जहाँ वे नहीं हैं वहाँ पर नये विद्यालयों की स्थापना कर, तथा एक ही स्थान के साधनहीन दो-तीन विद्यालयों के स्थान पर एक साधन-संपन्न विद्यालय स्थापित कर इनमें आधुनिक विषयों के अध्ययन की समुचित व्यवस्था की जाय तथा इन विद्यालयों के लिये इस प्रकार की पाठ्यपद्धति निर्धारित की जाय, जिससे कि शास्त्री और आचार्य परीक्षा के लिये छात्र तैयार हो सकें।

उच्च स्तर पर बहुप्रचलित विषयों के लिये कुछ चुने हुए महाविद्यालयों को ही मान्यता दी जाय, जिनमें कि मुख्य विषय से सम्बद्ध आधुनिक विषयों के अध्यापन की भी व्यवस्था हो। अनेक विषय संस्कृत की वर्तमान पठन-पाठन प्रणाली में उपेक्षित हो चुके हैं। इनके अध्यापन की और अनुसन्धान की विश्वविद्यालय में विशेष व्यवस्था की जाय। शास्त्री और आचार्य परीक्षा में अन्य विषयों का समावेश न कर संस्कृत वाङ्मय की कोई एक शाखा और तत्सम्बद्ध आधुनिक विषयों को लेककर पाठ्यक्रम बनाया जाय, जिससे कि आचार्य

परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने पर प्रौढ़ पाण्डित्य के साथ छात्र में तुलनात्मक समालोचना पद्धति का भी विकास हो सके और अपने विषय के आधुनिकतम विकसित स्वरूप का परिज्ञान हो सके।

इस पद्धति से प्रारंभिक स्तर पर जीविका के वे सभी द्वार यहाँ के छात्रों के लिये खुले रहेंगे, जो कि आधुनिक कलाशालाओं के छात्रों के लिये सुलभ हैं। ऊपर के स्तर पर जीविका के क्षेत्र तब खुलेंगे, जब कि प्रतियोगिता के आधार पर यहाँ के स्नातक प्रौढ़ पाण्डित्य की रक्षा के साथ ज्ञान के आधुनिक विकासक्रम में अपना योगदान किस प्रकार करते हैं? यह तभी सम्भव है, जब कि आधुनिक एवं प्राचीन प्रणाली में तालमेल बैठाया जाय। संस्कृत आयोग के सुझावों के अनुसार इसके लिये आवश्यक है कि उभयविध प्रणालियों के विशेषज्ञ विद्वानों का परस्पर अंशकालिक आदान-प्रदान किया जाय।

प्रशिक्षण

संस्कृत विश्वविद्यालय के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने यहाँ आधुनिक अनुसन्धान विधि एवं ग्रन्थ-संपादन पद्धति के प्रशिक्षण की भी शिक्षा दे। आधुनिक लिपि-विज्ञान तथा उत्खनन भी इसका अंग होना चाहिये। इनके अभाव में इस विश्वविद्यालय के अनुसन्धान और प्रकाशन का स्तर उन्नत नहीं हो सकता। आज-कल यहाँ जो प्रशिक्षण कक्षाएँ चलाई जा रही हैं, उससे इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। इस प्रणाली से केवल आधुनिक कलाशालाओं के लायक स्नातक ही यहाँ से निकल पाते हैं, उनकी संस्कृत पाठशालाओं के लिये भी कोई उपयोगिता नहीं है। इसका कारण यह है कि यह प्रशिक्षण विधि आधुनिक शिक्षापद्धति की केवल भोंड़ी नकल है। संस्कृत शिक्षा पद्धति की अपनी विशेषताओं को ध्यान में रखकर इसमें तदनुरूप परिवर्तन अपेक्षित है।

संस्कृत विश्वविद्यालय का विशाल दृष्टिकोण

यह सब तभी सम्भव है, जब कि संस्कृत विश्वविद्यालय का विशाल दृष्टिकोण हो। विश्वविद्यालय अधिनियम तथा अध्यादेश के अनुसार इस विश्वविद्यालय का कार्यक्षेत्र न केवल पूरा भारत, अपितु विदेशों तक विस्तृत है। संस्कृत पूरे विश्व की भाषा है। विश्वसंस्कृति के निर्माण में इसका महत्त्वपूर्ण अवदान हो सकता है। इस दृष्टि से किया गया उक्त निर्णय उचित ही है। इस विशाल दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर ही इसका संचालन होना चाहिये। ''काशी की सारस्वत साधना'' जैसे सन्दर्भ ग्रन्थों के देखने से मालूम होता है कि विगत एक हजार वर्ष के बीच काशी में विरचित साहित्य में ९० प्रतिशत अवदान उन विद्वानों का है, जिन्होंने कि देश के विभिन्न स्थानों से आकर काशी को अपना कार्यक्षेत्र बनाया था। आज संस्कृत शिक्षा में इन काशीवासी विद्वत्कुटुम्बों को प्रश्रय नहीं मिल रहा है। फलतः इनमें संस्कृत के पठन-पाठन की परम्परा छूटती जा रही है। विगत पचास वर्षों में यह गति

अधिक तीव्र हुई है। यदि यही स्थिति बनी रही तो काशी के इन विद्वत्कुटुम्बों की लम्बी परम्परा नामशेष रह जायगी और विभिन्न स्थानों से नये-नये विद्वत्समुदाय का काशी में आने वाला प्रवाह रुक जायगा ।।

●

व्याधि-जराग्रस्त संस्कृत शिक्षा

संस्कृत शिक्षा की दो पद्धतियाँ

देश में आजकल दो तरह की संस्कृत शिक्षा प्रचलित है — एक प्राच्य पद्धति की और दूसरी पाश्चात्त्य पद्धति की। दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। प्राच्य पद्धति जहाँ शास्त्रों की प्रत्येक पंक्ति और पदों के रहस्यों को खोलने में समर्थ है, वहीं पाश्चात्त्य पद्धति शास्त्रों के क्रमिक ऐतिहासिक विकास के तुलनात्मक अध्ययन में प्रवीण है। पहली शास्त्रों के अन्तरंग को समझने में अधिक समर्थ है, तो दूसरी बहिरंग को। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाय, तो पहली पद्धति से प्रशिक्षित व्यक्ति सांख्यकारिका, तर्कभाषा और वेदान्तसार को अलग-अलग बड़े मनोयोग से पढ़ा देगा, किन्तु यदि उससे इन तीनों ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का तुलनात्मक समालोचन प्रस्तुत करने के लिये कहा जाय, तो वह मानसिक तनाव में पड़ जायगा। इसी प्रकार दूसरी पद्धति से प्रशिक्षित व्यक्ति के सामने यदि किसी ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ाने की प्रार्थना की जाय, तो वह इस प्रसंग को अवश्य टाल जायगा।

पहली पद्धति संस्कृत भाषा के माध्यम से भाषण करने, शास्त्रार्थ करने, मूल ग्रन्थों पर टीका-टिप्पणी करने और संग्रहात्मक निबन्ध-ग्रन्थों के लिखने का उत्कृष्ट प्रशिक्षण देती है, तो दूसरी पद्धति व्यक्ति को प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन की विशिष्ट विधि में, अनुसन्धान के माध्यम से इतिहास की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने में और विभिन्न शास्त्रों के समन्वित अध्ययन में प्रवीण बनाती है। यह सही है कि टीका-टिप्पणियों और संग्रहात्मक तथा समालोचनात्मक निबन्ध ग्रन्थों के माध्यम से सामयिक प्रश्नों के समाधान के रूप में शास्त्रों का उत्तरोत्तर विकास और पूर्वपक्ष के रूप में विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन भी फला-फूला है, किन्तु यह सब एक परिधि के भीतर हुआ है। नैयायिक हो या मीमांसक, वैयाकरण हो या वेदान्ती, बौद्ध हो या जैन — सभी दार्शनिक विद्वानों ने पूर्वपक्ष के रूप में अन्य मतों को उद्धृत कर उनका खण्डन प्रस्तुत करते हुए अन्त में अपने-अपने सिद्धान्तों की ही सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की है। इनमें अनेक सिद्धान्त ऐसे हैं, जिनका कि आधुनिक विज्ञान ने एक स्वरूप निश्चित कर दिया है। उदाहरण के रूप में सुवर्ण का तेजस्त्व,वायु का गुरुत्व, चक्षु का प्राप्यकारित्व, शब्द की नित्यता आदि विषय लिये जा सकते हैं। पण्डितसमाज इस

प्रकार के विषयों पर अब भी शास्त्रार्थ करता और ग्रन्थ लिखता चला जा रहा है। प्राच्य पद्धति में शास्त्रों का खण्ड-खण्ड रूप में अध्ययन होता है, अखण्ड रूप में नहीं।

आज सम्पूर्ण भारतीय ज्ञान के ही नहीं, अपितु पूरे विश्व के समान कोटि के ज्ञान के साथ उसके तुलनात्मक अध्ययन की और उसके आधार पर नवीन तर्कों और नवीन सिद्धान्तों के उद्भावन की आवश्यकता है। यह कार्य उक्त दोनों पद्धतियों के समन्वित प्रयत्न के बाद ही सम्भव हो सकता है। प्रथम पद्धति में इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण का उदय नहीं हो पा रहा है और दूसरी पद्धति वाले इस अथाह सागर में बिना प्रवेश किये लहरों के थपेड़ों से जो कुछ किनारे लग जाता है, उसी को बटोर कर सन्तोष कर लेना चाहते हैं। पहली पद्धति की शिक्षा संस्कृत पाठशालाओं, महाविद्यालयों और संस्कृत विश्वविद्यालयों में तथा दूसरी शिक्षा आधुनिक स्कूल, कालेज और युनिवर्सिटियों में मिलती है।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद संस्कृत शिक्षा के भविष्य पर विचार करने की दृष्टि से भारत सरकार ने एक आयोग की स्थापना की थी। आयोग ने सर्वसम्मति से यह सुझाव दिया था कि वर्तमान समय में प्रचलित संस्कृत शिक्षा की दोनों पद्धतियों को नजदीक लाने का प्रयत्न अपेक्षित है। इसके लिये आयोग ने प्रथमत: यह सुझाव दिया था कि प्राचीन पद्धति के महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में आधुनिक पद्धति से प्रशिक्षित और आधुनिक पद्धति के कालेजों और विश्वविद्यालयों में प्राचीन पद्धति से प्रशिक्षित विद्वानों की प्रतीक रूप में नियुक्तियाँ की जाँय। यह प्राथमिक उपाय भी आज चरितार्थ नहीं हो पा रहा है।

प्राचीन पद्धति के विद्वान् नयी पद्धति की विशेषताओं को अधिक सरलता से हृदयंगम कर सकते हैं, इस अभिप्राय से मनीषिप्रवर स्व० डॉ० सम्पूर्णानन्द ने वाराणसी के राजकीय महाविद्यालय को संस्कृत विश्वविद्यालय का रूप दिया था। यह देश का पहला संस्कृत विश्वविद्यालय था। जाने-अनजाने ब्राह्मण समाज को संस्कृत भाषा का वाहक मान लिया गया है। इस समाज के परिष्कृत होने के बाद ही संस्कृत भाषा की शिक्षण-पद्धति का भी परिष्कार हो सकता है, इस अभिप्राय से इन्होंने ''ब्राह्मण सावधान'' लिखकर इस समाज में प्रविष्ट त्रुटियों की ओर इंगित किया, किन्तु रोग अधिक बढ़ चुका था। बिना इसका उपचार किये ही संस्कृत विश्वविद्यालय बना दिया गया। उसका फल हमारे सामने है।

संकीर्ण दृष्टि

भाषा को धार्मिक बाना पहनाना एक असंगत और आरोपित विचार है। दुर्भाग्य से भारत में संस्कृत और उर्दू भाषा को इसी दृष्टिकोण से देखा जाने लगा है। इससे अनेक विसंगतियाँ पैदा हो गई हैं। सबसे बड़ी विसंगति यह है कि दुनिया की सबसे पुरानी भाषा को सबसे नवीन भाषा के साथ एक ही तराजू पर तौलने की कोशिश की जाती है। धर्मनिरपेक्ष राज्य के लिये यह एक विडम्बना है। उपनिषदों के विश्वबन्धुत्व की, बुद्ध की महाकरुणा

और महावीर की तपस्या की भावना की वाहिका यह भाषा आज विश्वभाषा है। किसी संकीर्ण विचारधारा का वर्चस्व इस पर कथमपि मान्य नहीं होना चाहिये। संस्कृत भाषा त्याग और तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय की प्रतीक मानी जाती है। संस्कृत विश्वविद्यालय के संस्थापक की ही नहीं, समाज की भी यह आकांक्षा थी कि संस्कृत विश्वविद्यालय के माध्यम से भारतीय समाज में ये गुण पुन: प्रतिष्ठित होंगे, किन्तु हुआ इसके विपरीत है।

नैतिक अवनति

वैदिक कर्मकाण्डियों ने दो मये मन्त्रों की उद्भावना की है। एक है — ''छोरा रे वासन्ता, घी लेकर खिसकन्ता, स्वाहा''। पुरोहित का बटुक धुएँ से भरे यज्ञमण्डप से घी का कनस्तर लेकर चम्पत होने लगता है, तो उस पर एक ऋत्विक् की दृष्टि पड़ जाती है। अब पुरोहित जी दूसरा मन्त्र बोलते हैं — ''तवार्धं च ममार्धं च विघ्नं मा कुरु पण्डित ! स्वाहा''। सब ठीक-ठीक चलने लगता है। संस्कृत विश्वविद्यालय आज इसी मनोवृत्ति का शिकार है। कोई टोकने वाला नहीं है, तो पुरोहित अपनी मनमानी करता है। यदि कोई बीच में आ धमका तो ''तवार्धं च ममार्धं च'' होने लगता है। संस्कृत विश्वविद्यालय में अनुसन्धान संस्थान की स्थापना का मुख्य उद्देश्य उक्त दोनों पद्धतियों में समन्वय स्थापित करना रहा है, किन्तु 'तवार्धं च' के चक्कर ने उसको कभी संभलने ही नहीं दिया। कभी-कभी इस संस्थान को उखाड़ फेंकने की भी चर्चा चल पड़ती है। आज संस्कृत विश्वविद्यालय का अनुसन्धान और प्रकाशन दिशाहीन चल रहा है। अनेक व्याधियों से घिरी इसकी शिक्षण-पद्धति भी आज जराजीर्ण हो चुकी है। इसमें न तो प्राचीन पाण्डित्य को सुरक्षित रख सकने का सामर्थ्य ही शेष रहा है और न यहाँ पर आधुनिक अनुसन्धान पद्धति का पौधा ही पनपने पा रहा है। चारों तरफ अर्थ का पैशाचिक अट्टहास मात्र सुनाई देता है।

दैनिक 'आज' के प्रात:कालीन संस्करण में 'अग्निवेश' जी के आयुर्वेद की शिक्षा से सम्बद्ध सामयिक, वस्तुनिष्ठ और विचारोत्तेजक तीन लेख प्रकाशित हुए थे। आयुर्वेदिक स्नातकों की मनोदशा का विश्लेषण करते हुए इन्होंने आर्थिक विषमता को भी इसके लिये दोषी बताया था। आज संस्कृत विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों के सामने यह समस्या नहीं है। उनको वही वेतनमान मिलते हैं, जो कि किसी अन्य विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों को। इसके उपरान्त भी वे निरन्तर अर्थचिन्ता में ही डूबे रहते हैं। सुरभारती की आराधना के लिये उनको केवल भाषण-मंच पर ही समय मिलता है। वह संस्कृत पाठशालाओं के अभावग्रस्त विद्वानों को परीक्षक तक नहीं बनने देता। ऐसे किसी भी आर्थिक अवसर से अपने घेरे से बाहर के व्यक्ति को लाभान्वित न होने देने के लिये वह निरन्तर कटिबद्ध रहता है।

संस्कृत विश्वविद्यालय ही क्यों, पूरा संस्कृत समाज आज इस व्याधि से ग्रस्त है। राजा-महाराजाओं, सेठ-साहूकारों और मठाधीशों के द्वारा चलाई जा रही संस्कृत पाठशालाएँ

और अन्नसत्र बन्द हो चुके या बन्द होते चले जा रहे हैं। उनकी एवज में उनके व्यवस्थापकों के भवन उठ खड़े हुए हैं। काशी के बड़े-बड़े मठों में अब गिने-चुने ऐसे मिलेंगे, जिनमें कि किरायेदार न बसा दिये गये हों। संस्कृत पाठशालाओं की सरकारी सहायता में इधर उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, किन्तु यह सारा धन छात्रों और अध्यापकों के नाम पर व्यवस्थापकों के पेट में चला जाता है। इस प्रकार की ५० प्रतिशत पाठशालाओं का अस्तित्व कोरे कागजों पर है। आज अग्निहोत्र जैसा पवित्र धार्मिक अनुष्ठान वैदिकों के यात्रा के झोले के साथ घूमता है। कहीं भी सम्पन्न होने वाले धार्मिक अनुष्ठान की वरणी उस ब्राह्मण को मिलती है, जो कि मिलने वाली दक्षिणा का आधा भाग मुख्य पुरोहित को अर्पित करने का वचन दिये रहता है।

ये भारतीय संस्कृति के संरक्षक !

चरित्र और नैतिकता के धनी ये व्यक्ति भाषण-मंच से भारतीय संस्कृति के संरक्षक के रूप में अपने को उपस्थापित करते हैं। कहा जाता है कि भारतीय दूतावासों में इनकी नियुक्ति होनी चाहिये। तभी विदेशों में भारतीय संस्कृति के सही रूप का दर्शन हो सकेगा। कुछ लोगों का यह भी विचार था कि देश के आधुनिक विश्वविद्यालयों में अनुशासनहीनता का मुख्य कारण वहाँ संस्कृत शिक्षा को कोई स्थान न दिया जाना है। संस्कृत विश्वविद्यालय के नये छात्रों ने उनका मोह-भंग कर दिया है। नैतिक मूल्यों का सर्वाधिक ह्रास आज संस्कृत समाज में ही हुआ है। धर्मशास्त्र का विद्वान् ५० रु० की दक्षिणा लेकर एक प्रकार की व्यवस्था देता है। दूसरे पक्ष से १०० रु० मिल जाने पर वह अपनी ही पहली व्यवस्था के विपरीत दूसरी व्यवस्था देने में कोई संकोच नहीं करता। शास्त्र तो अथाह सागर है। गहरी डुबकी लगाने पर सभी कुछ जो उसमें से निकल आता है।

काशी के एक प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् के शिष्य का कहना है कि यहाँ जो व्यक्ति जितना सफल *अभिनय* करेगा, वह उतना ही श्रेष्ठ माना जायगा। इसका अभिप्राय यह निकल सकता है कि हमें अपनी बुराइयों को छिपा कर अच्छेपन के दिखावे में बहुत चतुराई बरतनी चाहिये, हम अच्छा बनें यह कोई आवश्यक नहीं है। क्या इस *दोहरे चरित्र* के चलते हम समाज में अपनी बची-खुची मान्यता को भी खोते नहीं जा रहे हैं?

देश की स्वतन्त्रता के संघर्ष में इस तथाकथित संस्कृत समाज ने कोई सहयोग नहीं दिया, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य तो इसमें है कि यह समाज अपने धार्मिक मन्तव्यों के प्रति भी आस्थाहीन है। हैदराबाद में तोड़े जा रहे मन्दिर की रक्षा इस संस्कृतजीवी समाज ने नहीं, आर्यसमाजियों ने की थी। वाराणसी की जनता इसको भूली नहीं होगी कि स्वामी करपात्री जी के चलाये धार्मिक आन्दोलनों के अवसर यह समाज सदा पीछे के दरवाजे से पलायन करता रहा है और जहाँ दक्षिणा पाने का अवसर था, वहाँ सबसे आगे रहा है। यों तो पूरे भारत में ही आज नैतिकता का अवमूल्यन हो चुका है, उसी का यह परिणाम

है कि देश को ओलम्पिक खेल जैसी विश्व-प्रतियोगिता के अवसरों पर मात्र कांसे के एक तमगे पर सन्तोष करना पड़ता है। देश ने योग्यता का आदर करना छोड़ दिया है। सभी जगह भाई-भतीजावाद का बोलबाला है। किन्तु दूसरी जगह वह दम्भ नहीं है, जो कि इस संस्कृत समाज को सर्वात्मना दबोचे हुए है। इसके रहते क्या संस्कृत समाज "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" अथवा —

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।

इस मनुवाक्य का उद्घोष करने का सामर्थ्य अर्जित कर सकेगा? क्या हम आशा करें कि मनीषिप्रवर डॉ० सम्पूर्णानन्द के द्वारा स्थापित यह विश्वविद्यालय उक्त व्याधियों से जर्जर संस्कृत शिक्षा में नये जीवन का संचार कर सकेगा? क्या यह विश्वविद्यालय देश में नैतिक मूल्यों की पुनः स्थापना के पावन कर्तव्य में अपना भी कुछ अंशदान कर सकेगा?

यह तभी सम्भव होगा, जब कि संस्कृत शिक्षा को संकीर्ण घेरे से बाहर निकाला जाय। आधुनिक संस्कृत समाज में नहीं, संस्कृत भाषा में वह सामर्थ्य अभी भी है ।।

●

क्या संस्कृत शिक्षा संकीर्णता से बाहर निकलेगी?

संस्कृत शिक्षा के भविष्य पर विचार करने से पहले देश में प्रचलित सामान्य शिक्षा पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है। इस देश में अंग्रेजों के पैर जमाने से पहले शिक्षा का प्रधान स्रोत संस्कृत भाषा ही थी। विगत दो-तीन शताब्दियों में ज्ञान-विज्ञान का आश्चर्यजनक विकास हुआ है, किन्तु उस समय तक संस्कृत भाषा में निबद्ध ज्ञान-विज्ञान से ही देश अपना काम चलाता था और अनेक क्षेत्रों में विश्व की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ इसमें सुरक्षित थीं। पिछले एक हजार वर्षों में इसका ह्रास अधिक हुआ, विकास कम। फलतः देश पराधीन हो गया। इतना अवश्य हुआ कि इस कठिन काल में भी देश ने अपनी इस थाती को यथाशक्ति सुरक्षित रखा। अपनी इस निधि और इसके संरक्षकों पर देश को गर्व था।

संस्कृत भाषा के प्रति अनास्था

देश में पाश्चात्त्य पद्धति की शिक्षा प्रचलित होने के बाद इस सुरक्षित निधि पर हमारी आस्था कम होने लगी। देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता मिल जाने पर भी हमारी यह अनास्था कम नहीं हुई, बढ़ी ही है। इस पुरातन ज्ञान-विज्ञान से नवीन ज्ञान-विज्ञान को जोड़ने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ है। यह सही है कि ज्ञान-विज्ञान की अनेकों शाखाओं का विश्व में

इदम्प्रथमतया उन्मेष हुआ है और होता जा रहा है, उनको वैदिक मन्त्रों में खोज निकालना बुद्धि के व्यायाम से अधिक कुछ नहीं माना जायगा। इस प्रकार के प्रयत्न उक्त अनास्था को बढ़ाने में केवल सहायक ही नहीं होते, अपितु सही प्रयत्नों के मार्ग में बाधा भी डालते हैं। फलत: देश का सुरक्षित ज्ञान-भण्डार उपेक्षित पड़ा है और बाहर से आयातित ज्ञान उस पर हावी होता जा रहा है।

उदाहरण के लिये हम हिन्दी साहित्य को ही लें। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल के काल तक यह संस्कृत भाषा से प्रेरणा लेता रहा है, किन्तु आज स्थिति इसके विपरीत है। आधुनिक हिन्दी साहित्य का केवल संस्कृत से ही नहीं, पूरे भारतीय वाङ्मय से सम्बन्ध टूटता जा रहा है। रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ के बाद संस्कृत के विद्वानों की प्रतिभा तो कुण्ठित हो ही चुकी थी, हिन्दी में भी रामचन्द्र शुक्ल की प्रतिभा का धनी कोई दिखाई नहीं दे रहा है, जो कि भारतीय साहित्य-शास्त्र को परम्परानुगत अथवा स्वतन्त्र नया चिन्तन दे सके। हिन्दी साहित्य की दशा तो आज इतनी खराब हो गई है कि वह आयातित ज्ञान की नकल में मगन हो अपने पुराने कवियों को समझ पाने की शक्ति भी खोता जा रहा है। काशी के श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र जैसे हिन्दी भाषा के प्रौढ़ मर्मज्ञ विद्वान् अब नहीं रहे। संस्कृत से हिन्दी का आज इतना ही सम्बन्ध रह गया है कि संस्कृत के छटके विद्वान् वहाँ जाने पर आचार्य मान लिये जाते हैं। यहाँ आकर प्रगतिशील बनने की धुन में ये आचार्यगण पुरातन से अपने चूल्हे-चक्की तक का ही सम्बन्ध रख पाते हैं। चार-छ: जगह से झपट्टा मार कर मौलिक ग्रन्थलेखक बनने की आधुनिक भारतीय लेखकों की दुराकांक्षा भारतीय साहित्य को दुनिया के उत्कृष्ट ज्ञान-ग्रन्थों के सही अनुवाद से भी वंचित करती रही है। ऊँचे-स्तर की डाका डालने की इस प्रवृत्ति को समाज जब तक पुरस्कृत करता रहेगा, तब तक भारतीय वाङ्मय का भविष्य अन्धकारमय ही रहेगा।

पुरातन और नूतन में समन्वय

भारत में ज्ञान और विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में पुरातन ज्ञान को नये ज्ञान से जोड़ना आज प्रतिगामी कदम माना जाने लगा है। फलत: नवीन ज्ञान की उन शाखाओं का भी सम्बन्ध संस्कृत भाषा से छूटता जा रहा है, जिनका कि प्रभूत साहित्य यहाँ विद्यमान है। संगीत, नृत्य जैसी कलाओं और थोड़ा बहुत दर्शनशास्त्र को छोड़ आज पूरा भारतीय वाङ्मय उपेक्षित पड़ा है। सर्वत्र पुरातनवादियों और आधुनिकता-प्रेमियों के दो दल बन गये हैं। आज कालिदास की इस उक्ति को —

"पुराणमित्येव न साधु सर्वम्"

भुला दिया गया है। पुरातनवादियों का कहना है कि सर्वज्ञ ऋषि-मुनियों ने हमें जो कुछ ज्ञान दे दिया है, उसमें नया कुछ जोड़ने की शक्ति आज के पामर मानव में नहीं है और

आधुनिकतावादी इस पुरानी थाती को फूटी आँख देखना नहीं चाहता। फलत: ऐसा कोई केन्द्रबिन्दु नहीं दिखाई पड़ता, जहाँ पर इनके मिलने की सम्भावना हो। ऐसी परिस्थिति में आधुनिक भारतीय शिक्षा का यहाँ की प्राचीन शिक्षापद्धति से किसी भी प्रकार का लगाव कैसे सम्भव हो सकता है? प्राचीनतावादी भी बात तो पुराने शास्त्रों की करते है, किन्तु उनका आत्मविश्वास डिग चुका है। आज कल आयुर्वेदाचार्य डाक्टर कहलाना पसन्द करता है। शिक्षाशास्त्री बी०एड० लिखना अधिक आवश्यक समझता है और संस्कृत विश्वविद्यालय के स्नातक तथा प्राध्यापक विद्यावारिधि और वाचस्पति कहलाने की अपेक्षा अपने नाम के आगे पीएच०डी और डी०लिट्० लिखने में अधिक गौरव का अनुभव करते हैं। इसके लिये विश्वविद्यालय के नियमों में आवश्यक सुधार भी करवा लिये गये हैं।

ज्ञ.न और विज्ञान को देश तथा काल की सीमा में बाँधना उचित नहीं है। यह तो पूरे विश्व की सदा-सर्वदा के लिये थाती है। आधुनिक पाश्चात्त्य ज्ञान-विज्ञान को आज हमें भी उसी मनोवृत्ति के साथ ग्रहण करना चाहिये, जिस प्रकार कि प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने यवनों को ऋषितुल्य पूज्य मानकर उनसे विद्या को ग्रहण किया था। *भारतीय अंकविज्ञान और उसकी दशमलव पद्धति आज पूरे विश्व की थाती है। इसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में अन्तिम तथ्य पूरे विश्व की थाती बनेगा। उसको अंगीकार करने से पहले इसकी परीक्षा आवश्यक है। नवीन ज्ञान-विज्ञान को ग्रहण करते समय हमें अपने पुरानी थाती को संभालना होगा। हमको यह विचारना पड़ेगा कि हम कहाँ तक पहुँच चुके हैं और अब कहाँ से आगे बढ़ना है। इसके लिये यह आवश्यक है कि बाह्य ज्ञान-विज्ञान को पचा सकने और भारतीय वातावरण के परिप्रेक्ष्य में उसको नया स्वरूप दे सकने की सामर्थ्य हम अर्जित कर सकें।* राजनीति, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र, दर्शन, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, आयुर्वेद, खगोल और भूगर्भशास्त्र आदि प्राच्य और पाश्चात्त्य ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में दोनों पद्धतियों के समन्वित गंभीर अध्ययन के उपरान्त अपने देश के जलवायु के अनुकूल निर्मित एक समन्वयात्मक शिक्षापद्धति ही भारत के युवकों को सही दिशानिर्देश कर सकती है। *क्या हम राजनीति से ऊपर उठ कर पूरे देश के हित में एक समन्वित शिक्षाप्रणाली के विकास की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे?*

कर्मकाण्डीय व मठीय संस्कृति का कुप्रभाव

जब पूरी भारतीय शिक्षापद्धति ही भ्रम-जाल में फँसी हुई है, तो ऐसी परिस्थिति में संस्कृत शिक्षा उससे मुक्त कैसे हो सकती है? पूरी भारतीय शिक्षापद्धति की इन समस्याओं के साथ संस्कृत शिक्षा की अपनी समस्याएँ अलग से जुड़ी हुई हैं। आज की प्राचीन प्रणाली की संस्कृत शिक्षापद्धति पर पतनोन्मुख वैदिक कर्मकाण्डीय संस्कृति और निर्वाणोन्मुख (बुझने जा रही) मठीय संस्कृति का गहरा प्रभाव है। संस्कृत पाठशालाओं से लेकर संस्कृत विश्वविद्यालयों तक में पहली संस्कृति का तथा मठों-मन्दिरों में दूसरी का प्रभाव यत्र-तत्र देखा

जा सकता है। मठीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली तान्त्रिक वाङ्मय की कुछ शाखाओं में कुछ शब्दों का आध्यात्मिक रहस्यात्मक विशिष्ट अर्थ बताया गया है। इस पर शंका उपस्थित करना मात्र अपने अज्ञान को मुखरित करना होगा। हमें सोचना इतना ही है कि आज व्यवहार में क्या हो रहा है? भोग का जितना बीभत्स वर्णन इन शास्त्रों की शाखाओं में मिलता है, वहाँ शायद आजकल का पाश्चात्त्य हिप्पी-समाज अभी तक नहीं पहुँच पाया है। इसी के कारण देश एक हजार वर्ष तक परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा तड़फड़ाता रहा है। *यह देश की नैतिकता के ह्रास का काल था, जिसने कि अभी भी हमारा पिण्ड नहीं छोड़ा है।*

संसार का सर्वोत्कृष्ट औपनिषद ज्ञान ऋषि-मुनियों और नृपतियों की संचित निधि है। वैदिक वाङ्मय वृद्धावस्था में ही संन्यासाश्रम का विधान करता है। मनोविज्ञान और चिकित्साशास्त्रीय दृष्टिकोण से सर्वथा विपरीत मठीय संस्कृति के ये अवशेष अपने वर्तमान रूप में क्या समाज का कुछ हितसाधन कर रहे हैं? इस प्रश्न पर हमें गंभीरता से विचार करना चाहिये।

इस प्रसंग में विदुरनीति के निम्न दो श्लोक स्मरण हो आते हैं —

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ।।
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ।।

अर्थात् पूजा (यज्ञ-यागादि), अध्ययन, दान, तप, सत्य, धैर्य, क्षमा और अलोभ ये आठ धर्म के मार्ग हैं। इनमें पहले चार मार्गों का उपयोग दम्भ (पाखण्ड) के लिये भी किया जा सकता है, किन्तु अन्तिम चार का अनुसरण केवल महात्मा पुरुष ही कर सकते हैं।

आज उक्त दोनों संस्कृतियों में दम्भ-धर्म का ही प्राधान्य परिलक्षित होता है। उत्तर चतुर्वर्ग का पालन करने वाले कितने महात्मागण आज इस समाज में हैं?

कोढ़ में खाज के समान संस्कृत-समाज में बाह्य संस्कृति की संकीर्णता और असहिष्णुता का रोग आ घुसा है। आज संस्कृत जगत् में भी अखिल भारतीय भावना नष्ट होती जा रही है। सर्वत्र स्थानीय समुदाय बाहरी प्रवेश को अवांछनीय मानता है और इसको रोकने के लिये निरन्तर सचेष्ट रहता है। काशी में इस रोग की जड़े अधिक गहरी हैं। एक समुदाय में जन्म लेते ही बालक शास्त्री बन जाता है। निरक्षर भट्टाचार्य रहते हुए भी वह अपने वर्ग के विद्वत्समाज में ऊँचा स्थान पाता है। इसके विपरीत दूसरे वर्ग में आचार्यगणों की सृष्टि होती है। शास्त्रार्थ-सभा आदि में समय-कुसमय एक दूसरे वर्ग के बड़े से बड़े विद्वान् को अपमानित कर देना इनके लिये गौरव का विषय है। संसारत्यागी काशी का साधु-समाज भी इस संकीर्ण वर्गसंघर्ष की भावना से विरत नहीं है। इसका कहाँ अन्त होगा?

उदार विचारधारा

संस्कृत शिक्षा का, भारतीय संस्कृति का, उक्त दोनों दृष्टिकोणों से भिन्न एक तीसरा दृष्टिकोण भी है, जो कि वेद और उपनिषद् के, बुद्ध और महावीर के उदात्त उपदेशों के तथा इतिहास, पुराण और आगमशास्त्र की समन्वयात्मक उदार विचारधारा के बीच पनपा है। *काशी इस उदात्त दृष्टिकोण का भी प्राचीनकाल से ही प्रतिनिधित्व करती रही है।* आद्य शंकराचार्य के अज्ञान को काशी के एक चाण्डाल ने दूर किया था। रामानन्द और कबीर की कर्मभूमि काशी ही रही है। अभी हाल में भारतरत्न डॉ० भगवान्दास, बाबू शिवप्रसाद गुप्त, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० सम्पूर्णानन्द और श्री श्रीप्रकाश ने इसी दृष्टिकोण को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न किया था और म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराज, डॉ० मंगलदेव शास्त्री, पं० गोपाल शास्त्री दर्शनकेसरी, प्रो० मुकुटबिहारी लाल, प्रो० राजाराम शास्त्री जैसे विद्वद्गण भारतीय संस्कृति की इस विचारधारा को आगे बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील रहे हैं। क्या आधुनिक संस्कृत शिक्षा अपनी दोनों संकीर्ण धाराओं से बाहर निकल कर इस प्रशस्त पथ की ओर मुड़ने में समर्थ होगी?

संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति का अब तक अटूट सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध के टूटने की आशंका उपस्थित हो गई है। यह तभी निर्मूल हो सकती है, जब कि संस्कृत भाषा का सम्बन्ध धर्म की अपेक्षा संस्कृति से अधिक गहरा किया जाय ।।

❋❋❋

द्वितीय परिच्छेद

संस्कृति - संगम प्रथम

- गीता के प्रवक्ता समन्वयाचार्य श्रीकृष्ण
- महाभारत का नारायणीयोपाख्यान
- ब्रह्मसूत्र का पांचरात्राधिकरण
- भागवत की तत्त्व-समन्वय प्रक्रिया

गीता के प्रवक्ता समन्वयाचार्य श्रीकृष्ण

भक्ति मार्ग

परतत्त्व के साक्षात्कार के लिये कर्मयोग और ज्ञानयोग के समान भक्तियोग भी भारतीय धरती की ही उपज है तथा ईसा के जन्म से बहुत पहले ही यह मार्ग यहाँ विकसित हो चुका था, इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस विषय में अब कुछ लिखना पिष्टपेषण मात्र होगा। वैदिक कर्मकाण्ड से, जिसकी कि प्रतिष्ठा मीमांसा दर्शन में हुई, कर्मयोग का और औपनिषद दर्शन से ज्ञानयोग का विकास हुआ, यह निर्विवाद मान्यता है। हमारे विचार से भक्तियोग का विकास आगमिक दर्शन से हुआ। वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति के प्रतिपादक वाक्यों को ढूंढने का प्रयत्न किया जाता है, किन्तु यह सब उस वाङ्मय की अन्तरात्मा के विरुद्ध है।

अतिप्राचीन काल में यहाँ पर भक्ति मार्ग की धारा प्रवाहित थी, इसका मूक सन्देश हमको मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा संस्कृति के अवशेषों में सुनने को मिलता है। इसी धारा में आगमिक दर्शन का विकास हुआ और वैदिक धारा पर भी इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। अथर्ववेद में तो इसका स्पष्ट प्रभाव भी प्रतीत होता है। आज हमको कर्म, ज्ञान और भक्ति में कोई विरोधाभास प्रतीत नहीं होता, किन्तु किसी समय भारतवर्ष के प्रबुद्ध जनों के समक्ष आज की जाति, सम्प्रदाय और भाषागत समस्याओं के समान यह एक असमाधेय समस्या के रूप में उपस्थित था। इसका समाधान समन्वयाचार्य श्रीकृष्ण ने गीता की रचना कर किया था।

शरणागति

"सर्वोपनिषदो गाव:" इत्यादि प्रमाणों से और कठादि उपनिषदों के गीता में उद्धृत वचनों से भी यह प्रतीत होता है कि गीता औपनिषद परम्परा का ग्रन्थ है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। यह मुख्यत: भक्ति, प्रपत्ति, शरणागति का प्रतिपादक ग्रन्थ है, जिसमें कि कर्म और ज्ञान का भी भक्ति में समन्वय किया गया है। जर्मन विद्वान् प्रोफेसर गार्वे ने और स्वर्गीय लोकमान्य तिलक ने इस मत का सयुक्तिक प्रतिपादन किया है। गीता के चतुर्थ अध्याय के आरम्भ के श्लोकों में गीतोपदिष्ट योग की जो परम्परा दी है, वह महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में वर्णित पांचरात्र परम्परा के समान ही है। शतपथ ब्राह्मण में पांचरात्र सत्र का उल्लेख है। छान्दोग्य उपनिषद् के घोर आंगिरस के शिष्य देवकीपुत्र कृष्ण के उपदेश हमें बेसनगर के गरुड़ध्वज शिलालेख में भी देखने को मिलते हैं। शिव-भक्ति

की परम्परा में जैसे पाशुपत आदि शैव दर्शनों का विकास हुआ, उसी प्रकार विष्णु-भक्ति की परम्परा में भी पांचरात्र मत की प्रतिष्ठा अति प्राचीनकाल में हो चुकी थी। प्रपत्ति या शरणागति इसका मुख्य उपदेश था, जिसमें कि अहंभाव को नि:शेष कर मनुष्य सर्वतोभावेन अपने को प्रभु के चरणों में समर्पित का देता है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

गीता के इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी शरणागति का उपदेश दिया है। गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति का जो समन्वय किया गया, उसका समकालीन या परवर्ती संपूर्ण साहित्य पर प्रभाव पड़ा है। रामायण, महाभारत, मनुस्मृति और पुराण-साहित्य इसी समन्वयात्मक दृष्टि के जीते-जागते प्रमाण हैं। यह जनता का धर्म था। स्त्री, वैश्य और शूद्र को भी इसमें समान अधिकार प्राप्त था।

समन्वयात्मक दृष्टि

जैन और बौद्ध धर्म के उदय के कुछ समय बाद यहाँ का धार्मिक वातावरण पुन: कलहपूर्ण हो गया । इससे देश की रक्षा गीता में श्रीकृष्ण के द्वारा प्रदर्शित समन्वयात्मक दृष्टि ने ही की। प्रियदर्शी अशोक और सम्राट् कनिष्क की दृष्टि सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की थी। भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग, गुप्तों के राज्यकाल में विशाल पौराणिक साहित्य की सृष्टि हुई। इसमें प्रधानत: वैदिक और आगमिक धर्म के आधार पर जैन और बौद्ध धर्म के समन्वय का भी प्रयत्न किया गया। भागवत में २४ अवतारों में ऋषभदेव और बुद्ध की भी गणना की गयी है। विष्णु के दस अवतारों में बुद्ध को स्थान देना और संकल्प वाक्य में 'बौद्धावतारे' का हिमालय से कन्याकुमारी तक निर्विवाद रूप से स्थान पाना श्रीकृष्ण की उस समन्वयात्मक दृष्टि का ही फल था।

जैन और बौद्ध धर्म का विकास जनधर्म के रूप में हुआ था। इसके विपरीत वैदिक धर्म केवल उच्च वर्ग को अधिकार देता था। जनता में इसका टिक पाना कठिन हो जाता, यदि आगमिक धर्म के साथ विशेषतया पांचरात्र दृष्टिकोण के साथ इसने समझौता न किया होता। भारतीय जनमानस में वैष्णव धर्म को यह ऊँचा स्थान इसी समन्वय के कारण मिला। इसको न हम वैदिक ही कह सकते हैं और न आगमिक ही। आज का भारतीय धर्म उभयविध संस्कृतियों से ही नहीं, जैन और बौद्ध संस्कृति की उदात्त भावनाओं से भी अनुप्राणित है।

जनभाषा का आदर

शंकराचार्य ने इस धर्म को शुद्ध वैदिक रूप देने का और जनता में ज्ञान मार्ग की प्रतिष्ठा का महनीय प्रयास किया, किन्तु उनको भी परवश होकर कहना पड़ा ''सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्''। शुष्क ज्ञान जनता का धर्म नहीं हो सकता था।

जनता को ऐसा धर्म चाहिये था, जो कि उनके हृदय को छू सके। भक्ति मार्ग ही उनकी इस आकांक्षा की पूर्ति कर सकता था। इसके लिये यह भी आवश्यक था कि इसका उपदेश जनता की भाषा में हो। बौद्ध धर्म का प्रथम उपदेश पालि भाषा में और जैन धर्म का प्राकृत भाषा में हुआ था। धीरे-धीरे इन धर्मों का जनता से सम्बन्ध हटने लगा और विद्वानों में परस्पर शास्त्रार्थ एवं वाद-विवाद की आकांक्षा की पूर्ति के लिये संस्कृत में ग्रन्थों की रचना होने लगी। इस बात को तत्कालीन सन्तों ने समझा और जनता की आकांक्षा की पूर्ति के लिये उन्होंने जनभाषा में ही अपने मनोभावों को व्यक्त करना आवश्यक माना। इस प्रकार के सन्तों में तमिल आलवारों का बहुत ऊँचा स्थान है।

तमिल आलवार

तमिल आलवारों की भक्तिभावपूर्ण रचनाओं से पाठक पूर्णतया परिचित होंगे। इनका प्रेरणास्रोत पांचरात्र आगम और गुप्तकाल का पौराणिक वाङ्मय था। पांचरात्र आगम की परवर्ती संहिताएं दो मुख्य विभागों में बट गयी थीं। इनमें से एक में श्रीकृष्ण परब्रह्म के रूप में वर्णित हैं और दूसरी में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम। इन्हीं के आधार पर इन आलवारों में भी मुख्य दो विभाग हैं। कुछ श्रीकृष्ण के उपासक हैं और अन्य श्रीराम के। जैन और बौद्ध परम्परा के समान तमिल आलवारों की परम्परा में भी नाथमुनि, यामुन और रामानुज जैसे आचार्य हुए, जिन्होंने कि जनभाषा का सहारा न लेकर संस्कृत में ग्रन्थों की रचना की। लेकिन रामानुज के शिष्य दो भागों में बंट गये। कुछ ने आचार्यों के ग्रन्थों पर संस्कृत भाषा में टीका-टिप्पणी करना अंगीकार किया, लेकिन अन्य मनस्वी शिष्यों ने आलवारों के पथ का अनुवर्तन कर तमिल भाषा में ही रचना करते हुए जनता से सम्पर्क बनाये रखा। रामानुज के प्रसिद्ध शिष्य कूरेश की इस परम्परा में ही स्वामी राघवानन्द के शिष्य स्वामी रामानन्द का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने कि पूरे उत्तर भारत को मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम की भक्ति से आप्लावित कर दिया। इस पृष्ठभूमि में स्वामी रामानन्द का अध्ययन होना अभी बाकी है। इसके अभाव में स्वामी रामानन्द का ठीक मूल्यांकन नहीं हो सकता और उन पर कुछ अनुचित आक्षेप कर दिये जाते हैं।

पांचरात्र आगम और तमिल आलवारों की रामधारा का विकास जनभाषा में जैसे उत्तर भारत में काशी में आकर हुआ, उसी प्रकार कृष्णधारा का विकास मथुरा-वृन्दावन में हुआ। वहाँ से वह बंगाल में पहुँची। महाराष्ट्र और गुजरात में होकर ही इसका उत्तर भारत में प्रवेश हुआ था। कृष्णधारा के साथ हम भागवत पुराण को भुला नहीं सकते। वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु और उनके अनुयायियों पर इसका अक्षुण्ण प्रभाव है ही, निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रहे थे। वर्तमान समय के महान् सन्त महात्मा गाँधी भी इसी परम्परा से अनुप्राणित थे। गुजरात के सन्त कवि नरसी मेहता का "वैष्णव जन तो

तेने कहिये'' इनका प्रिय भजन था। आज के विरोधाभासों में समन्वय स्थापित करने में ही इनको अपने जीवन तक की आहुति देनी पड़ी।

समन्वयाचार्य श्रीकृष्ण

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कर्म और ज्ञान मार्ग का भक्ति से समन्वय करके लोकनायक श्रीकृष्ण ने जिस समन्वयात्मक धर्म की ज्योति जगायी थी, सुदीर्घ काल और परिस्थितिजन्य झंझावातों से टक्कर लेती हुई वही ज्योति आन्तरिक और बाह्य आक्रमणों से त्रस्त भारतीय आत्मा को अब तक प्रकाश देती रही है और भविष्य में भी यही समन्वयात्मक दृष्टि आज भारत में वर्गवाद, भाषावाद और प्रान्तीयता से उत्पन्न बिभीषिकाओं तथा आधुनिक सभ्य जगत् में व्याप्त स्वार्थपरता, संकीर्णता और वैमनस्य को दूर करने का सामर्थ्य रखती है। यह महान् विभूति समय रहते हममें इस दृष्टि का पुनः उन्मेष करे ।।

●

महाभारत का नारायणीयोपाख्यान

महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्वर्ती मोक्षधर्मपर्व के अन्त में ३३४ वें अध्याय से ३५१ वें अध्याय तक (गीता प्रेस संस्करण) नारायणीयोपाख्यान उपवर्णित है। इस उपाख्यान ने आज से कई वर्ष पूर्व प्रसिद्ध भारतीय मनीषी डॉ० रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर का ध्यान आकृष्ट किया था। अपने ग्रन्थ ''वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स'' में इन्होंने इस उपाख्यान का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था। इस ग्रन्थ का अब (सन् १९६७) में हिन्दी अनुवाद भी ''वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत'' शीर्षक से वाराणसी से प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत निबन्ध में हम पांचरात्र संहिताओं के परिप्रेक्ष्य में इसी उपाख्यान का सिंहावलोकन करना चाहते हैं।

यहाँ ३४९ वें अध्याय में सांख्य, योग, पांचरात्र, वेद और पाशुपत मतों का तथा उनके प्रवर्तक आचार्यों का उल्लेख मिलता है। उपाख्यान के आरम्भ में बताया गया है कि सर्वप्रथम इस धर्म का उपदेश नारायण ने नारद को किया था। नर, नारायण, कृष्ण और हरि को यहाँ धर्म की चार मूर्तियां माना गया है। यहाँ यह अवधेय है कि इस उपाख्यान में एक-दो स्थलों को छोड़ कर सर्वत्र व्यूह शब्द के स्थान पर मूर्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। नारद को यह धर्म सर्वप्रथम उपदिष्ट हुआ था, इसलिये यह सम्प्रदाय नारदपंचरात्र के नाम से भी प्रसिद्ध हो गया है। यद्यपि इस नाम की एक संहिता अलग से भी उपलब्ध होती है, किन्तु परवर्ती काल में प्राय सभी संहिताओं के प्रारम्भ में ''इति श्रीनारदपञ्चरात्रे सात्वतसंहितायाम्'' इस प्रकार पुष्पिका-वाक्यों में इसका विशेषण के रूप में प्रयोग होने लगा था।

३४८ वें अध्याय में सांख्य, योग, वेद और पांचरात्र को परस्पर उपकारक माना है। इनका सुन्दर समन्वय भगवद्गीता में हुआ है। सांख्य, योग और उपनिषदों का तो गीता में स्पष्ट ही उपदेश मिलता है, इनके अतिरिक्त वहाँ पर शरणागति और प्रपत्ति आदि के सिद्धान्त पांचरात्र से ही लिये गये हैं। नारायणीयोपाख्यान में भगवद्गीता का हरिगीता के नाम से एकाधिक बार उल्लेख हुआ है और इस उपाख्यान पर स्पष्ट ही स्थल-स्थल पर गीता का प्रभाव परिलक्षित होता है, तथापि यह उपाख्यान प्रधानतः पांचरात्र सिद्धान्तों का ही प्रतिपादक है।

चतुर्व्यूहवाद

पांचरात्र का मुख्य सिद्धान्त चतुर्व्यूहवाद सर्वप्रथम यहाँ देखने को मिलता है। यहाँ पर एकव्यूह, द्विव्यूह, त्रिव्यूह का भी उल्लेख है, जो कि संभवतः चतुर्व्यूह वाद के विकासक्रम को बताता है। ३ ३ ९ वें अध्याय में इसको महोपनिषद् कहा गया है और चतुर्वेदतुल्य इस शास्त्र की पंचरात्र संज्ञा दी गयी है। दूसरी जगह इसको सात्वत या ऐश्वर धर्म भी कहा गया है। यह धर्म अहिंसक था, किन्तु जैन और बौद्ध धर्म के समान वेदविरोधी नहीं था। इस धर्म के उपासक ऐकान्तिक कहे गये हैं, क्योंकि ये एकान्तभाव से नारायण की उपासना करते हैं। गीता के समान यहाँ पर भी चार प्रकार के भक्त जनों का उल्लेख है और उनमें एकान्ती को श्रेष्ठ माना गया है। इस एकान्ती भक्त को भगवान् का प्रियतर कहा गया है। यहाँ पर इनको सात्वत या भागवत के नाम से भी अभिहित किया गया है। एक जगह इनको पंचकालज्ञ कहा गया है, क्योंकि ये पंचविध यज्ञों से पांच कालों में हरि की आराधना करते हैं। पंचयज्ञ और पंचकाल का यहाँ विशेष विवरण नहीं मिलता, किन्तु पांचरात्र संहिताओं में इन पंचकालों और अभिगमन आदि पांच यज्ञों का विशद वर्णन मिलता है। प्रसंगवश यहाँ दैशिक शब्द का प्रयोग भी हुआ है। पांचरात्र संहिताओं में ही नहीं, प्रायः सभी आगम-ग्रन्थों में इस शब्द का साधक की अवस्थाविशेष के अर्थ में व्यापक प्रयोग हुआ है। पांचरात्र संहिताओं और विभिन्न वैष्णव संप्रदायों में प्रसिद्ध 'जितन्ते' स्तोत्र का प्रथम श्लोक भी यहाँ देखने को मिलता है। संभवतः नारायणीयोपाख्यान की रचना से पूर्व ही इस स्तोत्र की रचना हो चुकी थी। इस प्रकार नारायणीयोपाख्यान में संक्षेप में उसी धर्म का स्वरूप वर्णित है, जो कि पांचरात्र संहिताओं में पल्लवित रूप में हमको देखने को मिलता है। पांचरात्र संहिताओं में दैव और पित्र्य कर्मकाण्ड का अत्यन्त विस्तार है। नारायणीयोपाख्यान में स्वयं नारायण ने कहा है कि हमारी परमा प्रकृति ने, जो कि श्वेतद्वीप में अवस्थित है, लोक-कल्याण के लिये यह मर्यादा बाँध दी है कि दैव और पित्र्य कर्म अवश्य ही करने चाहिये। इसीलिये इसको यहाँ स्थान-स्थान पर प्रवृत्ति धर्म के नाम से संबोधित किया गया है, जब कि वैदिक धर्म को निवृत्ति मार्ग बताया है।

श्वेतद्वीप

प्राय: प्रत्येक पांचरात्र संहिता में श्वेतद्वीप का उल्लेख है। प्राय: प्रत्येक संहिता का उपदेष्टा श्वेतद्वीप में जाकर पांचरात्र धर्म का रहस्य प्राप्त करता है। नारायणीयोपाख्यान में भी नारद श्वेतद्वीप में जाकर भगवान् से उपदेश ग्रहण करते हैं। यहाँ श्वेतद्वीप का और वहाँ के निवासियों का वर्णन मिलता है। क्षीरसागर के उत्तर में श्वेतद्वीप की स्थिति बतायी गयी है। मेरु पर्वत के उत्तर-पश्चिम में मेरु से ३२ सहस्र योजन ऊपर यह स्थित है। इस द्वीप में श्वेत वर्ण के अथवा शुद्ध सत्त्वप्रधान पुरुष निवास करते हैं। ये इन्द्रियों से रहित हैं, भोजन नहीं करते, हिलते-डुलते नहीं, इनके शरीर से सुगन्धि निकलती रहती है, ये निष्पाप हैं, पापी पुरुष इनको देख नहीं सकते, इनके शरीर की हड्डियाँ वज्र के समान मजबूत हैं, सब समान ऊँचाई के हैं, इनके शिर छाते के समान हैं, इनके साठ दांत और आठ दाढ़े हैं, वे एकान्त भाव से वासुदेव की उपासना में निरत रहते हैं। ३४२ वें अध्याय में बदरिकाश्रम में तप करते हुए नर और नारायण को भी बहुत कुछ इसी रूप में चित्रित किया गया है। पांचरात्र संहिताओं में कहा गया है कि मुक्त जीव ही श्वेतद्वीप को प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ (३३९.२०) भी यही बात कही गई है और दूसरी जगह बताया गया है कि इनका दर्शन भगवान् के दर्शन के समान है और एक दिन ये भगवान् में प्रवेश कर जायेंगे।

वसु उपरिचर

३३५-३३७ अध्यायों में परम भागवत राजा वसु उपरिचर की कथा वर्णित है। यह राजा नारायण का भक्त था। काम्य और नैमित्तिक सब अनुष्ठान वह सात्वत विधि से करता था। पांचरात्र के विद्वानों को भोजन करा चुकने के बाद वह स्वयं भोजन करता था। उसने अश्वमेध यज्ञ किया। उसमें पशु-हिंसा नहीं की गई। वन्य औषधियों का देवताओं को भाग अर्पित किया गया। इसमें भगवान् नारायण ने स्वयं आकर अपना भाग ग्रहण किया था। इस याग की शतपथ ब्राह्मण के पांचरात्र सत्र से बहुत कुछ समानता है।

३३७वें अध्याय में राजा वसु का एक दूसरे ही रूप में वर्णन मिलता है। देवों और ऋषियों में विवाद उठ खड़ा होता है कि यज्ञ में पशु से यजन करना चाहिये अथवा धान्य औषधियों से। देवों का प्रथम पक्ष था और ऋषियों का द्वितीय। वे अपने विवाद का निर्णय कराने राजा वसु उपरिचर के पास जाते हैं। स्वयं अहिंसक याग का अनुष्ठान करने वाला वह राजा यहाँ देवताओं के पक्ष में निर्णय करता है और ऋषियों का कोपभाजन बनता है। इस निर्णय के बाद राजा की आकाश-गमन की सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। ३३५ वें अध्याय के अन्त में कहा गया है कि राजा वसु की मृत्यु के बाद इस धर्म का लोप हो जायगा। इस कथा में धर्मलोप का रहस्य निहित है।

नारायणीयोपाख्यान के विभिन्न अध्यायों में पांचरात्र शास्त्र के उद्गम की अनेक परम्पराएँ दी हुई हैं। ३४८ वें अध्याय के अन्त में वही परम्परा दी गयी है, जो कि गीता के चौथे अध्याय के आरम्भ में है। वास्तव में गीता और नारायणीयोपाख्यान एक ही भागवत परम्परा के शास्त्र हैं। इन्हीं में प्रतिपादित सिद्धान्तों का बाद में पांचरात्र संहिताओं में विकास हुआ। समयानुसार इनमें यत्र-तत्र परिवर्तन भी हुआ है। तर्कपाद के अन्तिम अधिकरण में शंकराचार्य ने पांचरात्र सिद्धान्त को उद्धृत कर उसका खण्डन किया है। उपलब्ध पांचरात्र संहिताओं में ये सिद्धान्त दृष्टिगत नहीं होते। इसीलिये रामानुजाचार्य ने शंकर-प्रतिपादित पूर्वपक्ष को सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं किया है। किन्तु ये सिद्धान्त नारायणीयोपाख्यान में प्रतिपादित हैं।।

●

ब्रह्मसूत्र का पांचरात्राधिकरण

ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय का द्वितीय पाद तर्कपाद के नाम से प्रसिद्ध है। इसका अंतिम अधिकरण प्रस्तुत लेख का प्रतिपाद्य विषय है। आज कल ब्रह्मसूत्र के दशाधिक भाष्य उपलब्ध हैं[१]। इनमें सबसे प्राचीन शांकर भाष्य है। शंकर से पहले भी इस पर अनेक भाष्य और वृत्ति-ग्रन्थों की रचना हुई थी, किन्तु अब वे काल-कवलित हो चुके हैं। आज इतस्ततः ग्रन्थों में उनके नामों का उल्लेख अथवा उद्धरण मात्र प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत अधिकरण के विषय में उन प्राचीन आचार्यों का मत क्या था, इसको जानने का आज हमारे पास कोई साधन नहीं है। शंकर, रामानुज आदि आचार्यों ने इस अधिकरण का नाम उत्पत्त्य-संभवाधिकरण[२] दिया है। अधिकांश भाष्यकारों के मत से इस अधिकरण में पांचरात्र मत की समालोचना की गयी है। श्रीकण्ठ ने तो पांचरात्राधिकरण के नाम से ही इसकी व्याख्या की है। प्रस्तुत लेख के विषय का बोध सरलता से हो सके, इसलिये हम भी यहाँ पर पांचरात्राधिकरण के नाम से ही इसको सम्बोधित कर रहे हैं।

ब्रह्मसूत्र का तर्कपाद

तर्कपाद में सांख्य, योग, वैशेषिक, जैन, बौद्ध, पाशुपत और पांचरात्र मत का खण्डन कर औपनिषद मत की स्थापना की गयी है। रामानुजाचार्य का मत है कि अन्तिम अधिकरण

---

१. १. शंकर, २. भास्कर, ३. रामानुज, ४. श्रीकण्ठ, ५. मध्व, ६. निम्बार्क, ७. श्रीकर, ८. विज्ञानभिक्षु, ९. वल्लभ और १०. बलदेवभाष्य।

२. विज्ञानभिक्षु "उत्पत्त्यसंभवात्" इत्यादि चार सूत्रों को पूर्व अधिकरण का ही अंग मानते हैं। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु के मत से उत्पत्त्यसंभवाधिकरण अथवा पांचरात्राधिकरण की कोई सत्ता नहीं है।

में पांचरात्र मत का खण्डन न होकर उसकी स्थापना हुई है। मध्व, निम्बार्क और बलदेव विद्याभूषण ने इसमें पादासंगति दोष देखकर इस अधिकरण के प्रतिपाद्य विषय में ही परिवर्तन कर दिया है। उनके मत से इस अधिकरण में पांचरात्र मत की समालोचना न होकर शाक्त मत की आलोचना की गई है। बात यह है कि वैष्णव आचार्य पांचरात्र मत को आदर की दृष्टि से देखते हैं। शांकर मत से वैष्णव आचार्यों के मतभेद का मुख्य आधार पांचरात्र संहिताएँ हैं। इस मत में भक्ति और प्रपत्ति की प्रतिष्ठा होने के कारण यहाँ पर जीव और जगत् भी परमार्थत: सत्य है तथा जीव को अणु माना गया है। इसीलिये प्राय: सभी वैष्णव आचार्यों को पांचरात्र का प्रामाण्य निर्बाध रूप से अभिप्रेत है। वैष्णव आचार्यों में केवल वल्लभाचार्य इस अधिकरण में पांचरात्र का खण्डन मानते हैं। इसका कारण यह है कि ये विशेषतया भागवत पुराण से प्रभावित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक उत्तर भारत में पांचरात्र का प्रभाव क्षीणप्राय हो गया था। श्रीकण्ठभाष्य और उसकी अप्पय दीक्षित की टीका शिवार्कमणिदीपिका, श्रीकरभाष्य और वल्लभभाष्य की पुरुषोत्तमकृत प्रकाश व्याख्या आदि ग्रन्थों को देखने से यह मालूम होता है कि पांचरात्र आदि मतों के विरुद्ध पुराणों तथा उपपुराणों में भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होने लगी थी।

नारायणीयोपाख्यान की रचना के समय में ही नहीं, महिम्नस्तव की रचना के काल में भी त्रयी, सांख्य, योग और पाशुपत मत के साथ वैष्णव मत, अर्थात् पांचरात्र की भी स्वतन्त्र मत के रूप में प्रतिष्ठा विद्यमान थी। भगवद्गीता में जहाँ इन मतों के समन्वय का प्रयत्न हुआ, वहीं तर्कपाद में इनका खण्डन कर औपनिषद मत की स्वतन्त्र स्थापना की गयी। इसका दूरगामी प्रभाव हुआ और परवर्ती आचार्यों के द्वारा तर्कपाद में समालोचित मत अवैदिक करार दिये गये। यामुनाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों ने आगमप्रामाण्य आदि ग्रन्थों के माध्यम से पांचरात्र को वेदाविरोधी सिद्ध करने का प्रयत्न किया, किन्तु यह प्रयत्न अन्तत: सफल न हो सका और उत्तर भारत से पांचरात्र की परम्परा प्राय: लुप्त सी हो गयी। स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव के समय में कश्मीर में पांचरात्र संहिताएँ और उपनिषद् उपलब्ध थे। आज ये नामशेष हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार अपरार्क ने तथा प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजी दीक्षित ने तन्त्राधिकारिनिर्णय में स्मृति-ग्रन्थों के समान वेदविरुद्ध अंश में पांचरात्र का प्रामाण्य अधिकारी विशेष के लिये स्वीकार किया है। वैष्णव ही नहीं, शैव और शाक्त आचार्य भास्करराय आदि ने भी आगम-ग्रन्थों का धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव किया है और इनको वेदानुवर्ती माना है। ब्रह्मसूत्र का ही यह प्रभाव है कि भारतीय जनमानस में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये सभी मतों को वेद की शरण में जाना पड़ा। ऐसा न कर सकने वाले मत बहिष्कृत अथवा निष्प्रभाव कर दिये गये।

रामानुजीय दृष्टि

"चारो[१] वेदों की उपासना से भी परम श्रेय की उपलब्धि न देखकर शाण्डिल्य ने पांचरात्र शास्त्र को प्राप्त किया था" इस उद्धरण से पांचरात्र की अपेक्षा वेदों के प्रति शिथिल दृष्टि का बोध होता है। शंकराचार्य (२.२.४५) की इस व्याख्या से रामानुजाचार्य (२.२.४२) सहमत नहीं हैं। उनकी दृष्टि से यह वचन प्रस्तुत पांचरात्र शास्त्र की प्रशंसा के लिये अर्थवाद मात्र है। शंकराचार्य ने पांचरात्र मत के विरुद्ध दूसरा तर्क यह दिया है कि यहाँ वासुदेव से संकर्षण की, संकर्षण से प्रद्युम्न की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति मानी गयी है। वासुदेव स्वयं परमात्मा हैं, संकर्षण जीव, प्रद्युम्न मन और अनिरुद्ध अहंकारस्थानीय माने गये हैं। जीव की उत्पत्ति वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है और कर्तृभूत (जीव) संकर्षण से करणभूत (मन) प्रद्युम्न की उत्पत्ति लोकविरुद्ध भी है, क्योंकि कहीं भी कर्ता से करण की उत्पत्ति नहीं देखी जाती।

रामानुजाचार्य ने इस अधिकरण के प्रथम दो सूत्रों को पूर्वपक्ष सूत्र माना है और अन्तिम दो सूत्रों में उनका समाधान किया है। शंकराचार्य प्रदर्शित दोनों आक्षेपों को वे पूर्वपक्ष में रखकर सिद्धान्त-सूत्रों के द्वारा उनका समाधान करते हैं। पौष्कर, सात्वत और परमसंहिता के प्रमाणों पर वे जीवोत्पत्तिवाद और कर्तृकरणवाद का खण्डन करते हैं। उनका अभिप्राय है कि पांचरात्र संहिताओं में भी जीव को नित्य ही माना गया है। संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध क्रमशः जीव, मन और अहंकार तत्त्व के अधिष्ठाता हैं, इसलिये यहाँ इनका जीव आदि शब्दों से उसी प्रकार निर्देश कर दिया गया है, जैसे कि आकाश, प्राण आदि शब्दों से ब्रह्म का निर्देश किया जाता है।

पांचरात्र मत

शंकराचार्य ने जिस पांचरात्र मत को उद्धृत कर उसका खंडन किया है, वह यद्यपि आज उपलब्ध पांचरात्र संहिताओं में देखने को नहीं मिलता, किन्तु नारायणीयोपाख्यान (३३९ अध्याय, ३६-४१ तथा ७२-७४ श्लोक) में वह ज्यों का त्यों उपलब्ध है। इस प्रकरण के पूर्वापरावलोकन से इसकी रामानुजाचार्य की उक्त अधिकरण में की गई व्याख्या ही युक्ति-संगत प्रतीत होती है। ३३९वें अध्याय के ३५वें श्लोक को और ३४४ वें अध्याय के १४-१८ श्लोकों को देखने से यह स्पष्ट ही मालूम होता है कि ग्रन्थकार को यहाँ उत्पत्ति

---

१. "चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवान्"। वामनसंहिता में शाण्डिल्य, भारद्वाज, कौशिक, मौञ्जायन और औपगायन ये पाँच ऋषि पांचरात्र के प्रवक्ता माने गये हैं। (साहित्य संस्थान, हिन्दी विद्यापीठ, उदयपुर का 'पांचरात्रोत्पत्ति' नामक हस्तलेख, ग्रन्थ संख्या ३६०)। ईश्वरसंहिता १ परिच्छेद में बताया गया है कि शाण्डिल्य ने सुमन्तु, जैमिनि, भृगु, औपगायन और मौञ्जायन को इस शास्त्र का उपदेश दिया था।

और विनाश के स्थान पर प्रादुर्भाव और तिरोभाव अभिप्रेत हैं। चतुर्मूर्ति अथवा चतुर्व्यूह का नारायणीयोपाख्यान में विशेष विवरण नहीं मिलता, किन्तु पांचरात्र संहिताओं में, विशेष कर अहिर्बुध्न्यसंहिता में यह विस्तार से वर्णित है।

ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज ये छः गुण हैं। परवासुदेव में ये सभी स्तिमितावस्था में विद्यमान रहते हैं। यह वासुदेव की नित्योदितावस्था है। शान्तोदितावस्था में ये गुण क्रियाशील हो उठते हैं और तब परवासुदेव व्यूहावस्था की ओर अथवा शुद्ध-सृष्टि की ओर अग्रसर होता है। व्यूह वासुदेव में ये सभी गुण उन्मेषावस्था में रहते हैं। संकर्षण में ज्ञान और बल, प्रद्युम्न में ऐश्वर्य और वीर्य तथा अनिरुद्ध में शक्ति और तेज इस प्रकार केवल दो-दो गुणों का उन्मेष होता है। परवासुदेव की ही ये सब अवस्थाएँ हैं। कार्यविशेष का संपादन करने के लिये परवासुदेव ही चतुर्व्यूह के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। अन्य संहिताओं में पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार के भेद से ईश्वर के पांच स्वरूपों का वर्णन किया गया है। रामानुजाचार्य ने भी २.२.४१ के भाष्य में वासुदेव को ही परब्रह्म माना है और वहाँ उसके सूक्ष्म, व्यूह और विभव रूपों की व्याख्या की है। इस जगह परवासुदेव के लिये सूक्ष्म शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस अधिकरण की व्याख्या में शंकर की अपेक्षा भास्कर का अपना कोई नवीन दृष्टिकोण परिलक्षित नहीं होता। दोनों इस अधिकरण के आरम्भ में एक ही बात कहते हैं कि पांचरात्र में जो कुछ वेदाविरोधी है, उसका यहाँ खण्डन नहीं किया जा रहा है, किन्तु वेदविरोधी अंश ही अधिकरण के खण्डन का विषय है। रामानुज इस व्याख्या से सहमत नहीं है। उनका कहना है कि पांचरात्र में वेदविरोधी कुछ है ही नहीं। उसको वे इस अधिकरण के अन्तिम सूत्र में विस्तार से समझाते हैं। उनके इस प्रतिपादन का मुख्य आधार नारायणीयोपाख्यान है। उनका कहना है कि सूत्रकार ने ही वेद के उपबृंहण के लिये शतसहस्र (एक लाख) श्लोक की भारत संहिता की रचना की। उन्होंने मोक्षधर्म में ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन करते हुए विस्तार से पांचरात्र शास्त्र की प्रक्रिया का वर्णन किया है और कहा है कि दही को मथकर जैसे उसमें से सार वस्तु मक्खन निकाला जाता है, उसी प्रकार पूरे महाभारत को मथकर उससे पांचरात्र के प्रतिपादक सारभूत नारायणीयोपाख्यान की रचना की गई है। महाभारत के भीष्मपर्व में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन मिलता है। ऐसी स्थिति में सूत्रकार बादरायण कैसे इस अधिकरण में पांचरात्र की आलोचना कर सकते हैं। नारायणीयोपाख्यान में स्पष्ट ही कहा है कि पूरे पांचरात्र शास्त्र के वक्ता स्वयं नारायण हैं। अन्त में —

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः ।।

इस श्लोक को उद्धृत करते हुए रामानुजाचार्य कहते हैं कि तर्कपाद में न केवल पांचरात्र का; सांख्य, योग और पाशुपत मत का भी सर्वात्मना खण्डन नहीं किया गया है। केवल वेदविरोधी अंश की ही समालोचना हुई है। इतर मतों के लिये जो बात रामानुज कहते हैं, वही बात शंकर और भास्कर पांचरात्र के लिये भी कहते हैं। किन्तु पांचरात्र शास्त्र में श्रद्धातिशय के कारण रामानुज उसको मानने को तैयार नहीं है। सूत्रकार और महाभारत के रचनाकार का एकत्व उनकी दृष्टि में अपने मत के समर्थन के लिये एक प्रबल प्रमाण है। एक ग्रन्थकार अपने दो ग्रन्थों में परस्पर-विरोधी भाव व्यक्त नहीं कर सकता। हम रामानुजाचार्य[१] की इस श्रद्धाभरी युक्ति को आज की ऐतिहासिक पद्धति का अवलम्बन कर अन्यथा नहीं करना चाहते। इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि भारतीय प्रबुद्ध समाज में उक्त पांच मतों की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। तर्कपाद और उनके व्याख्याताओं के खण्डन के बाद भी उन पर किसी की अनास्था नहीं हुई। हाँ, कालप्रवाह में पड़कर आज पांचरात्र और पाशुपत मत आंखों से ओझल से होते जा रहे हैं। तान्त्रिक वाङ्मय की उपेक्षा इसमें कारण हो सकती है। इतना होने पर भी इन मतों की मूल मान्यताएँ प्रकारान्तर से अन्य रूपों में भारतीय जन-जीवन में घुल-मिल गयी हैं, इस बात को कौन अस्वीकार कर सकता है ॥

●

भागवत की तत्त्व-समन्वय प्रक्रिया

भागवत भक्ति मार्ग का महान् ग्रन्थ है ही, साथ ही पुराणों में साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि से भी इसका अपना महत्त्व है। "विद्यावतां भागवते परीक्षा" इस आभाणक के अनुसार यह ग्रन्थ पांडित्य की कसौटी माना गया है। भागवत सम्प्रदाय का ग्रन्थ होते हुए भी इसमें भारतीय धर्म और दर्शन के समन्वय का महान् प्रयास किया गया है। भगवान् बुद्ध और ऋषभदेव की इसमें विष्णु के अवतारों में गणना की गई है। इसी ग्रन्थ के ११ वें स्कन्ध के २२वें अध्याय में वर्णित तत्त्व-समन्वय की प्रक्रिया की यहाँ चर्चा की जा रही है।

तत्त्व क्या है?

'तत्त्व' भारतीय दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। जिन पदार्थों या जिस सामग्री से जगत् की रचना होती है, उसे 'तत्त्व' की संज्ञा दी गई है। सीधे-सादे शब्दों में उस सामग्री का नाम तत्त्व है, जिससे इस जगत् की रचना होती है, सृष्टि का प्रारंभ और विनाश होता

१. श्रीकण्ठ शिवाचार्य और रामानुजाचार्य में कौन पूर्ववर्ती है, इस विवाद में पड़ने का यहाँ अवसर नहीं है। किन्तु इस अधिकरण में पांचरात्र के अप्रामाण्य को सिद्ध करते हुए श्रीकण्ठ ने जो कुछ लिखा है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वे रामानुजभाष्य के तर्कों का उत्तर दे रहे हों।

है। विभिन्न दर्शनों में अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार इन तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इनकी संख्या के संबन्ध में भारतीय दार्शनिकों में भारी मतभेद था और है। यही समस्या भागवत के उद्धव के सामने थी। विभिन्न वादों से चकराई हुई उसकी बुद्धि कुछ निर्णय नहीं कर पा रही थी। अपनी इस मनःस्थिति को वे भगवान् श्रीकृष्ण के संमुख रखते हैं —

कति तत्त्वानि विश्वेश संख्यातान्यृषिभिः प्रभो ।
नवैकादश पञ्च त्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम ।।
केचित् षड्विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिम् ।
सप्तैके नव षट् केचिच्चत्वार्येकादशापरे ।।
केचित् सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश ।।

(भाग. ११.२२.१-३)

इसके आगे उद्धव की इस शंका का इस अध्याय के २२ वें श्लोक तक श्रीकृष्ण ने समाधान किया है। वे कहते हैं कि इन विभिन्न वादों की प्रवृत्ति का कारण अहंभाव है। प्रत्येक वादी अपने मत को उचित और दूसरे के मत को दूषित समझता है। इसीलिये इन विभिन्न वादों का जन्म हुआ है। श्रीकृष्ण की यह उक्ति आज भी उतनी ही सही है। विभिन्न वादों के अनुसार तत्त्वों का परिचय देकर वे इस प्रकरण का उपसंहार इस प्रकार करते हैं —

इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम् ।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमशोभनम् ।।

भागवत के समान ही अहिर्बुध्न्यसंहिता के आठवें अध्याय के प्रारंभ में भी तत्त्वों की विभिन्न संख्या मानने वाले वादों की चर्चा है —

केचित् त्रैभूतिकीं सृष्टिं ब्रुवते तत्त्ववादिनः ।।
चतुर्भूतमयीमन्ये केऽप्यन्ये पाञ्चभौतिकीम् ।।
तां षड्धातुमयीमेके सप्तधातुमयीं परे ।।
अष्टप्रकृतिकां केचिन्नवप्रकृतिकां परे ।।
दशतत्त्वमयीमेके केचिदेकादशात्मिकाम् ।।
एवमुच्चावचां संख्यां तत्त्वप्रकृतिगोचराम् ।
वदन्ति मुनयः सिद्धा देवा वेदास्तथैव च ।।

(अहि. ८.२-५)

पर्यायवाची शब्द

यहाँ विभिन्न संख्याओं के साथ भूत, धातु, प्रकृति और तत्त्व — इन चार शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस चारों शब्दों का एक ही अभिप्राय है, तो भी ये शब्द उस-उस परम्परा और वाद के साथ इनकी निकटता के सूचक हैं, जिनका उल्लेख यहाँ और भागवत के पूर्वोक्त स्थल पर किया गया है। भागवत के इस प्रकरण में भी धातु और प्रकृति शब्द का उन-उन संख्याओं के साथ उल्लेख है। इससे ऐसा प्रतीत होता है किसी के मत में तत्त्वों की 'भूत' शब्द से, कहीं 'धातु' और कहीं 'प्रकृति' शब्द से व्याख्या की गई है। चरकसंहिता शारीरस्थान के पहले अध्याय में पुरुष को षड्धातुमय और चतुर्विंशति-धातुमय कहा है। यहाँ 'धातु' शब्द का प्रयोग 'तत्त्व' के अर्थ में ही हुआ है।

परवर्ती वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के साथ भागवत को भी संमिलित कर प्रस्थान-चतुष्टयी का प्रामाण्य स्वीकार किया है। यद्यपि रामानुजाचार्य के किसी भी ग्रन्थ में भागवत का एक भी उद्धरण नहीं मिलता, किन्तु बाद में भागवत के आधार पर विशिष्टाद्वैत की स्थापना का प्रयास किया गया।

तत्त्वों की संख्या

भागवत के ऊपर के उद्धरण में अठाईस, छब्बीस, पचीस, सात, नौ, छः, चार, ग्यारह, सत्रह, सोलह और तेरह तत्त्ववादी सिद्धान्तों का उल्लेख है। अठाईस तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख भागवत में ही एक दूसरे स्थल (११.१९.१४) पर मिलता है। भागवत-संमत तत्त्वों की संख्या यही है। ऊपर के अध्याय के बाद के श्लोकों में इनका विवरण दिया गया है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में भी तीन से लेकर ग्यारह संख्या तक के तत्त्वों की चर्चा है, किन्तु भागवत के समान वहाँ इनका विवरण नहीं दिया गया। भागवत में इनका थोड़ा-सा विवरण होने पर भी तत्त्वों की इन विभिन्न संख्याओं को मानने वाले कौन-कौन आचार्य, सम्प्रदाय या दर्शन थे, यह स्पष्ट नहीं होता। इसके अतिरिक्त अन्यान्य ग्रन्थों में सत्ताईस, इकतीस, बत्तीस, छत्तीस और ५१ संख्या के तत्त्वों का भी उल्लेख मिलता है।

ऐसा लगता है कि कालक्रम के अनुसार इनका विकास हुआ है। प्राचीन काल में परिगणित कुछ तत्त्व कई एक आधुनिक दर्शनों में एकदम छोड़ दिये गये हैं, तो कुछ में अभी भी उसी रूप में या रूपान्तर से अंगीकृत हैं। भागवत की प्रक्रिया के आधार पर इनमें सहज समन्वय स्थापित किया जा सकता है। वास्तव में तत्त्व-संख्या का ही नहीं, सभी दार्शनिक तथा अन्य विषयों का अध्ययन भागवत की इस समन्वय-प्रक्रिया के आधार पर होना चाहिये। साम्प्रदायिक दृष्टि से इनका अध्ययन करना और किसी विशेष सिद्धान्त पर दर्शन-विशेष का एकान्त आधिपत्य मानना उचित नहीं है। बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि दर्शनों पर भी घात-प्रतिघात से परस्पर एक-दूसरे का प्रभाव परिलक्षित होता है।

इन परिस्थितियों में वैदिक संस्कृति, ब्राह्मण संस्कृति, श्रमण संस्कृति आदि की मन:प्रसूत उद्भावनाओं के द्वारा भारत के विभिन्न वर्गों में मनोमालिन्य का प्रसार करना नितान्त अनुचित है। इस दोष का परिशोधन भागवत की इस समन्वय-प्रक्रिया के आधार पर संभव है।

परिस्थितियों और समय की आवश्यकता के अनुसार विभिन्न भारतीय दर्शनों का विकास हुआ है। ऊपर से देखने से इनका संबन्ध अहिनकुलवत् परस्पर विरोधी सा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। समाज में साधारणतया स्वाभाविक परिवर्तन होता रहता है, किन्तु कभी-कभी क्रान्ति के द्वारा भी सहसा परिवर्तन आता है। क्रान्ति के द्वारा आया परिवर्तन क्षणिक होता है। समाज फिर अपनी सहज गति से चलने लगता है, तो भी उस पर क्रान्ति अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इस क्रान्ति की उद्भूति भी शनैः शनैः आयी हुई सहज स्वाभाविक परिस्थितियों में से ही होती है। केवल क्रान्ति से चिपके रहने वाला और इस सतत प्रवहमान धारा का साथ न देने वाला पिछड़ जाता है और उसे एकाकीपन महशूस न हो, इसके लिये वह अपने इर्द-गिर्द एक नये रूढिवादी समाज की रचना कर लेता है। सम्प्रदायों और नये वर्गों का इसी प्रकार सूत्रपात होता है। आज के कम्युनिज्म में इसकी परीक्षा का जा सकती है। यूरोप की औद्योगिक परिस्थितियों का उनकी स्वाभाविक गतिशीलता के साथ अध्ययन करने वाले दर्जनों विद्वानों के विचारों की पृष्ठभूमि में कार्ल मार्क्स ने 'कैपिटल' की रचना की और उसके आधार पर रूस में 'लाल क्रान्ति' हुई। क्रान्ति ने अपना काम किया। आज का पूरा समाज उससे प्रभावित है। उस क्रान्ति की अब कहीं आवश्यकता नहीं है। लेकिन एक वर्ग बन गया है, जो कि कैपिटल को किसी धर्म-ग्रन्थ से नीचा स्थान देने को तैयार नहीं है।

वैष्णव, शैव, बौद्ध, जैन तथा अन्य धार्मिक सम्प्रदाय भी इसी प्रकार की क्रान्तियों के सूचक हैं। इन क्रान्तियों के बाद इनके अनुरागियों के विभिन्न वर्ग बन गये, किन्तु समाज सतत गतिशील बना रहा और इन सभी क्रान्तियों की उस पर अमिट छाप पड़ी। भागवतकार ने इन सभी प्रभावों पर अनुकूल प्रतिक्रिया प्रकट की है और सामाजिक गतिशीलता का साथ कभी नहीं छोड़ा। इसीलिये वैष्णव आचार्यों ने इसे उपनिषत्, गीता और ब्रह्मसूत्र के साथ चतुर्थ प्रमाणभूत ग्रन्थ माना है। भारतीय इतिहास के मध्यकाल पर इसका अक्षुण्ण प्रभाव रहा है। आदर्श ग्रन्थ के रूप में यह अब भी अपनी समन्वय पद्धति के आधार पर नवीन भारतीय समाज की दृढ आधारशिला के रूप में प्रतिष्ठित है ।।

❃❃❃

तृतीय परिच्छेद

संस्कृति-संगम द्वितीय

- निगम और आगम में समन्वय
- दक्षिण भारत का भक्ति आन्दोलन
- काश्मीर शैवशास्त्र की सामयिक उपयोगिता
- सिद्ध और सहजयान
- तान्त्रिक योग की चरमोपलब्धि : विश्वाहन्ता
- बौद्ध एवं शैव-शाक्त तन्त्रों का समान दृष्टिकोण
- सन्त कबीर के प्रेरक तत्त्व

निगम और आगम में समन्वय

सन्त तुलसीदास अपने रामचरित मानस को नाना-पुराण-निगमागम-संमत बताते हैं। यहाँ निगम शब्द वैदिक वाङ्मय और आगम शब्द तन्त्रागम शास्त्र का सूचक है। इन शब्दों की प्रवृत्ति शास्त्रों में विभिन्न अर्थों में देखी जाती है। मनुस्मृति के भाष्यकार मेधातिथि "इतरेष्वागमाद् धर्मः" (१.८२) यहाँ आगम शब्द की व्याख्या करते समय उसको वेद का वाचक मानते हैं। निगम शब्द भी वेद का वाचक है, इसकी जानकारी "इत्यपि निगमो भवति" ऐसे अनेक निरुक्त-वाक्यों से मिलती है। महाभाष्य पस्पशाह्निक के—"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इस वाक्य को महामुनि पतंजलि आगम वाक्य कह कर उद्धृत करते हैं, जो कि स्पष्टतः श्रुतिवाक्य माना जाता है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि अपने ग्रन्थ में आगम शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर (१.२७, ३०,४१,१३३-१३४; २.४९०, ४९२-४९३) करते हैं। टीकाकार आगम पद से ऋषि-प्रणीत शास्त्रों और निगम पद से अपौरुषेय वेदों का ग्रहण करते हैं।

कश्मीर के महान् आगमाचार्य तान्त्रिकप्रवर श्रीमान् अभिनवगुप्तपादाचार्य भी निगम पद के इसी अर्थ को मान्यता देते हैं। वे ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (भा.१, पृ. १५) में निगम पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि धर्म को समझने के लिये हमारे जानने लायक उपायों की निश्चित सूचना देने वाला शास्त्र निगम, अर्थात् वेद है।

आगम पद की व्याख्या वे भिन्न पद्धति से करते हैं। तन्त्रालोक (३५.१-२) में वे कहते हैं कि आगम शास्त्र में समस्त जागतिक ज्ञान, पुरातन व्यवहार और प्रसिद्धि को आगम नाम से जाना जाता है। प्रसिद्धि की भी परिभाषा उन्होंने वहीं (२५.१९) बताई है कि प्रामाणिक व्यक्ति द्वारा उपदिष्ट वचन ही प्रसिद्धि की परिधि में आ सकते हैं। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में वे कहते हैं कि आगमीय ज्ञान की संक्रान्ति एक शरीर से दूसरे शरीर में (गुरु से शिष्य तक) शब्द के माध्यम से होती है। इसमें वे भगवान् अनन्त के वाक्य को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं कि दूसरे व्यक्ति तक अपने ज्ञान को पहुँचाने के लिये शब्द से सहायता ली जाती है। योगसूत्र-व्यासभाष्य (१.७) में यह वचन आनुपूर्वी से मिल जाता है। इस विषय को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि आगम पद उस व्यक्ति के लिये उसी शास्त्र का वाचक मान लिया जायगा, जिस पर कि उसका विश्वास जम गया हो। वे पुनः कहते हैं कि बुद्ध कोई निश्चित व्यक्ति नहीं है, अपनी भावना के सहारे क्षणिकवाद में जो दृढ आस्था जमा लेता है, वही बुद्ध हो जाता है। वर्तमान बुद्ध में इस ज्ञान का संचार पूर्व बुद्ध ने किया था और उसमें भी उसके पूर्ववर्ती बुद्ध ने। इस तरह से पारमेश्वरी विमर्श शक्ति ही वस्तुतः

अन्ततः इस ज्ञान की भी उपदेष्ट्री सिद्ध होती है। इसी तरह से प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वों की भावना का उपदेश देने वाले कपिल के विषय में भी समझना चाहिये। कहने का अभिप्राय यह है कि सभी आगम अनादि काल से गुरुशिष्यपरम्परा के माध्यम से निरन्तर चले आ रहे है। इस प्रकार सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत, बौद्ध, जैन आदि सभी शास्त्रों का आगमशास्त्र में समावेश किया जा सकता है।

इस प्रसंग में अभिनवगुप्त ने वराहमिहिर के उस प्रसिद्ध श्लोक को भी उद्धृत किया है, जिसमें भागवत, सौर, शैव आदि उपास्य देवों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि जो व्यक्ति जिस देव की उपासना करता है, उसको यह उपासना उक्त शास्त्र में प्रदर्शित पद्धति के अनुसार ही करनी चाहिये (ई० प्र० वि० वि०, भा.३, पृ. १००)।

आजकल आगम और निगम के लक्षणों को बताने वाले दो श्लोक बहुत जगह उद्धृत मिलते हैं। उनका भाव यह है कि शिव के मुँह से निकल कर गिरिजा के कान तक पहुँचे तथा वासुदेव के संमत शास्त्र आगम कहलाते हैं और गिरिजा के मुँह से निकल कर शिव के कान तक पहुँचे और वासुदेव के संमत शास्त्र निगम कहलाते हैं। इस लक्षण के अनुसार शिवोपदिष्ट शास्त्र आगम और देवी के द्वारा उपदिष्ट शास्त्र निगम कहलाते हैं। इसी परिभाषा के अनुसार कलकत्ता से प्रकाशित कुलचूडामणि ग्रन्थ को निगम के नाम से प्रसिद्ध किया गया है। यह परिभाषा वाराहीतन्त्र में उपदिष्ट प्रतीत होती है। शाक्त तन्त्रों की एक शाखा क्रममत के नाम से प्रसिद्ध है। इस शास्त्र का उपदेश भगवती शिव को देती है। ऊपर की परिभाषा के अनुसार इसका निगम विभाग में परिगणन होना चाहिये, किन्तु क्रमदर्शन के सभी आचार्यों ने इसको आगम पद से ही संबोधित किया है। इस तरह से हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण तान्त्रिक वाङ्मय आगम पद से और वैदिक वाङ्मय निगम पद से संबोधित हुआ है। प्रायः आजकल ये दोनों शब्द इन्हीं अर्थों में रूढ हो गये हैं, ऐसा मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

आगम और निगम में समन्वय स्थापित करने का कार्य रामायण, महाभारत और पुराणों के अतिरिक्त धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों द्वारा भी बहुत पहले ही किया जा चुका है। भगवद्गीता को हम इसके उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में रख सकते हैं। महाभारतकार ने वेद के साथ सांख्य, योग, पाशुपत और पांचरात्र मत को समान प्रमाणकोटि में रखा है। कालिदास जब कहते हैं —

बहुधा ह्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ।। (१०.२६)

पुष्पदन्त जब कहते हैं—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने ....

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।। (श्लो. ७)

और वीरमित्रोदयकार जब पूछते हैं— "ननु सांख्ययोगपाञ्चरात्रपाशुपताद्यागमाः किं धर्मे प्रमाणमुत न"? तब वे इन सब शास्त्रों में समन्वय की बात को ही प्रतिष्ठापित करते हैं, क्योंकि परस्पर समन्वय के आधार पर ही इन सब शास्त्रों का प्रामाण्य सिद्ध किया जा सकता है।

पुराण वेदार्थ के उपबृंहक हैं, इस विषय पर तो अनेक विद्वानों ने विचार किया है, किन्तु पुराणों में आगमार्थ का भी उपबृंहण हुआ है, इस विषय पर अभी विचार नहीं के बराबर हुआ है। "आगम आणि तन्त्रशास्त्र" शीर्षक मराठी निबन्ध में हमने बताया है कि अग्निपुराण के ३९-७० अध्याय 'हयशीर्ष पंचरात्र' के आदिकाण्ड से तथा वहीं के ७१-१०६ अध्याय सोमशम्भुकृत कर्मकाण्डक्रमावली से मिलते-जुलते हैं, जिसका कि यह प्रकरण, संवत् ११३० में लीलावती शिवागम की सहायता से लिखा गया है। वैरोचनकृत प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (२.१७९-१८१) में शिवोक्त २१ प्रतिष्ठा-तन्त्रों के नाम दिये गये हैं। ये नाम शैवागमों तथा उपागमों की अथवा उपपुराणों की सूचियों में मिलते हैं। यहाँ (२.१५६) बताया गया है कि लिंग, प्रासाद, द्वार, मण्डप आदि के बनाने और उनकी प्रतिष्ठा करने की विधि वेद में वर्णित नहीं है। बृहन्नारदीयपुराण (२.२४.९-२१) में भी उन विषयों की सूची दी गई है, जिनका कि वर्णन वैदिक वाङ्मय में नहीं है। पुराणों में वे सब विषय आगम अथवा तन्त्रशास्त्र से ही लिये गये हैं।

भविष्यपुराण (२.१.११.१) में वृक्ष, आराम (उद्यान), वापी, कूप, तडाग आदि की प्रतिष्ठा तान्त्रिक विधि के अनुसार बताई गई है। इष्ट और पूर्त — ये दो धर्म के अंग माने गये हैं। भोजदेव के तत्त्वप्रकाश के व्याख्याकार कुमारदेव का कहना है कि इष्ट वैदिक धर्म का और पूर्त तान्त्रिक धर्म का अंग है। हम कह सकते हैं कि इष्ट पारलौकिक धर्म है और पूर्त ऐहलौकिक। पुराणों में इष्ट और पूर्त दोनों ही प्रकार के धर्मों का विशद वर्णन मिलता है। इस तरह से मूर्ति, प्रासाद आदि का निर्माण और प्रतिष्ठा का तथा वापी, कूप, तडाग आदि का निर्माण और प्रतिष्ठा का वर्णन प्रधानतः तन्त्र और आगम-शास्त्र का विषय है।

बृहन्नारदीय पुराण (१.६३.१३) में पति-पशु-पाशात्मक तथा ज्ञान-योग-क्रिया-चर्यात्मक शैवागम प्रतिपादित विषयों का वर्णन मिलता है। कूर्मपुराण की ईश्वरगीता में भी स्पष्ट ही शैव सिद्धान्तों की छाप है। वैष्णवागमों का चतुर्व्यूह सिद्धान्त और प्रादुर्भाव सिद्धान्त महाभारत नारायणीयोपाख्यान, पद्मपुराण आदि में स्पष्ट ही उपबृंहित हुआ है। पुराणों में शिव और नारायण की एकता ही नहीं प्रतिपादित है, किन्तु शक्ति, स्कन्द, गणेश, सूर्य आदि की भी उपासना पंचायतन पूजा के अन्तर्गत समन्वित रूप में प्रपंचसार और शारदातिलक की पद्धति से वर्णित है। इस तरह से यह निश्चित हो जाता है कि पुराणों की प्रवृत्ति निगमागम धर्म में समन्वय स्थापित करने के लिये हुई थी।

ऐसा होने पर भी पुराणों में वैदिक दृष्टि को ही प्रधानता दी गई है। यहाँ वेदों को सर्वोपरि प्रमाण माना है और वर्णाश्रम की व्यवस्था को पूरी तरह से स्वीकार किया गया है। आगम की दृष्टि इस विषय में भिन्न है। यहाँ शास्त्रों का उत्तरोत्तर प्रामाण्य और मानव मात्र को मोक्ष का अधिकारी माना गया है, केवल त्रैवर्णिक को नहीं। भगवती गीता कहती है— "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्"। इसी दृष्टि का प्रतिपादन आगम-शास्त्र करते हैं। महाभारत और पुराणों की रचना भी इसी दृष्टि को पल्लवित करने के लिये हुई है। पुराण ब्रह्मा, विष्णु और महेश को एक ही ब्रह्म की तीन मूर्तियाँ मानते हैं। नारदपुराण (१.६३.१२)में पाशुपत तन्त्र को भागवत तथा भगवान् शिव को विष्णु बताया गया है। इस दृष्टि को आगम-शास्त्र और आगे बढाते हैं। स्पन्दप्रदीपिका (पृ. ९२) में उद्धृत मायावामनसंहिता का कहना है कि विष्णु, शिव, सूर्य, बुद्ध आदि के रूप में भगवान् एक ही हैं। नेत्रतन्त्र के १३वें अधिकार में जयाख्या, मायावामनिका, सौरसंहिता आदि के प्रमाण पर इनकी पूजाविधि भी वर्णित है। पांचरात्र-संमत षाड्गुण्य विष्णुपुराण में इस तरह से वर्णित है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।।

शैवागम-संमत षाड्गुण्य का वायुपुराण में इस तरह से वर्णन मिलता है —

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ।।

वैष्णव और शैव दृष्टि में समन्वय की स्थापना करने वाले कश्मीरी विद्वान् उत्पल वैष्णव अपनी स्पन्दप्रदीपिका (पृ. १०३) में उभयविध षाड्गुण्य में समन्वय स्थापित करते हैं। वायुपुराण (१०४.१६) में ब्राह्म, शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त और आर्हत नाम के छः दर्शनों को मान्यता दी गई है। शक्तिसंगमतन्त्र (१.३.८५-८८) में तारा, त्रिपुरा और छिन्ना के भेद से छः छः दर्शनों का वर्णन है, जिनमें बौद्ध और जैन दर्शन भी समाविष्ट हैं।

स्पष्ट है कि आगम और निगम में समन्वय का कार्य पुराण-वाङ्मय द्वारा तथा अनेक आगमाचार्यों द्वारा बहुत पहले किया जा चुका है। *हम आगम और निगम शब्दों की नई व्याख्या कर पूरे जागतिक ज्ञान का इनमें समावेश कर सकते हैं।* प्रायः प्रत्येक धर्म की यह मान्यता है कि ईश्वर ने, किसी अलौकिक शक्ति ने प्रत्येक धर्म की प्रतिष्ठा की है और उसी शक्ति ने मनुष्य को ज्ञान भी दिया है। ऐसे अलौकिक ज्ञान को हम निगम विभाग के अन्तर्गत रख सकते हैं और दिव्यौघ, सिद्धौघ तथा मानवौघ परम्परा द्वारा प्राप्त ज्ञान को आगम विभाग के अन्तर्गत। रामायण, महाभारत, भगवद्गीता आदि में किये गये निगमागम धर्म के समन्वय में निगम दृष्टि की प्रधानता रही है, किन्तु अभी हमने जिस निगमागम विभाग की चर्चा की

है, उनमें परस्पर समन्वय का आधार आगम दृष्टि ही हो सकती है, जो कि मानवमात्र को ज्ञान का, मुक्ति का अधिकारी मानती है। मुकुटसंहिता का कहना है कि ब्राह्मण पाप कर्म में प्रवृत्त रहता है और शूद्र सन्मार्ग पर चलता है। ऐसी स्थिति में किसी जाति को सदाचरण और दुराचरण का आधार नहीं माना जा सकता। मुकुटसंहिता का ही कहना है —

द्विजोऽपि मायी त्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमायकः ।
स प्रियस्तु महेशस्य चतुर्वेदो न दाम्भिकः ।।

अर्थात् द्विज भी यदि कपटपूर्ण व्यवहार करता है, तो उसका परित्याग कर देना चाहिये और म्लेच्छ यदि पवित्र मन का है, तो उसका संग्रह होना चाहिये। पवित्र आचरण वाला म्लेच्छ शिव को प्रिय है, चारों वेदों का अध्ययन करने वाला दंभी ब्राह्मण नहीं। *इसी आगमिक दृष्टि को आगे कर हम आज सभी धर्मों में समन्वय स्थापित कर सकते हैं ।।*

●

दक्षिण भारत का भक्ति आन्दोलन

एक समय ऐसा था, जब कि पूरे भारत में भक्ति के आन्दोलन की शीतल धारा प्रवाहित हो रही थी। इसका मूल प्रेरणास्रोत दक्षिण भारत के भक्ति आन्दोलन को माना जाता है। [१]दक्षिण भारत के भक्तों की भागवत महापुराण में भी प्रशंसा की गई है। ऐसे अनेक [२]वचन संस्कृत तथा इतर भाषाओं में भी मिलते हैं, जिनका अभिप्राय यह है कि भक्ति द्रविड देश में उत्पन्न हुई। कर्णाटक और गुजरात होते हुए वह वृन्दावन पहुँची तथा वहीं से यह सारे देश में फैली। यह बात कहाँ तक सच है? प्रस्तुत निबन्ध में इसकी परीक्षा करने का प्रयास किया जा रहा है।

---

१. कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ।
क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः ।।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी ।
कावेरी व महापुण्या प्रतीची च महानदी ।।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर ।
(भाग० ११.५.३८-४०)

२. उत्पन्ना द्रविडे साऽहं वृद्धिं कर्णाटके गता ।
क्वचित् क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ।।....
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी ।
जाताऽहं युवती सम्यक् प्रेष्टरूपा च साम्प्रतम् ।।
(भा० माहात्म्य, १.४८-५०)

वैसे तो भक्ति-सम्प्रदाय की भी उत्पत्ति वेद से ही मानी जाती है, किन्तु विष्णु-शिव, राम-कृष्ण सम्बन्धी जिस भक्ति की हम विवेचना करना चाहते हैं, उसका स्पष्ट स्वरूप वहाँ लक्षित नहीं होता। हाँ, विष्णु और शिव की भक्ति के अद्यावधि परिज्ञात प्राचीनतम रूप, पांचरात्र और पाशुपत मत की कुछ झलक हमें वहाँ देखने को मिल जाती है। [१]शतपथ ब्राह्मण में पांचरात्र सत्र का उल्लेख है और [२]छान्दोग्य उपनिषद् में [३]एकायन विद्या का, जो कि एक प्रकार से पांचरात्र संहिताओं का पर्यायवाची शब्द है। वहाँ [४]घोर आंगिरस द्वारा देवकीपुत्र कृष्ण को दिये गये उपदेश में सत्य और अहिंसा का भी समावेश है, जो कि पांचरात्र मत के मूल सिद्धान्त हैं। इसी तरह से कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद के [५]रुद्राध्याय तथा [६]कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में रुद्र के ईशान, तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव—इन नामों के साथ आये पांच मन्त्रों में जिनका कि समावेश पुष्पांजलि मन्त्रों में आज भी प्रचलित है, शिव के जिन पाँच स्वरूपों की स्तुति की गई है, वे ही परवर्ती पाशुपत मत के मूल आधार हैं। तो भी आज उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में पांचरात्र और पाशुपत मतों का वह स्वरूप नहीं देखने को मिलता, जो कि इन सम्प्रदायों के वर्तमान में उपलब्ध साहित्य में देखने को मिलता है।

महामुनि[७] पाणिनि और पतंजलि के ग्रन्थों तथा प्राचीन [८]शिलालेखों में शिव-भागवतों और वासुदेव-संकर्षण के उपासकों का उल्लेख मिलता है। [९]महाभारत में भी इन दोनों

---

१. शतपथ ब्राह्मण, १०.३.४; १३.६.१

२. छान्दोग्य उपनिषद्, ७.१.२

३. एष एकायनो वेदः ···· मूलवेदानुसारेण छन्दसाऽऽनुष्टुभेन च ।।
सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्येत्येवमादिकम् ।
दिव्यं सच्छास्त्रजालं तदुक्त्वा सङ्कर्षणादिभिः ।।
प्रवर्तयामास भुवि सर्वलोकहितैषिभिः ।
(ईश्वरसंहिता, १.४३,५०-५१)

४. छान्दोग्योपनिषद्, ३.१७.१-६

५. तैत्तिरीय संहिता, चतुर्थ काण्ड पंचम प्रपाठक तथा माध्यन्दिन संहिता, १६ वाँ अध्याय।

६. मैत्रायणी संहिता, २.९.१; २.९.१०; तैत्तिरीयारण्यक १०.४३-४७

७. पाणिनि की अष्टाध्यायी ४.३.९८ एवं ५.२.७६ तथा उस पर पतंजलि का महाभाष्य द्रष्टव्य।

८. घोसुण्डी शिलालेख तथा बेसनगर शिलालेख का विवरण द्रष्टव्य — वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ. ३-४

९. उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः ।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः ।।
पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम् ।
(शान्तिपर्व, ३४९.६७-६८)

सम्प्रदायों का तथा उनके सिद्धान्तों[१] का वर्णन किया गया है। पांचरात्र (वैष्णव) संहिताओं और शैवागमों का प्रादुर्भाव किन परिस्थितियो में कब हुआ, यह कह पाना तो कठिन है, किन्तु [२]धर्मशास्त्रकारों ने धर्म का निर्णय करने में इनको भी एकमत से प्रमाण माना है। मूर्तियों और मन्दिरों की निर्माणविधि तथा पूजापद्धति का विशद वर्णन इन्हीं में मिलता है। इन शैव और वैष्णव आगमों के अध्ययन से ऐसा भासित होता है कि इनका आविर्भाव भी पुण्यभूमि आर्यावर्त में ही हुआ। [३]अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने इसको स्वीकार किया है, किन्तु आज इन आगमों का परम्परागत अध्ययन केवल दक्षिण भारत में ही सुरक्षित है। ऐसा कहा जा सकता है कि भारतीय भक्ति सम्प्रदाय के मूल प्रेरणास्रोत ये आगम ग्रन्थ ही हैं।

दक्षिण भारत में जब आलवारों का वैष्णव भक्ति आन्दोलन और नायनारों का शैव भक्ति आन्दोलन चल रहा था, लगभग उसी समय उत्तर भारत में सिद्धाचार्यों का रहस्यवादी भक्ति आन्दोलन अपने चूड़ान्त उत्कर्ष तक पहुँच चुका था। इनमें कुछ समानताएँ और कुछ असमानताएँ थी। ये सभी लोग इस बात को मानते थे— ''जात-पात पूछे नहि कोई। हरि को भजे सो हरि को होई।'' इसीलिये इन सभी सम्प्रदायों में सभी वर्णो और धर्मों के उच्च कोटि के भक्तों और सिद्धों को समान आदर के साथ एक ही 'भक्तमाल' में पिरोया गया है। इनकी सबसे बडी असमानता यह थी कि दक्षिण भारत के भक्ति आन्दोलन का प्रेरणास्रोत आगम ग्रन्थ थे, तो उत्तर भारत के सिद्धाचार्य रहस्यवादी तन्त्रशास्त्रों (बौद्ध, शैव और शाक्त) से प्रभावित थे। ऐसा कहा जा सकता है कि आगम ग्रन्थों में सात्त्विक भाव की प्रधानता है, जबकि रहस्यवादी तन्त्रशास्त्र राजस और तामस भावों को अधिक उद्वेलित करता है। इसी विषमता का यह परिणाम हुआ कि अपनी शुद्ध सात्त्विकता के आधार पर दक्षिण भारत में प्रादुर्भूत भक्ति आन्दोलन पूरे भारत में फैल गया। इसका श्रेय दक्षिण भारत के वैष्णव सन्तों (आलवारों) के साथ उन आगम ग्रन्थों को मिलना चाहिये, जिनकी कि एक लम्बी परम्परा रही है और जिन्होंने विषम परिस्थितियों में उपनिषदों की परम्परा को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

---

१. पांचरात्र मत का महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान (अध्याय ३३४-३५१, गीता प्रेस, गोरखपुर संस्करण) में तथा पाशुपत मत का अनुशासन पर्व (अध्याय १४-१८) में विस्तार से वर्णन है।

२. अपरार्क कृत याज्ञवल्क्यस्मृतिटीका, भा० १, पृ. १०-१९ (आनन्दाश्रम संस्करण, पूना, सन् १९०३) तथा वीरमित्रोदय, परिभाषा प्रकरण, पृ. २० (वाराणसी संस्करण, सन् १९०३) द्रष्टव्य।

३. ''निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेशः'' (तन्त्रालोक, ३७.३८) अभिनवगुप्त की इस उक्ति से भी ज्ञात होता है कि समस्त शास्त्रों की उद्भवभूमि मध्यदेश है। इन शास्त्रों में दीक्षा देने वाला सर्वश्रेष्ठ अधिकारी आर्यावर्त का आचार्य ही माना गया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मध्यदेश के ही आचार्य मालवा, गुजरात, कर्णाटक, कश्मीर, बंगाल आदि प्रदेशों में वहाँ के शासकों के द्वारा सादर आहूत होकर फिर वहीं बस गये थे।

[१]आवाप और उद्वाप की प्रक्रिया के आधार पर भारतीय संस्कृति का विकास हुआ है। बौद्ध और जैन धर्म ने जब हिंसाबहुल कर्मकाण्ड के साथ वेदों का भी विरोध किया, तो आगम ग्रन्थों के माध्यम से एक नई पूजाविधि का आलोक फैला और बौद्ध एवं जैन धर्म भी उससे अछूते न रह सके। वैदिक संस्कृति के सभी उत्कृष्ट तत्त्वों का इसमें समावेश था। इसी तरह से आगम और तन्त्रशास्त्र के कर्मकाण्ड में भी अत्यधिक जटिलता आ जाने पर भक्ति आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें कि भावना पर अधिक बल दिया गया, चित्त[२] के परिष्कार को सर्वोत्तम विधि माना गया। योगवाशिष्ठ को हम इस शास्त्र का सर्वोत्तम ग्रन्थ मान सकते हैं। यों तो इस प्रक्रिया का आरम्भ भगवद्गीता में ही हो चुका था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस भावना-पद्धति का स्पष्ट विकास प्रधानतया आगम ग्रन्थों के आधार पर दक्षिण भारत में हुआ।

दक्षिण भारत की इस भावना के प्रतिनिधि वैष्णव सन्त आलवार के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके वचनों को तमिल वेद की संज्ञा दी गई है। इनकी संख्या १२ है। शैव सन्त नायनार के नाम से जाने जाते हैं। इनकी संख्या ६३ है। जैन धर्म में भी ६३ शलाकापुरुषों का वर्णन मिलता है। ऊपर सिद्धाचार्यों की चर्चा आ चुकी है। इनकी संख्या ८४ थी। ऐसा कहा जाता है कि इनमें प्रधानत: बौद्ध मत के अनुयायी थे। इस तरह से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस भक्ति आन्दोलन में सभी धर्मों और वर्णों के महान् सन्तों ने अपना योगदान किया था। वर्णाश्रम-व्यवस्था में भी यद्यपि ऊँच-नीच की कोई भावना नहीं है, किन्तु कालान्तर में उपस्थित इस दोष का परिमार्जन इन सन्तों की वाणी से हुआ है। औपनिषद ब्रह्मभावना का, जो कि ''अहं ब्रह्माऽस्मि, शिवोऽहम्, वसुधैव कुटुम्बकम्'' आदि रूपों में श्रुति, आगम और पुराण वचनों में मिलता है, इन सन्तों की वाणियों में और व्यक्तिगत जीवन में भी चूडान्त उत्कर्ष देखने को मिलता है।

शाक्त उपासना के क्षेत्र में भी दक्षिण भारत का अपना विशेष स्थान है। शक्तिपूजा की तीन विधियाँ प्रचलित हैं। इनको केरल, काश्मीर और गौड सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है। इन सम्प्रदायों की पूजाविधि का शक्तिसंगम[३] तन्त्र में विस्तार से वर्णन मिलता है। [४]इस तन्त्र में भारतवर्ष को ५ प्रस्थों और ५६ देशों में बाँटा गया है। इनमें से अंग

---

१. द्रष्टव्य—''प्राचीन भारतीय विद्येचे पुनर्दर्शन'' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित ''आगम आणि तन्त्रशास्त्र'' नामक मराठी निबन्ध (पृ० १८१-१९६)। वेदशास्त्रोत्तेजक सभा, पूना, सन् १९७८

२. ''विष्ठापूर्णे मृद्घटे तु बहि: शुद्धौ तु किं फलम्।। अन्त:शुद्धिं समासाद्य बहि:शुद्धिं समाचरेत्।।'' (शक्तिसंगमतन्त्र, ४.११.७४-७५)।

३. द्रष्टव्य—शक्तिसंगमतन्त्र, चतुर्थ छिन्नमस्ता खण्ड, उपोद्घात, पृ. ३०-३२, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बडोदा, सन् १९७८

४. शक्तिसंगमतन्त्र में ३.८.१-२२ पर प्रस्थव्यवस्था और ३.७.१५-७३; ४.२.१६-३२ पर देशव्यवस्था प्रकरण में इनका वर्णन किया गया है।

से मालव पर्यन्त १९ प्रदेशों में केरल सम्प्रदाय का प्रचलन बताया गया है और इन तीनों सम्प्रदायों में केरल सम्प्रदाय को ही प्रधान माना गया है। दक्षिण भारत में श्रीचक्र और भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना भगवत्पाद शंकराचार्य द्वारा सौन्दर्यलहरी में प्रतिपादित समय मार्ग के अनुसार सम्पन्न होती है। यह समय मार्ग ही केरल सम्प्रदाय के नाम से प्रचलित है। इसी को दक्षिण मार्ग भी कहते हैं। यह भावना-प्रधान मार्ग है। इसमें आन्तर वरिवस्या को प्रधानता दी गई है। यह आन्तर वरिवस्या कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् कर षट्चक्र का भेदन कर सहस्रार कमल में कुलकुण्डलिनी का अकुल शिव के साथ सामरस्य का सम्पादन कर पूरी की जाती है। यह एक यौगिक प्रक्रिया है।

शैव-शाक्त दर्शन में शिव पंचकृत्यकारी माना जाता है। सृष्टि, स्थिति, संहार के अतिरिक्त निग्रह और अनुग्रह भी उसके कृत्य हैं। ईश्वर का अनुग्रह होने पर, जिसको कि इस दर्शन में शक्तिपात नाम दिया गया है, योग्य गुरु की उपलब्धि होती है और उसी की कृपा से इस योगविधि का रहस्य खुल सकता है। साधारण साधक इस मार्ग पर नहीं चल सकता, अत: योग्यता सम्पादन के लिये उसको बाह्य वरिवस्या का सहारा लेना पड़ता है। केरल मार्ग, समय मार्ग, दक्षिण मार्ग में यह उपासना सात्त्विक द्रव्यों के द्वारा सम्पादित होती है। पंचतत्त्व की उपासना में भी यहाँ दुग्ध आदि सात्त्विक द्रव्यों के ग्रहण की अनुकल्प विधि प्रतिपादित है।

शाक्त उपासना अधिकारी के भेद से नाना प्रकार के विधि-विधानों से विभूषित है। मानवमात्र के कल्याण में यह प्रवृत्त है। अत्यन्त निम्न स्तर के मानवों का भी उद्धार करने के लिये, उनके मन को परिष्कृत करने के लिये, उनकी आध्यात्मिक उन्नति का पथ प्रशस्त करने के लिये, इनके लिये विहित साधना में पंचतत्त्व का विधान किया गया है, जिससे कि वे अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते हुए भी उस उच्च स्थिति तक पहुँच सकें, जब कि साधक "अहं ब्रह्मास्मि, शिवोऽहम्" इन वाक्यों में प्रतिपादित ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है, उसमें [१]विश्वाहन्ता का विकास होता है। इस साधना विधि को दक्षिण भारत में उजागर करने वाले अनेक विद्वान् हुए हैं, जिनमें शिवानन्द, पुण्यानन्द, अमृतानन्द, महेश्वरानन्द आदि के नाम अग्रगण्य हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने भगवद्गीता पर ज्ञानेश्वरी टीका लिखते समय इन्हीं आचार्यों की दृष्टि का अनुसरण किया है।

आजकल समाजवाद और साम्यवाद की बड़ी चर्चा की जाती है। पाश्चात्त्य संस्कृति की यह अद्भुत देन मानी जाती है। किन्तु हम यह भूल जाते हैं कि भारतीय तन्त्रशास्त्र में यह दृष्टि बहुत पहले ही विकसित हो चुकी थी। शक्तिसंगमतन्त्र (२.१८.२१) में समताष्टक मार्ग की चर्चा आती है। समताष्टक मार्ग का अभिप्राय उस सम्प्रदाय से है, जो कि आठ

---

१. तान्त्रिक योग की चरमोत्पलब्धि : विश्वाहन्ता (पृ. ६६-६९) शीर्षक निबन्ध देखिये।

प्रकार की समता में विश्वास करता है। इस समताष्टक मार्ग की व्याख्या दक्षिण भारत के महान् शाक्त आचार्य महेश्वरानन्द ने अपने ग्रन्थ महार्थमंजरी की स्वोपज्ञ[1] परिमल टीका में की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति आन्दोलन की सभी विधाओं के उन्नयन में दक्षिण भारत का अपना विशेष योगदान है ॥

●

काश्मीर शैवशास्त्र की सामयिक उपयोगिता

काश्मीर शैवशास्त्र का प्रादुर्भाव आज से बारह सौ वर्ष पहले अवश्य हो चुका था। आज भी इसकी उतनी ही उपयोगिता है, जैसी कि उस समय रही होगी। हम आगम की परिभाषा को ही लें। अभिनवगुप्त ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में कहते हैं कि आगमीय ज्ञान की संक्रान्ति एक शरीर से दूसरे शरीर में (गुरु से शिष्य तक) शब्द के माध्यम से ही होती है। यहाँ वे भगवान् अनन्त के एक वाक्य को प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हैं कि दूसरे व्यक्ति तक अपने ज्ञान को पहुँचाने के लिये शब्द से सहायता ली जाती है। योगसूत्र के व्यासभाष्य (१.७) में यह वाक्य आनुपूर्वी से मिलता है। इस विषय को आगे बढाते हुए वे कहते हैं कि आगम पद उस व्यक्ति के लिये उसी शास्त्र का वाचक मान लिया जायगा, जिस पर कि उसका विश्वास जम गया हो।

समन्वयात्मक दृष्टिकोण

अपने उसी ग्रन्थ में अभिनवगुप्त बुद्ध और कपिल के उपदेशों को एक सी मान्यता देते हैं। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि सभी आगम (शास्त्र) अनादि काल से गुरुशिष्यपरम्परा के माध्यम से निरन्तर चले आ रहे हैं। इस प्रकार सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत, बौद्ध और जैन ही क्यों, हम वर्तमान सभी धर्म-ग्रन्थों को आगम कोटि की मान्यता दे सकते हैं। अभिनवगुप्त वराहमिहिर के उस प्रसिद्ध श्लोक को भी उद्धृत करते हैं, जिसमें भागवत, सौर, शैव आदि सम्प्रदायों के उपास्य देवों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि

---

१. समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वशः ।
समता सर्वदृष्टीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः ॥
भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां च सर्वशः।
समता सर्वदेवानां वर्णानां चैव सर्वशः ॥
(पृ. १६८ काशी संस्करण)। ये ही श्लोक तन्त्रालोक की जयरथकृत टीका में भी उद्धृत हैं। (द्रष्टव्य — तन्त्रालोक, तृतीय खण्ड, चतुर्थ आह्निक, पृ. ३०४)।

जो व्यक्ति जिस देव की उपासना करता है, उसकी यह उपासना उस शास्त्र में प्रदर्शित पद्धति से ही होनी चाहिये। मोक्षकारिका की वृत्ति में भट्ट रामकण्ठ का कहना है कि शैवशास्त्र अन्य दर्शनों को असत्य नहीं मानता, इस विषय का प्रतिपादन उन्होंने सर्वागमप्रामाण्य नामक ग्रन्थ में किया है। स्पन्दप्रदीपिका में उत्पल वैष्णव ने मायावामनसंहिता को उद्धृत करते हुए कहा है कि एक ही भगवान् विष्णु, शिव, सूर्य, बुद्ध आदि अनेक नामों से पुकारे जाते हैं। नेत्रतन्त्र के तेरहवें अधिकार में वही बात विस्तार से बताई गई है। महेश्वरानन्द ने भी महार्थमंजरी की स्वोपज्ञटीका में इस विषय को उठाया है। बौद्ध-जैन और शैव-शाक्त सम्प्रदायों में आत्मसप्तति, आत्मसंबोध (स्वात्मसंबोध), इष्टोपदेश, चन्द्रगर्भ, ज्ञानसार आदि विभिन्न ग्रन्थ-नामों का समान रूप से उपयोग किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय इन सम्प्रदायों में समन्वयवादी दृष्टिकोण का उन्मेष हो चुका था, जो कि आज की परिस्थितियों में भी उतना ही क्या, उससे भी अधिक उपयोगी है।

ग्रहाष्टक अथवा पाशाष्टक

तन्त्रालोक (१५.५९५-५९६) में कुलगुह्वर शास्त्र और निशिसंचार शास्त्र के प्रमाण से जाति, विद्या, कुल, आचार, देह, देश, गुण और अर्थ प्रयुक्त आठ प्रकार के आग्रहों (दुराग्रहों) की चर्चा कर बताया गया है कि इनके कारण व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान नहीं पाता, अतः ये सर्वथा त्याज्य हैं। कुलार्णव तन्त्र (१३.९०) में घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, जाति और शील नामक आठ पाश वर्णित हैं। महार्थमंजरीपरिमल (पृ. १४५) और योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ८१) में भी यह श्लोक उद्धृत है, किन्तु दीपिकाकार ने इसको अभियुक्तवचन माना है, जबकि कुलार्णव तन्त्र ईश्वरप्रोक्त है। इनमें से जातिग्रह और शंका का शैवशास्त्रों में विशेष रूप से वर्णन मिलता है।

जातिग्रह

तन्त्रालोक (१५.५९७-६०४) में निशिसंचार, कुलगुह्वर, स्वच्छन्दतन्त्र, आनन्दशासन और नकुलेश के प्रमाण से जातिग्रह की हेयता को दिखाया गया है। परात्रीशिका की व्याख्या (पृ. २३७) में अभिनवगुप्त का कहना है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियाँ कल्पित हैं, इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। अपनी इस उक्ति के समर्थन में उन्होंने मुकुटसंहिता को उद्धृत किया है। तन्त्रालोक (१५.५१३-५१७) में भी मोक्षधर्म (महाभारत शान्तिपर्व) और मुकुटसंहिता को उद्धृत कर यही बात कही गई है। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने इन वचनों का संग्रह किया है। जैसे कि —

शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् ।
अन्त्यजातोऽपि हीनाङ्गः साधकः स च मोक्षभाक् ।।

एभिर्गुणैर्वियुक्तात्मा ब्राह्मणोऽपि न मोक्षभाक् ।
द्विजोऽपि मायी त्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमायकः ।।
स प्रियस्तु महेशस्य चतुर्वेदो न दाम्भिकः । ....
ब्राह्मणेन कृतं पापं शूद्रेण सुकृतं कृतम् ।।
किं तत्र कारणं जातिर्धर्माधर्मेषु शस्यते ।।

स्वच्छन्दतन्त्र (४.५४०-५४६) के ये वचन भी इस प्रसंग में दर्शनीय हैं —

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चान्येऽथवा प्रिये ।
सर्वे ते समधर्माणः शिवधर्मे नियोजिताः ।।......
एकैव सा स्मृता जातिर्भैरवीया शिवाव्यया ।
तन्त्रमेतत् समाश्रित्य प्राग्जातिं नह्युदीयेत् ।। ....
प्राग्जात्युदीरणाद् देवि प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ।

महेश्वरानन्द ने भी महार्थमंजरीपरिमल (पृ.१४५) में ब्राह्मण, चाण्डाल आदि की व्यवस्था को त्याज्य माना है। कालपाद (कालोत्तर)संहिता (आगम) शिवदृष्टि में स्मृत है। क्षेमराज ने नेत्रतन्त्रोद्योत (१०.१०) में इसका एक वचन उद्धृत किया है, जिसके अनुसार श्वपचों (चाण्डालों) को भी दीक्षा का अधिकारी माना है। इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शास्त्र में जाति के अभिमान को दुराग्रहमात्र मान कर इसको हेय माना है। भारत हो या अन्य देश, आज जाति का यह दुराग्रह सर्वत्र विकट समस्या बन कर उपस्थित है। इसका निराकरण हम उक्त दृष्टिकोण के आधार पर ही कर सकते हैं। ''चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'' (४.१३) गीता की इस उक्ति का भी यही अभिप्राय है। यहाँ जन्म की अपेक्षा गुण और कर्म को वरीयता दी गई है।

शंका

जाति के समान ही शंका को भी पाश के अन्तर्गत माना गया है। शंका को यहाँ विशेष रूप से बन्धन का कारण माना है। यह शंका अज्ञान के कारण होती है। तन्त्रालोक (१२.२०-२५) और परात्रीशिकाविवृति (पृ. २३५-२३६) में सर्ववीरभट्टारक, क्रमसद्भाव, तत्त्वार्थचिन्तामणि, मतशास्त्र, निशाकुल आदि ग्रन्थों के प्रमाण से बताया गया है कि मन में उठने वाले नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों के जाल से घिरे हुए व्यक्ति को कभी शान्ति नहीं मिल सकती। मन्त्रशंका, आत्मशंका, द्रव्यशंका, भूतशंका, दिव्यकर्मशंका, तत्त्वशंका के नाम से यहाँ शंका के छः प्रकार वर्णित हैं। इस षड्विध शंका का परित्याग करने पर ही व्यक्ति को शान्ति मिल सकती है। आज भारतीय समाज पेयापेय, भक्ष्याभक्ष्य, विधिनिषेध, शुद्धि-अशुद्धि आदि के द्वन्द्वों में फँसकर नाना प्रकार की शंकाओं से घिरा हुआ है। इनसे घिरे होने के कारण ही भारतीय समाज आज विविध धार्मिक और सांस्कृतिक आक्रमणों का

सामना करने में अपने को अक्षम पा रहा है। *उसकी वह उर्वरा शक्ति समाप्त हो गई है, जिसके आधार पर कि इसने पूर्व काल में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों को आत्मसात् कर लिया था।*

अभिनवगुप्त ने तन्त्रसार (पृ. ३१-३२) में बताया है कि नाना प्रकार की शंकाओं से छुटकारा पाने के लिये व्यक्ति को याग, होम, जप, व्रत, योग आदि का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये, किन्तु वहाँ इनके बाह्य रूप की अपेक्षा आध्यात्मिक स्वरूप पर अधिक जोर दिया गया है। हम आज बाह्य कर्मकाण्डों के ही दास हो गये हैं। उसका फल यह हुआ कि भारतीय समाज पूरी तरह से पाखण्ड से घिर गया है और हमारी आध्यात्मिक गरिमा केवल पुस्तकों की अथवा कुछ धर्माचार्यों की वाणी की शोभा बढ़ाने तक ही प्राय: सीमित रह गई है। तन्त्रशास्त्र का कहना है कि विधि-निषेध, भक्ष्याभक्ष्य, शुद्धि-अशुद्धि की व्यवस्था का मानव की आध्यात्मिक उन्नति में कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। मन की पवित्रता पर ही यहाँ अधिक जोर दिया गया है और बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि जिस विधि से भी यह सम्भव हो सके, उसी विधि का वह सहारा ले।

शुद्धि और अशुद्धि

स्वायम्भुवागम के एक वचन में रागादिजनित चित्त की मलिनता को ही अशुद्धि माना है। विज्ञानभैरव (श्लो. १२०) में भी शुद्धि और अशुद्धि के इस आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक जोर दिया गया है। हमने मालिनीविजय, तन्त्रालोक, वीरावलीशास्त्र आदि के प्रमाण से इस ग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या में उक्त विषय पर विशद विचार किया है। तन्त्रालोक के चौथे और पन्द्रहवें आह्निक में शुद्धि और अशुद्धि के स्वरूप पर गम्भीर विचार छेड़ा गया है और आनन्दशास्त्र, मतशास्त्र, पूर्वशास्त्र तथा कुल, क्रम एवं त्रिकशास्त्र के अनेक वचनों को उद्धृत कर उक्त तान्त्रिक दृष्टि का सयुक्तिक समर्थन किया गया है। पर्यन्तपंचाशिका (श्लो. ९) में शुद्धि की परिभाषा देते हुए बताया गया है कि इदन्तारूप से भासित हो रहे समस्त जागतिक पदार्थों को स्वात्माहन्ता में समेट लेना ही वास्तविक शुद्धि है। महेश्वरानन्द (पृ. ४३) ने इस वचन को उद्धृत कर इसकी व्याख्या करते समय शुद्धि-अशुद्धि व्यवस्था का सुन्दर विवेचन किया है। आज शुद्धि और अशुद्धि की तन्त्रशास्त्रसंमत व्याख्या पर ही अधिक जोर देने की आवश्यकता है।

धर्मशास्त्रों में भी शारीरिक शौच को सामान्य धर्म और तत्त्वज्ञान को परम धर्म माना गया है; जो कि मिट्टी, जल आदि से की गई शारीरिक शुद्धि से उत्पन्न होने वाले धर्म से अधिक श्रेयस्कर है। याज्ञवल्क्यस्मृति के इस वचन को आप देखिये —

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ।।

शारीरिक शुद्धि के न रहने पर परमात्मा की कोई हानि नहीं है, क्योंकि वह तो आकाश की तरह निर्मल है। शुद्धि यदि की जाती है, तो उससे उसमें कुछ बढ़ोतरी होने वाली नहीं है। मिट्टी आदि से शुद्ध करने पर भी शरीर तो मलिन ही रहेगा। वास्तव में तो इस बाह्य शारीरिक शुद्धि के बिना भी निर्विकल्पक ज्ञान की सहायता से मन को निर्मल बना कर साधक स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है।

विधि और निषेध

महेश्वरानन्द ने उक्त ग्रन्थ (पृ. २१-२२) में विधि और निषेध की भी तन्त्रशास्त्र-संमत व्याख्या प्रस्तुत की है। ऐसा करते हुए वे संवित्प्रकाश और संविदुल्लास को उद्धृत करते हैं, जिनमें बताया गया है कि जिस वस्तु को हम छोड़ सकते हैं, वही हमारे लिये हेय और जिसको नहीं छोड़ सकते, वह उपादेय है। यहाँ शैवागमों को ही परम प्रमाण माना गया है और कहा गया है कि वह प्रभु निषेध में भी विधि और विधि में भी निषेध की भावना को भरने में समर्थ है। विधि-निषेध की यह व्याख्या तन्त्रालोक (४.२५६-२७४ तथा १२.१४-२०) में भी देखी जा सकती है। मालिनीविजय (१८.७४-८१) में बताया गया है कि शुद्धि और अशुद्धि का विधान, भक्ष्य और अभक्ष्य का निरूपण, द्वैत या अद्वैत का उपदेश, लिंगपूजा आदि का विधान या निषेध, निष्परिग्रह रहने या सपरिग्रह होने का आदेश, जटा-भस्म आदि का स्वीकार या परित्याग, व्रत आदि का आचरण करना या न करना, क्षेत्र-संन्यास आदि को रखना या न रखना जैसी बातों के बारे में पक्ष या विपक्ष में यहाँ कुछ भी नहीं कहा जाता। ये सभी वस्तुएँ विहित भी मानी जा सकती हैं और निषिद्ध भी। इसमें साधक की इच्छा ही प्रमाण है कि वह इनका आचरण करे या न करे। वस्तुत: तत्त्वज्ञान में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। नियम के नाम पर शास्त्र में केवल इतना ही विधान है कि योगी को प्रयत्नपूर्वक परम तत्त्व में अपने चित्त को स्थिर करना चाहिये। चित्त की यह स्थिरता जैसे भी हो, योगी को तदनुसार ही अपनी चर्या बना लेनी चाहिये।

विधिनिषेध की इस दृष्टि को मनुस्मृति के निम्न श्लोक से भी समर्थन मिलता है —

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।। (५.५६)

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विधि और निषेध की शास्त्रीय व्याख्या को तन्त्रशास्त्रीय दृष्टिकोण और समय की मांग के अनुसार बदलने की आवश्यकता है। तन्त्रशास्त्र का यह उद्घोष अवधेय है—

यद्यप्यस्ति त्रिकालज्ञस्त्रैलोक्याकर्षणक्षम: ।
तथापि लौकिकाचारं मनसाऽपि न लङ्घयेत् ।।
(शक्तिसंगमतन्त्र, २.४६,४२)

अष्टांग योग

वीरावलीशास्त्र के प्रमाण पर तन्त्रालोक (४.८७-९५) और तन्त्रसार (पृ. २१-२५) में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि शुद्ध संवित्स्वरूप स्वात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये यम, नियम आदि की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। यम-नियम और आसन-प्राणायाम प्रधानतः शरीर से संबद्ध हैं और प्रत्याहार से भी इन्द्रियों का ही परिष्कार होता है। इसी तरह से ध्यान, धारणा और समाधि नामक अन्तिम तीन अंग भी अपने-अपने अभ्यास के अनुसार ध्याता का ध्येय वस्तु से तादात्म्य स्थापित कराने में सहायक होते है। संविदात्मक स्वस्वभाव के साक्षात्कार के लिये इस प्रकार के अभ्यास की क्या आवश्यकता है? "सकृद् विभातोऽयमात्मा" इस शास्त्रवचन के अनुसार शक्तिपात की दशा में उसका साक्षात्कार तो बिना किसी प्रयत्न के अपने आप हो जाता है। इसीलिये यहाँ अनुपाय प्रक्रिया को वरीयता दी गई है। इसीको सिद्धों की भाषा में सहज कहा गया है। इस सहज तत्त्व के साक्षात्कार में शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन में सत्तर्क और स्वानुभव को ही कारण माना गया है। तीव्रतम शक्तिपात की दशा में साधक को दीक्षा की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। संविद्देवी ही उसको दीक्षित कर देती है।

सत्तर्क और स्वानुभव

मालिनीविजय (१७.२८) के प्रमाण पर तन्त्रालोक (४.१५) में योग के सभी अंगों में तर्क को श्रेष्ठ माना है। तन्त्रशास्त्र की शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध आदि सभी शाखाओं में योग के प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि और तर्क नामक छः अंगों का ही वर्णन किया गया है। तर्क नामक अंग का विवेचन प्रधानतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन में हुआ है। तन्त्र की अन्य शाखाओं में यह ऊह, वीक्षण, अनुस्मृति आदि नामों से स्मृत है। सत्तर्क और स्वानुभव की व्याख्या अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (४.३४-८६) में विस्तार से की है। वहाँ किरणागम के प्रमाण से ज्ञान की प्राप्ति के तीन साधन बताये गये हैं। वे हैं — गुरु, शास्त्र और स्वकीय प्रातिभ ज्ञान। वहीं यह भी बताया गया है कि गुरु की अपेक्षा शास्त्र और शास्त्र की अपेक्षा स्वानुभव से प्राप्त ज्ञान अधिक उत्कृष्ट है। स्वपरामर्श की उत्कृष्टता को सिद्ध करने के लिये यहाँ किरणागम, पूर्वशास्त्र (मालिनीविजय), परात्रीशिका, ब्रह्मयामल, निशाटन आदि शास्त्रों के वचन उद्धृत किये हैं। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने यहाँ स्पष्ट बताया है कि गुरु शास्त्रों का ज्ञान कराने में सहायक होता है और शास्त्रों के अध्ययन से स्वात्मस्वरूप के साक्षात्कार में सहायता मिलती है। इस प्रसंग में योगवासिष्ठ का यह वचन भी स्मरणीय है—

शास्त्रार्थैर्बुद्ध्यते नात्मा गुरोर्वचनतो न च ।
बुद्ध्यते स्वयमेवैष स्वबोधवशतः स्वतः ।।

पूर्व के प्रतिपादन और योगवासिष्ठ के इस वचन में अन्तर इतना ही है कि यहाँ शास्त्र की अपेक्षा गुरु को वरीयता दी गयी है। यही क्रम हमें भी अधिक रुचिकर लगता है। अस्तु, इतना स्पष्ट है कि इन सब शास्त्रों में स्वीय प्रातिभ ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि आज के इस वैज्ञानिक युग में इस सिद्धान्त की कितनी उपयोगिता है।

समता दृष्टि

शक्तिसंगमतन्त्र (२.१८.२१) में समताष्टक मार्ग का उल्लेख है। तन्त्रालोक (४.२७४-२७५) में भी इसकी चर्चा आई है। टीकाकार जयरथ ने आठ प्रकार ही समता के प्रतिपादक त्रिकशासन के एक वचन को उद्धृत किया है, जो कि महेश्वरानन्द की स्वोपज्ञ व्याख्या में भी उपलब्ध है—

समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वशः ।
समता सर्वदृष्टीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः ।।
भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां तथैव च ।
समता सर्वदेवानां वर्णानां चैव सर्वशः ।।

इसके अनुसार जगत् के सभी भावों, वृत्तियों, दृष्टियों, द्रव्यों, भूमिकाओं, ओवल्लियों, देवताओं और वर्णों में सब तरह से एक सी दृष्टि रखना ही समता दृष्टि कहलाती है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार सब कुछ शिवमय है। अतः सभी भावों और धर्मों में भी समता दृष्टि का उदय हो, यह स्वाभाविक है। इस दृष्टि के उन्मेष के उपाय के रूप में विज्ञानभैरव में ४० वीं धारणा का विधान किया है। आनन्दभैरव शासन में समता दृष्टि का प्रतिपादन इस तरह से किया गया है—

उत्सृज्य लौकिकाचारमद्वैतं परमं श्रयेत् ।
स समः सर्वदेवानां तथा वर्णाश्रमादिके ।।
द्रव्याणां समतादर्शी स मुक्तः सर्वबन्धनैः ।

नन्दिशिखा शास्त्र ने समता को सर्वश्रेष्ठ व्रत माना है— ''सर्वत्र समता ह्यत्र व्रते देवि विधीयते ।.....व्रतानां परमो व्रतः''। भर्गशिखा शास्त्र इसी को वीरव्रत नाम देता है। इस विषय का विवेचन तन्त्रालोक (१२.१२-२०) तथा परात्रीशिकाविवृति (पृ. २३५) में भी किया गया है। ''प्राणसमाचारे समदर्शनम्'' (३.३२) यह शिवसूत्र भी इसी ओर इंगित करता है। शिवदृष्टि में सभी पदार्थों की समरसता (पृ. १८), शिवरूपता और सत्यता (पृ. ३४-३५, १२५-१२७) तथा सर्वात्मकता (पृ. १९४-१९५, २०८) का सयुक्तिक प्रतिपादन मिलता है। योगवासिष्ठ तो इस समता-सिद्धान्त का खजाना ही है। वहाँ बार-बार विभिन्न अवसरों

पर इस सिद्धान्त को स्मरण किया गया है और इसका महत्त्व बताया गया है। ''समत्वं योग उच्यते'' (२.४८), ''पण्डिता: समदर्शिन:'' (५.१८), ''समलोष्टाश्मकाञ्चन:'' (६.८), ''सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु । साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।'' (६.९), ''आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति'' (६.३२०), ''समदु:खसुख: स्वस्थ: समलोष्टाश्मकाञ्चन:'' (१४.४) भगवद्गीता के इन सभी वचनों में समतादृष्टि का ही गुणगान किया गया है। यह कहा जा सकता है कि तन्त्रशास्त्र ने इस समतादृष्टि का अधिक विस्तार किया है। इतना ही नहीं, तन्त्रशास्त्र ने भगवद्गीता में कुछ संशोधन भी प्रस्तुत किये हैं, जिनका कि वर्तमान काल में अत्यधिक मूल्य है।

भगवद्गीता में संशोधन

वेद, सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मत कृतान्तपंचक के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। महाभारत और भगवद्गीता में इन सभी शास्त्रों में समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। भगवद्गीता का कहना है कि योगभ्रष्ट व्यक्ति का पवित्र वंश में जन्म होता है और इसके बाद ही उसकी मुक्ति होती है। भीष्म पितामह को सद्गति की प्राप्ति के लिये उत्तरायण की प्रतीक्षा करनी पड़ी थी, किन्तु आगम और तन्त्रशास्त्र के इन वचनों को आप देखिये—

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् देहम् ।
ज्ञानसमकालमुक्त: कैवल्यं याति हतशोक: ।।

शैव और वैष्णव परमार्थसार के दोनों संस्करणों में यह वचन मिलता है।

हिमवति गङ्गाद्वारे वाराणस्यां कुरौ प्रयागे वा ।
वेश्मनि चण्डालादे: शिवतत्त्वविदां समं मरणम् ।।

यह निर्वाणयोगोत्तर का वचन है।

रथ्यान्तरे मूत्रपुरीषमध्ये चण्डालगेहे निरये श्मशाने ।
सचिन्तको वा गतचिन्तको वा ज्ञानी विमोक्षं लभतेऽपि चान्ते ।।

यह वचन आधारकारिका का है। इन सभी वचनों में मुक्ति को देश और काल के प्रतिबन्ध से मुक्त माना गया है। ''तनुं त्यजतु वा तीर्थे श्वपचस्य गृहेऽथवा'' योगवासिष्ठ का यह वचन भी इसी सिद्धान्त का समर्थक है।

भगवद्गीता (६.४५) में बताया गया है कि अनेक जन्मों की तपस्या के बाद ही व्यक्ति परम गति को प्राप्त करता है। इसके विपरीत शिवधर्म का कहना है कि शिवभक्त एक ही जन्म में मुक्त हो जाता है। शिवधर्मोत्तर में भी मोक्ष को एकभविक कहा गया है। भक्तिस्तोत्रकार अवधूतसिद्ध का यह वचन भी इसी बात को व्यक्त करता है —

यत्तीर्थिकैर्जगति जन्मभिरप्रमेयै-
नासाद्यते पदमिति स्वमतेषु गीतम् ।
तच्चैकजन्मिकमिति ब्रुवता निगृह्य
तेषां त्वया ननु कृतश्चरणः शिरस्सु ।।

इस श्लोक का पूर्वार्ध मानों भगवद्गीता के ''अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'' इस श्लोक की ओर इंगित कर रहा है।

भगवद्गीता के छठे अध्याय में योगाभ्यास से मन को निगृहीत करने की शिक्षा दी गयी है। इसके विपरीत ''यत्र यत्र मनो याति'', ''यत्र यत्र मनस्तुष्टिः'', ''सर्वं शिवमयम्'' इत्यादि विज्ञानभैरव और स्वच्छन्दतन्त्र के वचनों में बताया गया है कि जब सब कुछ शिवमय ही है, तो जहाँ कहीं भी मन जाता है, अथवा जो भी विषय उसको रुचिकर लगता है, सर्वत्र शिवस्वभावता को ही देखने वाले साधक को अपना मन वहीं लगा देना चाहिये।

आज पूरा भारतीय समाज युगों की व्यवस्था से जकड़ा हुआ है। उसका सोचना है कि आजकल जो कुछ अनाचार-अत्याचार फैला हुआ है, *यह सब कलियुग का प्रभाव है,* किन्तु नेत्रतन्त्र का कहना है कि भगवान् शिव के साम्राज्य में कृत, त्रेता, द्वापर और कलि की भी कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। हम सोच सकते हैं कि आज इन सब सिद्धान्तों की कितनी उपयोगिता है। *विभिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के कारण वर्तमान काल संकटापन्न हो गया है। हम तन्त्रागमशास्त्र के प्रस्तुत निबन्ध में व्याख्यात दृष्टिकोण के आधार पर इन सबमें समन्वय स्थापित कर सारे जगत् को इस सांस्कृतिक संकट से उबार सकते हैं। इस प्रसंग में प्रत्यभिज्ञा दर्शन का परतत्त्व का स्वरूप भी हमारे लिये परम सहायक हो सकता है।*

परतत्त्व की प्रकाशविमर्शात्मकता

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भा. २, पृ. २०१) में अभिनवगुप्त ने विज्ञान को ब्रह्मस्वरूप माना है। विज्ञानभैरव यह नाम भी इसी ओर इंगित करता है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (भा. ३, पृ. ४०५) में अभिनवगुप्त ने आगमों की द्वैतपरक व्याख्या को अद्वैतपरक सिद्ध कर, ब्रह्मवाद की अविद्या को मायाशक्ति का स्थान देकर और क्षणिक विज्ञानाद्वयवाद के स्थान पर नित्यात्मेश्वरवाद का प्रतिपादन कर मुक्ति का एक सरल मार्ग खोल दिया है, जिस पर कि चलने का अधिकार पूरी मानव जाति को ही क्यों? प्राणी मात्र को है। सत्तर्क और स्वानुभव से जिस स्वात्मदेवता की प्रत्यभिज्ञा होती है, वह परतत्त्व यहाँ प्रकाशविमर्शात्मक माना गया है। यह सारा जगत् उस प्रकाशविमर्शात्मक परतत्त्व का, परशिव का विलास है। सब कुछ शिवशक्तिमय है। वैदिक भाषा में अग्नीषोमात्मक है।

अद्वैतवादी आगमिकों की मान्यता है कि नट अपनी इच्छा के अनुसार राम-कृष्ण, रावण-कंस आदि की भूमिका में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार के सुख-दुःखों की अनुभूति स्वयं

तटस्थ भाव से करता हुआ भी जैसे दर्शकों में साधारणीकरण प्रक्रिया के आधार पर सचमुच की अनुभूति पैदा कर देता है, उसी तरह से ईश्वर भी तटस्थ भाव से लीला करता है। लीला करते-करते वह बौद्ध और पौरुष अज्ञान से आवृत हो जाता है। तब उसकी शक्तियाँ और स्वरूप संकुचित हो जाते हैं। संकुचित प्रमाता के रूप में वह अपने स्वरूप को भूल बैठता है। यह स्वरूप की विस्मृति ही इनके यहाँ बन्ध है और स्वरूप की स्मृति ही मोक्ष कहलाती है। इस तरह से इनके मत में बन्ध और मोक्ष की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। इनकी दृष्टि में यह सारा विश्व 'अहम्' का ही विलास है। यह शिव ऐसा अनोखा चित्रकार है कि बिना आधार के अपने आपमें इस विश्व के उन्मीलन और निमीलन की लीला करता रहता है। अपनी अहन्ता को वह परिमित-प्रमाता के रूप में भौतिक शरीर तक सीमित कर लेता है और फिर वही पर-प्रमाता के रूप में इस पूरे विश्व में विश्वाहन्ता के रूप में इसका विस्तार कर लेता है। इस स्थिति में वह इस पूरे विश्व को अपना कुटुम्ब नहीं, किन्तु स्वयं अपना ही स्वरूप मानता है।

समाजवादी चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति के तीन प्रमुख तत्त्वों की चर्चा की है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति का सबसे प्रमुख तत्त्व विभिन्न जीवन-प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। इसकी दूसरी विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना तथा आचरण की शुद्धता है। अपना ध्यान रखते हुए दूसरे का भी ध्यान रखना इसका मूल मन्त्र है — ''आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्''। इसका तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व विश्वभावना है। ''आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति'', ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' इसकी शिक्षा है। भारतीय संस्कृति के दो पहलू रहे हैं। एक व्यक्तिवादी तो दूसरा समष्टिवादी, अर्थात् विश्वजनीन। इन्हीं को हम व्यक्तिगत मानस और लोकमानस कह सकते हैं।

इस उभयविध मानस के परिष्कार के लिये हम सभी प्राचीन संस्कृतियों के कालातीत तत्त्वों के स्थान पर नूतन नैतिक मूल्यों का समावेश कर एक अखण्ड विश्व संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का इस निबन्ध में प्रतिपादित स्वरूप अवश्य ही इस कार्य में सर्वाधिक सहायक होगा। दक्षिण के वीरशैव दर्शन को भी प्राय: ये सभी सिद्धान्त मान्य हैं। प्रमाणस्वरूप इस मत के सिद्धान्तशिखामणि नामक ग्रन्थ को देखा जा सकता है ॥

सिद्ध और सहजयान

उत्तर भारत के मध्यकालीन तथा परवर्ती साहित्य में सिद्ध और नाथ शब्द बहुत प्रचलित हैं, किन्तु हमारी समझ में इसके सही अर्थों का निर्धारण अभी तक नहीं हो पाया है। सिद्धों और नाथों का ही नहीं, तन्त्रशास्त्र का आविर्भाव काल भी छठी से बारहवीं शताब्दी तक माना जाता है। दक्षिण भारत के आलवार और नायनार सन्तों का आविर्भाव काल भी यही है। सिद्ध, नाथ, आलवार और नायनार ये सभी विभिन्न धर्मों के अनुयायी हैं, किन्तु इन सभी में दो समानताएँ निर्विवाद रूप से मान्य हैं। एक तो यह कि इनमें सभी वर्णों (ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक) को समान आदर प्राप्त था और दूसरा यह कि ये सभी तान्त्रिक धर्म और संस्कृति से प्रभावित थे।

तन्त्रशास्त्र का आविर्भाव काल

तन्त्रशास्त्र का आविर्भाव काल छठी से बारहवीं शताब्दी तक मान कर अनेक विद्वानों ने इस शास्त्र के साथ न्याय नहीं किया है और इसीलिये वे अनेक विसंगतियों के शिकार हो गये हैं। ''आगम आणि तन्त्रशास्त्र'' शीर्षक निबन्ध में इस विषय पर हमने विस्तार से विचार किया है। संहिता, ब्राह्मण, उपनिषत्, पाणिनि की अष्टाध्यायी, शिलालेख, रामायण, महाभारत ही नहीं, बौद्ध और जैन धर्म के पालि और प्राकृत वाङ्मय के उद्धरणों से भी पांचरात्र और पाशुपत के नाम से प्रसिद्ध वैष्णव और शैव धर्म की स्थिति मान्य हो चुकी है। पाशुपत मत के आचार्य लकुलीश एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इनका स्थितिकाल ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी माना गया है। पांचरात्र और पाशुपत मत का प्राचीन साहित्य आगम के नाम से प्रसिद्ध है और इन्हीं में तन्त्रशास्त्र का प्राचीन स्वरूप देखा जा सकता है।

आगमशास्त्र और बौद्ध महायान ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत न हो पाने के कारण ही हमें तन्त्रों पर विदेशी प्रभाव की असत्कल्पना करनी पड़ती है। पांचरात्र, पाशुपत, बौद्ध और जैन प्रभाव का मूल्यांकन किये बिना जैसे महाभारत और पुराणों का, आलवारों और नायनारों का अध्ययन वस्तुतः अधूरा है, उसी तरह से सिद्ध साहित्य ही नहीं, बौद्ध तन्त्रों का अध्ययन भी आगमशास्त्र और विशेष कर इसकी कौल शाखा के अध्ययन के बिना अधूरा ही रह जाता है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में आगम और तन्त्रशास्त्र के सभी प्राचीन सम्प्रदायों का विस्तार से वर्णन किया है। उनकी पृष्ठभूमि में बौद्ध तन्त्रों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान — ये सब मत्स्येन्द्रनाथ के द्वारा प्रवर्तित कौलशास्त्र के ही विभिन्न रूप हैं।

कुलशास्त्रावतारक मत्स्येन्द्र

अभिनवगुप्त और अघोरशिवाचार्य ने कौलशास्त्र का प्रथम आचार्य मत्स्येन्द्र को माना है। प्रायः अधिकांश विद्वान् मत्स्येन्द्रनाथ का समय ९वीं शती का अन्तिम चरण या १०वीं शती का प्रथम चरण मानते हैं। डॉ० शाहिदुल्ला द्वारा निर्णीत मत्स्येन्द्र का ७वीं शती का समय सर्वथा भ्रमात्मक माना जाता है, किन्तु इस तरह के कथन गलत आधारों के कारण स्वयं अपने आप में कमजोर हैं। इसके विपरीत डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने मत्स्येन्द्रनाथ का आविर्भाव काल ५वीं या छठी शताब्दी माना है। डॉ० पाण्डेय जी ने यह स्थापना मत्स्येन्द्रनाथ की लम्बी शिष्य-परम्परा को आधार मानकर की है। इस लम्बी नामावली में गोरक्षनाथ की कहीं कोई चर्चा नहीं है। बारहवीं शताब्दी तक के किसी संस्कृत ग्रन्थ में गोरक्षनाथ की कोई चर्चा नहीं आती और न कहीं गोरक्षनाथ के गुरु के रूप में मत्स्येन्द्रनाथ की ही चर्चा मिलती है। मत्स्येन्द्रनाथ को नाथ सम्प्रदाय का आद्य प्रवर्तक और गोरक्षनाथ को उनका शिष्य मानने का आग्रह ही मत्स्येन्द्रनाथ के आविर्भाव काल को आगे खींच ले जाने के लिये जिम्मेदार है।

डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची को कौलज्ञाननिर्णय आदि ग्रन्थों की पाण्डुलिपि न मिली होती और मत्स्येन्द्रनाथ का उल्लेख अभिनवगुप्त द्वारा न किया गया होता, तो शायद मत्स्येन्द्रनाथ के समय में और भी खींचतान की गई होती, क्योंकि महार्थमंजरी को गोरक्षनाथ की कृति माना जाता है। यह सही है कि महार्थमजंरीकार ने अपना व्यवहार का नाम गोरक्ष और दीक्षा नाम महेश्वरानन्द बताया है, किन्तु ये अपने गुरु का नाम महाप्रकाश और परमगुरु का नाम शिवानन्द लिखते हैं। शिवानन्द की ऋजुविमर्शिनी तथा अन्य ग्रन्थों का भी इन्होंने उल्लेख किया है। ऋजुविमर्शिनी नित्याषोडशिकार्णव की टीका है और यह ग्रन्थ अब प्रकाशित हो चुका है। शिवानन्द के प्रमाण पर ही उनका समय १३वीं शताब्दी से पहले किसी भी मूल्य पर नहीं लाया जा सकता। महार्थमंजरीकार को गोरक्षनाथ मान कर चलने पर उनका सम्बन्ध मत्स्येन्द्रनाथ के साथ किसी भी तरह से नहीं जोड़ा जा सकता। एक तो वे स्वयं ही अपने गुरु का नाम महाप्रकाश बताते हैं, मत्स्येन्द्रनाथ नहीं; दूसरे मत्स्येन्द्रनाथ को नाथ सम्प्रदाय का प्रवर्तक मानने वाले भी अब इसके लिये बाध्य हैं कि वे उनका समय ९वीं १०वीं शताब्दी से अधिक आगे नहीं खींच सकते। इसी प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि अभी हाल में वाराणसी से प्रकाशित गोरक्षसंहिता का भी वस्तुतः गोरक्षनाथ से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम मतोत्तर है। इसके साथ गोरक्षनाथ का नाम कैसे जुड़ गया, यह एक गवेषणा का विषय है।

डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची के मत से कौलज्ञाननिर्णय आदि ग्रन्थ मत्स्येन्द्रनाथ की कृति हैं। किन्तु स्वयं कौलज्ञाननिर्णय में ही पंचपंचाशिका, कुलपंचाशिका, कुलसागर, भैरवोद्यान, चन्द्रकौल, सिद्धामृत, ऊर्मिकौल, कौलसद्भाव आदि ग्रन्थों के नाम मिलते हैं और इनमें से

अनेक ग्रन्थ तन्त्रालोक और उसकी टीका में उद्धृत हैं। वस्तुत: अभिनवगुप्त और उसके टीकाकार जयरथ के प्रमाण पर सभी कुलशास्त्रों के अवतारक मत्स्येन्द्रनाथ हैं। अघोरशिव (मृगेन्द्रागमवृत्तिदीपिका, विद्यापाद, पृ. ७४) ने हिरण्यगर्भ, कपिल और मत्स्येन्द्र को क्रमश: वेद, सांख्य और कौलशास्त्र का प्रवर्तक माना है। इसी परम्परा के आधार पर कौलज्ञाननिर्णय आदि ग्रन्थों का अवतारक भी मत्स्येन्द्र को ही मान लिया गया है, किन्तु इन ग्रन्थों की मातृका की तिथि के आधार पर मत्स्येन्द्रनाथ का समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। तन्त्रालोककार अभिनवगुप्त के पहले कुल और क्रम आगम के आचार्यों की एक लम्बी परम्परा है और यह पूरी परम्परा मत्स्येन्द्र के सिद्धान्तों से अनुप्राणित है। सिद्धान्त शैवों के ग्रन्थ मृगेन्द्रागम में भी योगिनीकौल और सिद्धकौल सम्प्रदाय का उल्लेख है।

छठी शताब्दी के आस-पास बौद्ध धर्म में सहसा तान्त्रिक प्रवृत्तियों के प्रवेश की बात मानी जाती है और यह भी स्वीकार किया गया है कि इससे इतनी शीघ्रता से बौद्ध धर्म का रूप परिवर्तित होता है कि उसके मूल रूप का कहीं पता ही नहीं चलता। इस तरह के लेखक तान्त्रिक शब्द का प्रयोग एक संकीर्ण अर्थ में करते हैं, जिसमें कि पंचामृत, पंचमकार जैसी विधियाँ वर्णित हैं। इनका स्वरूप गुह्यसमाजतन्त्र और कौलज्ञाननिर्णय में एक सा है। इसका क्या कारण है?

सिद्ध और नाथ

तन्त्रालोक के अन्तिम आह्निक में अभिनवगुप्त श्रीकण्ठनाथ की आज्ञा से सिद्धों के अवतार की चर्चा करते हुए कहते हैं कि अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत शैवागमों के क्रमश: त्र्यम्बक, आमर्दक और श्रीनाथ नाम के आचार्य हुए और इन्होंने अपने-अपने सम्प्रदाय के मठों की स्थापना की। अद्वैतवादी सिद्ध त्र्यम्बक की दुहिता के वंश में भी एक मठ स्थापित हुआ। शिवदृष्टिकार सोमानन्द त्र्यम्बक को अपना पूर्वज मानते हैं। इनके पुत्र का नाम संगमादित्य, संगमादित्य के पुत्र वर्षादित्य, वर्षादित्य के अरुणादित्य और अरुणादित्य के पुत्र का नाम आनन्द था। ये आनन्द सोमानन्द के पिता थे। इस प्रकार अद्वैतवादी प्रत्यभिज्ञा दर्शन की यह परम्परा बनती है। त्र्यम्बक की दुहिता का संबन्ध कामरूप में प्रादुर्भूत कौल सम्प्रदाय से था। द्वैतवादी आमर्दक मठ कवचशिव, सदाशिव, हृदयशिव, व्योमशिव आदि सिद्धान्त शैव दर्शन के आचार्यों से संबद्ध रहा है।

अभिनवगुप्त ने ही तन्त्रालोक में बताया है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने स्वोपार्जित ज्ञान को छ: राजपुत्रों में बाँट दिया और इन राजपुत्रों की परम्परा को आनन्द, आवलि, बोधि, प्रभु, पाद और योगी — इन छ: शब्दों से जोड़ दिया, अर्थात् इन परम्पराओं में दीक्षित होने वाले शिष्यों के नामों के अन्त में आनन्द आदि शब्दों को जोड़ने का भी विधान कर दिया। इनमें से आनन्द और योगी शब्द शैव-शाक्त परम्परा में और बोधि, प्रभु तथा पाद शब्द बौद्ध परम्परा में मिलते हैं।

सिद्धों की नामावली में नाना रूपों में प्राय: सर्वत्र घूम-फिर कर पहला नाम मत्स्येन्द्र का ही आता है। ये ही कौल सम्प्रदाय के प्रथम प्रवर्तक थे। इस कौल मार्ग की साधना-पद्धति दो प्रकार की थी — एक कृतक और दूसरी सहज। कुण्डलिनी की साधना कृतक तथा और समरस स्थिति को सहज साधना कहा गया है। इन दोनों प्रकार की साधनाओं में लीन योगी ही सिद्ध कहलाते थे। यह साधना शैव, बौद्ध और जैन सभी धर्मों में मान्य थी। यह कहा जा सकता है कि ये सिद्ध वर्ण, जाति और धर्म से अतीत रहते हुए भी कभी-कभी सभी धर्मों की और कभी-कभी किसी एक धर्म की विधियों का अनुवर्तन करते थे। बौद्ध धर्म में रूपान्तर उपस्थित करने वाला यही तत्त्व था।

यह ध्यान देने की बात है कि ऊपर वर्णित छ: ओवल्लियों में नाथ शब्द नहीं आया है। संभवत: क्रमदर्शन में इस शब्द को मान्यता मिली हो, जिसमें कि इस दर्शन के प्रथम आचार्य को अवतारकनाथ या शिवानन्दनाथ नाम दिया गया है। त्रिपुरादर्शन के आचार्यों के दीक्षा नाम के साथ भी आनन्दनाथ जोड़ा जाता है और परशुरामकल्पसूत्र में इसका स्पष्ट विधान है। त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थों में नव नाथों का उल्लेख है, किन्तु नाथ सम्प्रदाय में प्रचलित नामावली से यह भिन्न है। इस नामावली में भी गोरक्षनाथ का नाम नहीं है। त्रिपुरा सम्प्रदाय में गुरुपंक्ति दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ परम्परा में विभक्त है तथा इन सभी आचार्यों के नाम के अन्त में आनन्दनाथ जुड़ा हुआ है। इन नामावलियों का भी सिद्धों और नाथों से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। अभी ऊपर श्रीकण्ठनाथ और श्रीनाथ की चर्चा आई है। महाभारत के अनुसार उमापति श्रीकण्ठ पाशुपत मत के प्रवर्तक हैं। श्रीनाथ द्वैताद्वैत शैवदर्शन के आचार्य हैं। इस प्रकार नाथ शब्द पाशुपत सम्प्रदाय से जुड़ा प्रतीत होता है।

इस पृष्ठभूमि में इस उक्ति का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि यद्यपि शैव नाथयोगियों को भी सिद्ध कहा जाता था, किन्तु कतिपय कारणों से हिन्दी तथा अन्य कई प्रान्तीय भाषाओं में शैव योगियों के लिये नाथ तथा बौद्ध तान्त्रिकों के लिये सिद्ध शब्द प्रचलित हो गया। पूर्वोक्त भ्रान्तिपूर्ण अध्ययन की यह परिणति है।

कालिदास के मेघदूत में सिद्धों का वर्णन देखकर यह कल्पना की जाती है कि उस समय मालव प्रदेश के दक्षिण में संभवत: महाराष्ट्र के आस-पास सिद्धों की परम्परा थी, जो सपत्नीक रहते थे। वस्तुत: अमरकोशकार ने देव-योनि में इन सिद्धों की गणना की है। कुमारसंभव में हिमालय का वर्णन करते समय कालिदास ने भी देवयोनिविशेष सिद्धों का ही वर्णन किया है।

शक्तिसंगमतन्त्र में अनेक स्थलों पर ८४ सिद्धों और ९ नाथों का उल्लेख मिलता है। वहाँ शाबर (भाषा) मन्त्रों के दो भेद बताये गये हैं — सिद्धोक्त और नाथोक्त। सिद्धों की संख्या ८४ और नाथों की संख्या ९ क्यों निश्चित की गई? इसका कोई संतोषजनक उत्तर हमारे पास नहीं है, किन्तु इतना हम निश्चयपूर्वक कहना चाहेंगे कि कौल सम्प्रदाय,

वज्रयान, सहजयान के आचार्य सिद्धों के और पाशुपत मत तथा हठयोग के आचार्य नाथों के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

हठयोग के बीज यद्यपि पाशुपत योग और कौल सम्प्रदाय की कृतक शाखा में भी मिलते हैं, जिसमें कि वज्रयान का समावेश भी किया जा सकता है, तथापि इसको व्यवस्थित रूप देने वाले संभवत: गोरक्षनाथ थे। इस बात को पूरी तरह से नहीं स्वीकार किया जा सकता कि नाथ सम्प्रदाय मैथुनवर्जी था, क्योंकि वज्रौली जैसी क्रियाओं का वर्णन वहाँ मिलता है। यह माना जा सकता है कि कौल परम्परा की कुछ मान्यताओं का उन्होंने विरोध किया और पर्याप्त परिष्कार के बाद ही उस परम्परा से इन्होंने अपना नाता जोड़ा। 'जाग मछिन्दर गोरख आया' जैसी लोकोक्तियों का सम्बन्ध केवल इतना ही जोड़ा जा सकता है। हठयोग को व्यवस्थित स्वरूप बारहवीं अथवा तेरहवीं शताब्दी में मिला होगा, जबकि कुलमार्ग की प्रतिष्ठा मत्स्येन्द्र के द्वारा छठी शताब्दी में हो चुकी थी।

यह माना जाता है कि दोहों और वर्णपदों की साधना-पद्धति हिन्दु परम्परा से प्रभावित प्रतीत होती है। इसका मुख्य कारण यह कौल दृष्टि का प्रवेश ही है। ऐसा क्यों हुआ? कुलशास्त्र की प्रवृत्ति किन परिस्थितियों में हुई? यह अभी भी खोज का विषय है।

शैव धर्म को सिद्धान्त शैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक सम्प्रदायों में बाँटकर इनका संबन्ध चारों वर्णों से जोडा जाता है। वेदान्त-सूत्र के तर्कपाद के भाष्यकारों और टीकाकारों ने इनका उल्लेख किया है और पुराणों में इनकी चर्चा है। अभिनवगुप्त और भास्करराय आदि तान्त्रिक आचार्यों ने कौल साधनाओं के बीज आरण्यकों और उपनिषदों में खोज निकाले हैं। वज्रयानी साधना में और सिद्धों की दिनचर्या में कौल और कापालिक दोनों ही सम्प्रदायों के तत्त्व समान रूप से मिलते हैं। हमारी कल्पना के अनुसार हठयोग का संबन्ध पाशुपत सम्प्रदाय से किसी न किसी प्रकार का रहा है। सिद्धों और नाथों का अध्ययन इसी पृष्ठभूमि में होना चाहिये।

कौलमत और षडंग योग

वस्तुत: कुलदर्शन एक योगविधि है। योगशास्त्र की प्रवृत्ति किसी एक धर्म तक सीमित नहीं है। कौलमत और षडंग योगविधि का शैव, बौद्ध, शाक्त और जैन सभी धर्मों में अपने-अपने तरीके से विकास हुआ है। बौद्ध धर्म में इनका विकास वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान के नाम से हुआ है। सिद्ध इस पूरी परम्परा से अनुप्राणित हैं। विज्ञानवाद और शून्यवाद की पृष्ठभूमि में इन तीनों यानों के सिद्धान्त शैव और शाक्त परम्परा में भी अपनी-अपनी व्याख्या के अनुसार स्वीकृत हैं। प्राणचार आनापान-स्मृति का ही एक स्वरूप हैं। प्राणचार के वर्णन के प्रसंग में क्रमदर्शन में काली की और त्रिपुरा-दर्शन में तिथि-नित्याओं को उपासना में काल की सूक्ष्म परिभाषाएँ दी गई हैं। कालचक्रयान से ये बहुत दूर नहीं

हैं। सहज विधि का भी इनमें वर्णन है। हमने विज्ञानभैरव के उपोद्घात में इस विषय पर विचार किया है। पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत के भेद से व्याख्यात कौल योगविधि का जैन योगशास्त्रों में भी विस्तार से वर्णन मिलता है। षडंग योग की भी सभी सम्प्रदायों में चर्चा है। अन्तर इतना ही है कि बौद्ध अनुस्मृति के स्थान पर शैव योग में वीक्षण या अभिवीक्षण को तथा शाक्त और वैष्णव तन्त्रों में तर्क को स्वीकार किया गया है। इन सभी योगविधियों की परस्पर तुलना के आधार पर ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। जैसे सहजयान या कालचक्रयान से वज्रयान का कोई अलग सम्प्रदाय नहीं है, वैसे ही वज्रयान, शैव और शाक्त कौल दर्शन तथा जैन योग की रूपातीत ध्यान विधि में भी कोई अन्तर नहीं है।

सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों में समानता की बात मानी जाती है। यह भी स्वीकार किया जाता है कि इन सम्प्रदायों पर योगाचार और माध्यमिक सम्प्रदायों का प्रभाव था, किन्तु साथ ही यह भी कहा जाता है कि भारतीय धार्मिक संस्कृति में सहसा तान्त्रिक साधनाओं का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसा कहने वालों का अभिप्राय यह है कि भारतीय धार्मिक संस्कृति में यह आकस्मिक परिवर्तन विदेशी प्रभाव के कारण हुआ।

क्या तन्त्रों पर विदेशी प्रभाव है?

पालवंशी राजाओं को बौद्धों और सहजयानी सिद्धों का आश्रयदाता माना जाता है। पालवंश के प्रतिष्ठापक गोपाल के अभिषेक की तिथि लगभग ७५० ई. अनुमानित की गई है। ७७० ई. में गोपाल का पुत्र धर्मपाल और धर्मपाल के उपरान्त ८१० ई. में देवपाल गद्दी पर बैठा। इसी अवधि में किसी समय चीन से आयातित ताओवाद का सिद्धों पर प्रभाव पड़ा और तभी से सिद्धों की सहजयान शाखा का विकास हुआ। इस प्रसंग में हम अभी हाल में नेपाल से प्रकाशित प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय नामक ग्रन्थ की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं। इसके लेखक वैरोचन हैं। ग्रन्थ के अन्त में इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

आसीद् गोपालभूपः सकलवसुमतीभूषणो दोषहीन-
स्तस्याङ्गांशो महात्मा कृतनृपतियतिर्धीरनाथः पृथुश्रीः ।
तत्पुत्रः प्राप्तकीर्तिर्वचनचतुरिमा विश्रुतो भूमिचक्रे
चक्रे सोऽयं प्रतिष्ठाविधिमतिललितं पञ्चवक्त्रोपगीतम् ।।

श्रीमन्मत्तमयूरजो हरसमः शैवोऽर्जुनद्योतकः
प्रख्यातो विमलादिकः शिवपरश्चाचार्यवर्योऽभवत् ।
पूज्यो निर्भरभूमिपस्य च गुरुस्तेनाभिषिक्तः स्वयं
ज्ञानीशानशिवस्तदङ्घ्रिजनितो वैरोचनो देशिकः ।।

इन श्लोकों में गोपाल के पुत्र का नाम धीरनाथ बताया है, जो कि धर्मपाल का ही दीक्षा नाम है। धीरनाथ के पुत्र वैरोचन ने इस ग्रन्थ की रचना की है। आमर्दक मठ की द्वैतवादी शैव परम्परा की एक शाखा का नाम मत्तमयूर था। निर्भर भूमिपाल के गुरु विमलशिव थे। विमलशिव के शिष्य ईशानशिव से वैरोचन ने दीक्षा ली थी। ये शैवाचार्य भट्ट कुमारिल की उक्ति के कायल नहीं थे। इनके ग्रन्थों में भगवान् बुद्ध भी विष्णु के दस अवतारों में वर्णित हैं। इस परिस्थिति में पालवंश के राजाओं को केवल बुद्ध धर्म और बौद्ध सिद्धों का आश्रयदाता मानना युक्तिसंगत नहीं है।

"आगम आणि तन्त्रशास्त्र" नामक निबन्ध में हमने तन्त्रशास्त्र को दो विभागों में विभक्त किया है। अभिनवगुप्त से पहले आविर्भूत शास्त्र प्राचीन और उसके बाद विकसित शास्त्र नवीन है। प्राचीन साहित्य पर विदेशी प्रभाव की बात को हम स्वीकार नहीं करते, इस पर भी हम वहाँ प्रकाश डाल चुके हैं। जब हम अपनी परम्परा की कड़ियों को न जोड़ सकें, तभी बाह्य प्रभाव की बात मानना उचित हो सकता है। अभिनवगुप्त आदि तान्त्रिक विद्वानों ने सौत्रामणी याग तथा आरण्यक-ग्रन्थों से कौलविधि की परम्परा को जोड़ा है। इस क्षेत्र में अभी अधिक स्पष्ट अनुसन्धान अपेक्षित है। हमारे मत के अनुसार ताओवाद के प्रभाव की जो कालसीमा बताई जाती है, उससे पहले ही कौल योग और उसकी सहज विधि का यहाँ प्रसार हो चुका था।

कुब्जिकामततन्त्र के "गच्छ त्वं भारते वर्षे" इस प्रसिद्ध श्लोक के आधार पर तन्त्रों पर विदेशी प्रभाव की बात सिद्ध की जाती है, किन्तु इस तरह के ग्रन्थों की प्राचीनता परीक्षणीय है। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने कम्बोडिया में प्राप्त शिलालेख में उद्धृत चार तन्त्र-ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत करते हुए संमोहन तन्त्र को एक प्राचीन तन्त्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया था, किन्तु अपने उपोद्घात में हम यह बता चुके हैं कि यह ग्रन्थ शक्तिसंगम तन्त्र का एक अंश है, जोकि १६-१७ वीं शताब्दी की रचना है।

पीठ, उपपीठ, क्षेत्र, उपक्षेत्र, सन्दोह, उपसन्दोह, पीलव, उपपीलव, श्मशान, उपश्मशान के भेद से अनेक पवित्र तीर्थस्थानों (सिद्धपीठों) का उल्लेख हेवज्रतन्त्र, तन्त्रालोक और उसकी टीका विवेक में उद्धृत अनेक ग्रन्थों, शैवसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों और कौलज्ञाननिर्णय में भी समान रूप से मिलता है। इनमें उल्लिखित इन पवित्र स्थानों की सीमा भूटान, नेपाल, तिब्बत, मध्य-एशिया, पश्चिम-एशिया तक फैली हुई थी। इस प्राचीन तान्त्रिक संस्कृति का विस्तार दक्षिण-पूर्व एशिया में भी हो चुका था। इस विशाल तान्त्रिक संस्कृति के बीज समान रूप से बौद्ध महायान साहित्य, वैष्णव और शैव आगम तथा पुराणों में खोजे जा सकते हैं।

तन्त्रशास्त्र और सिद्धों पर अब तक जो कुछ लिखा गया है, उसकी एक ध्यान देने योग्य कमी यह रही है कि इस विषय की मौलिक सामग्री से बहुत कम लेखकों का संपर्क

हो पाया है। अधिकांश लेखकों ने उन कुछ चुने हुए विद्वानों के बताये मार्ग का आँख मूँदकर अनुसरण किया है, जिनकी कि सामग्री अब पुरानी पड़ चुकी है। ऐसा करते समय कहीं-कहीं बहुत-सी भद्दी गलतियाँ हो गई हैं और ये हिन्दी साहित्य के ख्यातनामा लेखकों की कृतियों में भी देखी जा सकती हैं। बहिःशास्त्र, परदर्शन, आकर जैसे शब्दों को ग्रन्थ का नाम मान लिया जाता है। वस्तुतःग्रन्थकार अपने से भिन्न शास्त्रों और दर्शनों के लिये प्रथम दो शब्दों का प्रयोग करते हैं और अपने शास्त्र के ग्रन्थ को 'आकर' कहते हैं।

सिद्धियाँ

सिद्धों के साथ सिद्धियाँ जुडी हुई हैं। इन सिद्धियों को भी हिन्दु और बौद्ध धर्म में बाँट दिया गया है। शक्तिसंगमतन्त्र के उपोद्घात में हमने बताया है कि खड्ग, अंजन, पादलेप आदि सिद्धियाँ बौद्ध तन्त्रों में ही नहीं ; शैव, शाक्त, वैष्णव सभी तन्त्रों में उल्लिखित हैं। इन सिद्धियों के समान ही षडंग योग भी तन्त्रों की सभी शाखाओं में वर्णित हैं। विज्ञानभैरव के उपोद्घात में हम इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। सिद्धियों के संबन्ध में यह कहा जा सकता है कि अणिमा आदि आठ सिद्धियां पतंजलि के अष्टांग योग से तथा खड्ग, पाताल आदि आठ सिद्धियाँ तान्त्रिक षडंग योग से सम्बद्ध हैं। सिद्धों के सहजयान की मूल मंशा भी प्राय: सभी तान्त्रिक शाखाओं में समान रूप से मान्य है।

सहजयान की प्रवृत्ति के प्रसंग में विष्णुपुराण (१.६.१६) का यह श्लोक प्राय: उद्धृत किया जाता है —

ततः सा सहजा सिद्धिस्तासां नातीव जायते ।
रसोल्लासादयश्चान्या: सिद्धियोऽष्टौ भवन्ति या: ।।

टीकाकार विष्णुचित्त ने सहज सिद्धि का अर्थ औत्पत्तिक ज्ञान और श्रीधर ने स्वाभाविक सिद्धि किया है। पतंजलि की जन्मज सिद्धि से इसकी तुलना की जा सकती है। दोनों टीकाकारों ने यहाँ स्कन्दपुराण को उद्धृत कर रसोल्लास आदि आठ सिद्धियों का वर्णन किया है। उक्त दोनों प्रकार की अष्टसिद्धियों से ये भिन्न हैं। विज्ञानभैरव के ७१ वें श्लोक में जग्धि और पान से प्राप्त होने वाली उल्लास, रस और आनन्द दशाओं का वर्णन मिलता है। सिद्धों की दिनचर्या से इन वर्णनों का पूरा सामंजस्य बैठता है।

सहज योग

डॉ० दासगुप्त योगवाशिष्ठ पर विज्ञानवाद का प्रभाव मानते हैं, किन्तु इस पर शैव दर्शन की स्पन्द शाखा का तथा विज्ञानभैरव सरीखे ग्रन्थों का भी पूरा प्रभाव है। योगवाशिष्ठ को हम सहज योग का विशाल ग्रन्थ मान सकते हैं। इन सब ग्रन्थों का आविर्भाव उस कालावधि से पहले हो चुका था, जिसमें कि भारतीय संस्कृति पर ताओवाद के प्रभाव की और बौद्ध सिद्धों के आविर्भाव की बात कही जाती है।

कौलज्ञाननिर्णय में सहज तत्त्व को कामकलात्मक माना है। कौलज्ञाननिर्णय में ही हृदय स्थित प्राणापान व्यापार (श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया को), जिसका कि आनापान-स्मृति के रूप में पालि ग्रन्थों में विवरण मिलता है, सहजदेव कहा गया है। हृदय का स्पन्दन व्यापार सहज (स्वाभाविक) रूप से बिना प्रयत्न के निरन्तर प्रवृत्त रहता है। सिद्ध भी इसी सहज गति से लोक-व्यवहार में लगा रहता है। सिद्धों की इस स्थिति का काश्मीर शैव-ग्रन्थों में अनुपाय प्रक्रिया के नाम से वर्णन मिलता है। रागात्मक वृत्ति का परिष्कार सहजयान का मुख्य उद्देश्य रहा है। इस विषय पर हम आगे (पृ. ७४) विचार करेंगे।

धार्मिक चिन्तन अभी भी भट्ट कुमारिल की उक्ति के इर्द-गिर्द ही घूम रहा है। सत्य एक और अविभाज्य होता है। इसको देश, काल और धर्म की परिधि में बाँटा नहीं जा सकता। धार्मिक श्रेष्ठता का व्यामोह सही विचारों को पनपने नहीं देता। सिद्ध इस व्यामोह से मुक्त थे। सिद्धों का और सहजयान का अध्ययन इसी पृष्ठभूमि में होना चाहिये। सहज योग भारतीय मनीषा की एक उत्कृष्ट अवधारणा है। इसकी सहायता से हम विश्वाहन्ता की यात्रा पूरी कर एक विश्वसंस्कृति का विकास कर सकते हैं ।।

●

तान्त्रिक योग की चरमोपलब्धि : विश्वाहन्ता

आस्तिक-नास्तिक, वैदिक-अवैदिक सभी भारतीय दर्शनों में अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने में योगशास्त्र की सहायक भूमिका स्वीकार की गई है। प्रत्येक दर्शन में परम तत्त्व के निरूपण के साथ-साथ उस स्थिति तक पहुँचने के लिये शरीर और मन की शुद्धि आवश्यक बताई गई है। शरीर और विशेष कर मन की शुद्धि यौगिक प्रक्रिया के आधार पर ही की जा सकती है। अत: अनिवार्य रूप से प्रत्येक दर्शन में योग का निरूपण पाया जाता है। प्रत्येक दर्शन की कुछ विशेष यौगिक प्रक्रिया भी हो सकती है, किन्तु कुछ सामान्य नियम सर्वत्र एक स्वर से मान्य हैं, जिनका कि पातंजल योगसूत्र में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार योग दर्शन को हम सर्वसामान्य दर्शन कह सकते हैं, जिसमें कि बिना किसी धार्मिक भेदभाव के शारीरिक परिष्कार के साथ-साथ मन के भी सर्वविध परिष्कार का मार्ग दिखाया गया है।

महर्षि पतंजलि के द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग का उपयोग मुख्यत: चित्त की वृत्तियों को, अर्थात् मन को नियन्त्रित करने के लिये किया जाता है। योग की सर्वोत्तम परिभाषा भी यही मानी जा सकती है। अष्टांग योग के अभ्यास से मनुष्य न केवल शारीरिक चेष्टाओं, किन्तु मन की नाना प्रकार की वृत्तियों पर भी अपना नियन्त्रण स्थापित करने में समर्थ हो जाता है।

बौद्ध-वैष्णव और शैव-शाक्त तन्त्र ग्रन्थों में अष्टांग योग के स्थान पर षडंग योग का विधान हैं। इसमें पातंजल योग के यम, नियम और आसन इन तीन अंगों को छोड दिया गया है। बौद्ध तन्त्रों में अनुस्मृति और वैष्णव-शैव तन्त्रों में तर्क को योगांग के रूप में मान्यता मिली है। योग के क्षेत्र से ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि उत्कृष्ट मानवीय गुणों को अपने में समेटे हुए यम-नियम नाम के अंगों का निष्कासन भारतीय इतिहास की एक शोचनीय घटना रही है। इसीलिये म० म० पी० वी० काणे महोदय को लिखना पड़ा कि तान्त्रिक षडंग योग से यम-नियम को इसलिये छोड़ दिया गया कि ये पंचमकार वाली दृष्टि के विरुद्ध पड़ते थे। हम आसनों के बिना योग की कल्पना ही नहीं कर सकते। योगांग के रूप में आसन शारीरिक और मानसिक चिकित्सा की पहली सीढी है, किन्तु इस तान्त्रिक योग में इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। योग का यह स्वरूप आज के हिप्पियों को आकर्षक लग सकता है। योग के अंग के रूप में तर्क को स्वीकार करने की बात आजकल के बुद्धिजीवियों को भी पसन्द आने लायक है। काश्मीर शैव-दर्शन के मूल ग्रन्थ मालिनीविजय तन्त्र (१७.१८) और अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक (४.१५) में तर्क को योग के अंगों में श्रेष्ठ माना है —

योगाङ्गत्वे समानेऽपि तर्को योगाङ्गमुत्तमम् ।

इतना ही नहीं, इन तन्त्र ग्रन्थों में ''गुरुतः शास्त्रत स्वतः'' इत्यादि शास्त्रवचनों के प्रमाण पर गुरुवचन और शास्त्रवचन की तरह अपनी प्रतिभा को भी अर्थ के निश्चय में प्रमाण माना गया है।

तान्त्रिक दर्शन और योग की कुछ बातें आज हमारे लिये समालोच्य हो सकती हैं, किन्तु उनकी विश्वाहन्ता की दृष्टि आज के विश्व के लिये वरदान स्वरूप है। *तान्त्रिक दर्शन इस विश्व को अलीक या माया का खेल नहीं मानता, उसकी दृष्टि में यह जगत् उतना ही सत्य है, जितना कि प्रत्येक दर्शन का अपना परमतत्त्व होता है.। हम यह भी कह सकते हैं कि यह सब कुछ परमतत्त्वमय है, उसकी शक्तियों का विलास है। परमतत्त्व अपनी कुछ शक्तियों को समेट कर परिमित प्रमाता बन जाता है और पुनः वही अपनी शक्तियों का विस्तार कर अपरिमित प्रमाता, पूर्ण प्रमाता हो जाता है। परिमित प्रमाता जीव और अपरिमित प्रमाता परमतत्त्व है। अज्ञ जीव की अहन्ता अपने शरीर तक ही सीमित रहती है, किन्तु वह भी अपनी इस अहन्ता का विस्तार पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धव, राष्ट्र आदि तक कर लेता है। इसी पद्धति से सारे विश्व के साथ अपनी अहन्ता का विस्तार कर लेना ही विश्वाहन्ता कही जाती है। इस विश्वाहन्ता का प्रतिपादन आगम और तन्त्र ग्रन्थों में, विशेष कर कश्मीर और केरल में विकसित प्रत्यभिज्ञा दर्शन के ग्रन्थों में विस्तार से हुआ है। जीव और शिव ये दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं। जीव ही शिव है और शिव ही जीव है। जीव जब जान जाता है कि मैं ही शिव हूँ, तो उसको यह सारा विश्व शिवस्वरूप ही नजर आता है और इस तरह से*

वह सारे विश्व को अहन्ता से ओत-प्रोत पाता है। यही स्थिति शास्त्रों में विश्वाहन्ता के नाम से कही गई है। विरूपाक्षपंचाशिका में इस स्थिति का वर्णन इस तरह से किया गया है—

विषयशरीरेन्द्रियधीप्राणनिरोधप्रसिद्ध्यदस्मित्वाम् ।
इत्थं चितिमखिलेऽध्वनि धारयतो विश्वदेहत्वम् ।। (श्लो. ४)

इस विश्वदेहभाव को विकसित करने के उपाय के रूप में तन्त्रशास्त्र में सहज योग का सहारा लिया गया है। विरूपाक्षपंचाशिका, परमार्थसार, तन्त्रालोक आदि ग्रन्थों में इसका प्रसंगवश अथवा प्रधानतया वर्णन मिलता है। यह सहज योग सिद्धों को परम प्रिय रहा है, किन्तु केवल सिद्धों को केन्द्रबिन्दु मान कर किया गया सहज योग का अनुशीलन अधूरा ही माना जायगा। कश्मीर ग्रन्थमाला में प्रकाशित विज्ञानभैरव नाम के ग्रन्थ में इस स्थिति तक पहुँचने के लिये ११२ धारणाओं का निरूपण किया गया है, जिनकी कि चरम परिणति सहज समाधि में होती है। इसमें प्रतिपादित प्रत्येक धारणा का विनियोग अन्ततः विश्वाहन्ता के विकास में, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने में ही किया गया है। योगदर्शन में भी "स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेः"(४.३३) कह कर इसी स्थिति को योग का चरम लक्ष्य बताया है। विरूपाक्षपंचाशिका में कहा गया है —

ख्यातिमपूर्णां पूर्णख्यातिसमावेशदार्ढ्यतः क्षपय ।
सृज भुवनानि यथेच्छं स्थापय हर तिरय भासय च ।। (श्लो. ५२)

विज्ञानभैरव (श्लो. ११०) में बताया गया है कि जल की तरंगें जल से ही उठती हैं, अग्नि की लपटें अग्नि से ही निकलती हैं और सूर्य की किरणें सूर्य से ही सर्वत्र फैलती हैं, उसी प्रकार यह सारा विश्व भी शिव से ही निकलता है —

जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्ग्यः प्रभा रवेः ।
ममेव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विभेदिताः ।।

विज्ञानभैरव के आरम्भ में—

तत्त्वतो न नवात्माऽसौ शब्दराशिर्न भैरवः ।
न चासौ त्रिशिरादेवो न च शक्तित्रयात्मकः ।।

नादबिन्दुमयो वापि न चन्द्रार्धनिरोधिका ।
न चक्रक्रमसंभिन्नो न च शक्तिस्वरूपकः ।। (श्लो. ११-१२)

इन दो श्लोकों में इससे पूर्व विकसित विभिन्न तान्त्रिक दृष्टियों में प्रतिपादित परमतत्त्व के स्वरूप का और उन उन स्वरूपों की अधिगति (प्राप्ति) के लिये अनुष्ठेय विभिन्न यौगिक उपायों का निषेध किया गया है। वहाँ परमतत्त्व का वास्तविक स्वरूप इस प्रकार वर्णित है —

अन्त:स्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ।
याऽवस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मन: ।।

तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम् ।
एवंविधे परे तत्त्वे क: पूज्य: कश्च तृप्यति ।। (श्लो. १५-१६)

विज्ञानभैरव के अन्त में सहज योग के अनुरूप जप, तर्पण, स्नान, ध्यान, होम, याग, क्षेत्र, तीर्थ आदि की वे व्याख्याएँ दी गई हैं, जिनको कि आजकल सिद्धों और सन्तों की अनोखी स्वच्छन्द कल्पना माना जाता है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि तन्त्रशास्त्र की कुछ शाखाओं की विसंगतियों के कारण आज पूरे आगमशास्त्र और तन्त्रशास्त्र का विशाल वाङ्मय उपेक्षित कर दिया गया है। वास्तव में इनके बिना भारतीय वाङ्मय की किसी भी शाखा का अध्ययन अधूरा ही रहेगा। हम आयुर्वेद को ही लें। शिव के पूर्व मुख से गारुड़ तन्त्रों का और पश्चिम मुख से भूत तन्त्रों का प्रादुर्भाव माना जाता है।

प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय में २८ गारुड़ तन्त्रों के साथ २४ भूत तन्त्रों के नाम गिनाये गये हैं। गारुड़ तन्त्रों में नाना प्रकार के विषों का तथा भूत तन्त्रों में मानसिक रोगों की विभिन्न दशाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। अन्य क्षेत्रों के समान आयुर्वेद के इतिहास ग्रन्थों में भी इन ग्रन्थों का न तो कोई उल्लेख है और न उनके अध्ययन की ओर कोई प्रवृत्ति ही है। श्रद्धेयचरण म० म० प० श्री गोपीनाथ कविराज महोदय का एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है — ''तान्त्रिक साहित्य''। इस ग्रन्थ में जिन तन्त्र-ग्रन्थों का समावेश किया गया है, उनमें आयुर्वेद संबन्धी विषयों का विस्तार से वर्णन मिलता है।

हमने ऊपर बताया है कि वैदिक-अवैदिक, आस्तिक-नास्तिक सभी दर्शनों में योगशास्त्र की प्रक्रिया को स्वीकार किया गया है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रारम्भ से लेकर आज तक उसका एक ही रूप रहा। कुछ मूल मान्यताएँ समान रहते हुए भी इस शास्त्र का भारतवर्ष में आश्चर्यजनक विकास हुआ है। इसका लेखा-जोखा इस छोटे से निबन्ध में नहीं किया जा सकता। हमने अपने विज्ञानभैरव के हिन्दी अनुवाद के उपोद्घात में इस विषय पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि *तान्त्रिक योग की विश्वाहन्ता दृष्टि उन संकीर्ण मानवीय मान्यताओं को दूर करने में सर्वाधिक समर्थ हो सकती है, जिनके कारण आज का मानव-समाज मनोवैज्ञानिक रूप से रोगशय्या पर पड़ा हुआ है ।।*

●

बौद्ध एवं शैव-शाक्त तन्त्रों का समान दृष्टिकोण

तर्कतीर्थ श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी भारतीय विद्या और संस्कृति के तथा आधुनिक समाजवाद के प्रबुद्ध चिन्तक मनीषी रहे हैं। हमें याद पड़ता है कि इनके भारतीय संस्कृति सम्बन्धी किसी ग्रन्थ पर आचार्य नरेन्द्रदेव ने प्रस्तावना लिखी थी। अभी हाल में उन्होंने केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी में लालमणि जोशी स्मृति व्याख्यानमाला के अन्तर्गत एक सारगर्भ व्याख्यान[१] दिया था। उसमें उन्होंने प्राचीन औपनिषद साहित्य का बौद्ध साहित्य पर तथा प्राचीन बौद्ध विचारधारा का महाभारत पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा, इसका सुन्दर विश्लेषण किया था।

उनका कहना है कि बुद्ध के उपदेशों की प्रतिध्वनि महाभारत के शान्तिपर्व के तुलाधार-जाजलि संवाद में ध्वनित होती है। जाजलि ब्राह्मण ऋषि हैं और तुलाधार किराना माल को बेचने वाला वैश्य[२]। यह कथा वहाँ (गीता प्रेस संस्करण) २६१-२६४ अध्यायों में वर्णित है। जाजलि ने घोर तपस्या की थी। तपस्या करते समय इनकी जटा में गोरैया ने घोंसला बना लिया था। इस तपस्या के प्रभाव से इनको जल और आकाश में भी अबाध गमन की सिद्धि प्राप्त हुई थी। इससे इनका अहंभाव जाग उठा। इनकी गर्वोक्ति को सुनकर अपरिज्ञात राक्षसों और पिशाचों ने उनसे कहा था कि ऐसी गर्वोक्ति तो वाराणसी का धार्मिक तुलाधार भी नहीं कर सकता। थोड़ी देर बाद इसी सूचना को आकाशवाणी ने भी दुहराया। इससे क्रुद्ध कर वह तुलाधार से मिलने वाराणसी की ओर चल पड़ा। वार्तालाप के प्रसंग में तुलाधार ने जाजलि से कहा कि धन[३] कमाने के लोभी नास्तिक पुरुषों ने वैदिक वचनों का तात्पर्य न समझ कर सत्य-से प्रतीत होने वाले मिथ्या यज्ञों का प्रचार किया है। [४]वस्तुतः मनुष्य को आत्मयज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये। २६४ वें अध्याय में उसी ऋषि की जटा में पले हुए पक्षी जाजलि को श्रद्धा का महत्त्व समझाते हैं।

इस कथा में अहंकारी ब्राह्मण से विनयशील वैश्य की श्रेष्ठता बताई गई है। महाभारत के वनपर्व में इसी प्रकार के ब्राह्मण से स्त्री और शूद्र की भी श्रेष्ठता प्रदर्शित है। यह उपाख्यान वहाँ २०६-२१६ अध्यायों में वर्णित है। इसमें बताया गया है कि वेदाध्यायी कौशिक नामक

---

१. केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी द्वारा 'सम्यक् वाक्' सिरीज संख्या ४, श्रमण विद्या, प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय स्मृति अंक २ में सन् १९८८ में प्रकाशित।

२. शास्त्री जी के मुद्रित भाषण का पृ. १९ देखिये।

३. लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः संप्रवर्तितम् ।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ।। (२६३.६)

४. सर्वा नद्यः सरस्वत्यः सर्वे पुण्याः शिलोच्चयाः ।
जाजले ! तीर्थमात्मैव मा स्म देशातिथिर्भव ।। (२६३.४२-४३)

ब्राह्मण वृक्ष की छाया में बैठ कर वेदपाठ कर रहा था। पेड़ पर बैठी बलाका ने उस पर बीट कर दी और कुपित ब्राह्मण के देखने मात्र से वह भस्म हो गई। वह ब्राह्मण भिक्षा के लिये एक गृहस्थ के यहाँ पहुँचा। उसने भिक्षा के लिये आवाज लगाई और उसको गृहिणी का आश्वासन भी मिला, किन्तु इसी बीच गृहिणी बाहर से घर आये अपने पति की सेवा-शुश्रूषा में लग गई और याद आने पर फिर ब्राह्मण को भिक्षा देने पहुँची। इस व्यवहार से ब्राह्मण कुपित हो गया और कहने लगा कि ब्राह्मणों से इन्द्र भी डरता है, ये कुपित होने पर सारी पृथ्वी को भस्म कर सकते हैं। इस पर गृहिणी ने कहा कि हे ब्राह्मण देवता! मैं बलाका नहीं हूँ कि आपकी क्रोधभरी दृष्टि से भस्म हो जाऊँगी। वह कहती है कि देवता उसी को ब्राह्मण मानते हैं, जिसने क्रोध और मोह को जीत लिया है। स्त्री की बातों से लज्जित हो वह ब्राह्मण उस स्त्री के कहने से मिथिला के धर्मव्याध से धर्म का रहस्य जानने को निकल पड़ता है। वह लोगों से पूछ कर धर्मव्याध के कसाईखाने तक पहुँच जाता है और उसके इस घोर कर्म की निन्दा करता है। धर्मव्याध उसको बताता है कि मैं अपनी कुलक्रमागत वृत्ति से अपनी गृहस्थी चलाता हूँ और अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा करता हूँ। यहाँ अनेक अध्यायों में धर्मव्याध धर्म की सूक्ष्मता का वर्णन करता है। अन्तिम तीन अध्यायों में वह माता-पिता की सेवा का महत्त्व समझाता है और उस ब्राह्मण को भी ऐसा ही करने के लिये कहता है। धर्मव्याध के उपदेश से प्रभावित वह वेदपाठी कौशिक ब्राह्मण ऐसा ही करने का निश्चय करता है और उस उपदेष्टा धर्मव्याध (कसाई) की परिक्रमा[१] कर अपने घर के लिये चल पड़ता है।

महाभारत के ही आश्वमेधिक पर्व के ९० वें अध्याय में एक नेवला उञ्छ वृत्ति के ब्राह्मण परिवार द्वारा किये गये सेर भर सत्तू के दान की महिमा को युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ से बढ़ कर बताया गया है। युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ के पूरा होने पर वहाँ एक नेवला आता है, जिसके शरीर का एक तरफ का हिस्सा सोने का-सा था। ब्राह्मणों के पूँछने पर उसने कुरुक्षेत्र में रहने वाले ब्राह्मण परिवार द्वारा दिये गये सेर भर सत्तू के दान की महिमा बताई। अनेक दिनों का भूखा परिवार सेर भर जौ का सत्तू बना और उसको बराबर बाँटकर जब खाने बैठा, तो उसी समय कोई अतिथि आ गया। उस अतिथि को पहले ब्राह्मण ने अपना हिस्सा दिया, तब ब्राह्मणी ने। उसके बाद पुत्र और पुत्रवधू ने भी अपना हिस्सा उस अतिथि को दे दिया। इस कथा को सुना कर नेवला लोगों से कहता है कि थोड़ी देर बाद मैं अपने बिल में से निकला और वहाँ बिखरे हुए सत्तू को खाने लगा। इससे मेरा मुँह और आधा शरीर, जिससे सत्तू का स्पर्श हुआ, सुवर्ण के वर्ण का हो गया। अब मुझे चिन्ता लगी कि मैं अपने बचे आधे शरीर को कैसे सुवर्णमय बनाऊँ। युधिष्ठिर के यज्ञ की चर्चा सुन कर बड़ी आशा से मैं यहाँ आया था, किन्तु आप लोग देख रहे हैं कि इस पवित्र यज्ञस्थली

१. प्रदक्षिणमथो कृत्वा प्रस्थितो द्विजसत्तमः। (२१६.३२)

में भी मेरा आधा शरीर सुवर्णमय नहीं हो रहा है। इसीलिये मैं कहता हूँ कि युधिष्ठिर का यह यज्ञ गरीब ब्राह्मण परिवार के सेर भर सत्तू के दान के सामने कुछ भी नहीं है।

शास्त्री जी ने विभिन्न भारतीय धर्मों में आदान-प्रदान की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिये दर्शनों के अतिरिक्त रामायण, महाभारत, हरिवंश, विष्णुपुराण आदि ग्रन्थों का तथा भास, कालिदास, अश्वघोष, भवभूति आदि कवियों का भी उल्लेख किया, किन्तु आगम और तन्त्रशास्त्र की उन्होंने कोई चर्चा नहीं की, जब कि यह कहा जा सकता है कि सभी भारतीय धर्मों की एकनीडता तान्त्रिक धर्म में ही अधिक स्पष्ट हो पाई है। हमने दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोधयोजना की शोधपत्रिका 'धी:' के प्रथम और तृतीय अंक में बौद्ध और शैव-शाक्त तन्त्रों की तुलनात्मक सामग्री का संकलन किया था। इसको देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अनेक विषयों में इन सभी धर्मों अथवा सम्प्रदायों का दृष्टिकोण अद्भुत रूप से एक जैसा है।

बौद्ध धर्म में जाति को प्रारम्भ से ही अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। भगवान् बुद्ध का नापित जाति का सेवक विनयधर उपालि उनके निर्वाण के बाद बुद्धवचनों का संग्रह करने में प्रमुख भाग लेता है। महाभारत के ऊपर वर्णित आख्यानों में भी इसकी झलक मिलती है। तन्त्रालोककार अभिनवगुप्त ने महाभारतीय शान्तिपर्व के मोक्षधर्म प्रकरण और मुकुटसंहिता आदि के प्रमाण से जातिग्रह को दुराग्रह मात्र सिद्ध किया है कि [१]ब्राह्मण्य की निष्पत्ति में योनि को कारण नहीं माना जा सकता। वस्तुत: ब्राह्मण वही है, जिसकी आत्मा शान्त है। [२]एक ब्राह्मण बुरा काम करता है और शूद्र भला काम। ऐसी अवस्था में धर्म और अधर्म के आचरण में जाति को कारण कैसे माना जा सकता है? मुकुटसंहिता का कहना है कि [३]कपटी ब्राह्मण की अपेक्षा निश्छल मन का म्लेच्छ कहीं श्रेष्ठ है। ऐसा ही भक्त शिव को प्रिय है, चार वेदों का अध्येता कपटी ब्राह्मण नहीं। अभिनवगुप्त के परवर्ती क्षेमराज, जयरथ, अमृतानन्द, महेश्वरानन्द आदि आचार्यों ने भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया है। [४]स्वच्छन्दतन्त्र का भी कहना है कि दीक्षा के बाद व्यक्ति के जातिपरक सारे भेद मिट जाते हैं। तब पूर्व जाति का स्मरण करने वाला व्यक्ति प्रायश्चित्त का भागी होता है।

---

१. योनिर्न कारणं तत्र शान्तात्मा द्विज उच्यते।। (तन्त्रा० १५.५१३)

२. ब्राह्मणेन कृतं पापं शूद्रेण सुकृतं कृतम् ।
किमत्र कारणं जातिर्धर्माधर्मेषु शस्यते ।। (तन्त्रा० वि० १५.५१४)

३. द्विजोऽपि मायी त्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमायक: ।
स प्रियस्तु महेशस्य चतुर्वेदो न दाम्भिक: ।। (तन्त्रा० वि० १५.५१४)

४. ब्राह्मणा: क्षत्रिया वैश्या: शूद्राश्चान्येऽथवा प्रिये ।
सर्वे ते समधर्माण: शिवधर्मे नियोजिता: ।। ...
एकैव सा स्मृता जातिर्भैरवीया शिवाव्यया ।...
प्राग्जात्युदीरणाद् देवि प्रायश्चित्ती भवेन्नर: ।। (स्व० त० ४.५४०-५४६)

जातिग्रह के ही समान विधि-निषेध, शुद्धि-अशुद्धि, भक्ष्य-अभक्ष्य आदि की चिन्ताओं से भी व्यक्ति का मन सदा सशंक बना रहता है। इस तरह की शंका को भी तन्त्रशास्त्र में पाश (बन्धन) ही माना गया है। इन बन्धनों से मुक्त हुए बिना व्यक्ति को मुक्ति या निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस विषय में मालिनीविजयतन्त्र (१८.७४-८१) में एक लम्बा उद्धरण दिया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि शुद्धि और अशुद्धि का विधान, भक्ष्य और अभक्ष्य का निरूपण, द्वैत और अद्वैत का उपदेश, लिंगपूजा आदि का विधान या निषेध, निष्परिग्रह रहने या सपरिग्रह होने का विधान, जटा-भस्म आदि का स्वीकार या निषेध, व्रत आदि का आचरण करना या न करना, तिलक आदि चिह्न, नाम, गोत्र आदि को रखना या न रखना जैसी बातों के पक्ष या विपक्ष में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। ये सभी व्यवहार विहित भी माने जा सकते हैं और निषिद्ध भी। इसमें साधक की इच्छा ही प्रमाण है कि वह इनका आचरण करे या न करे। वस्तुतः तत्त्वज्ञान में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। नियम के नाम पर शास्त्रों में केवल इतना ही कहा गया है कि योगी को प्रयत्नपूर्वक परम तत्त्व में अपने चित्त को स्थिर करने का प्रयास करते रहना चाहिये। चित्त की यह स्थिरता जैसे भी हो, योगी को तदनुसार अपनी चर्या बना लेनी चाहिये। जिस योगी का चित्त परम तत्त्व में स्थिर हो गया है, वह विषयों का उपभोग करता हुआ भी उनके दोषों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जैसे जल में रहते हुए भी कमलदल उससे निर्लिप्त रहता है। विष को दूर करने वाला गारुड़िक अपने शरीर को मन्त्रों से जब सुरक्षित कर लेता है, तो उस पर जहर का असर नहीं होता। उसी तरह से यह महान् मतिशाली योगी विषय रूपी विष को खाकर भी मोहित नहीं होता।

ये सब बातें महान् मतिशाली योगी के लिये ही नहीं, सामान्य मानव पर भी लागू हो सकती हैं। चित्त की शुद्धि के लिये मिट्टी, जल आदि से की जाने वाली शारीरिक शुद्धि का तब तक कोई उपयोग नहीं है, जब तक की व्यक्ति बहिर्मुख बना रहता है, एषणाओं के जाल में फँसा रहता है। ऊपर से चमचमाता विष्ठा से भरा सोने का घड़ा जैसे पवित्र नहीं माना जा सकता, उसी तरह से स्नान, सन्ध्या से पवित्र बहिर्मुख कपटी व्यक्ति भी वास्तव में पवित्र नहीं माना जा सकता। स्पष्ट है कि केवल शरीर की शुद्धि से अथवा पूजा-पाठ आदि से चित्त निर्मल नहीं हो सकता। इससे केवल पाखंड को ही बढ़ावा मिलता है। इसके विपरीत मलिन शरीर में भी पवित्र आत्मा निवास करती है। बौद्ध सिद्धों, वैष्णव आलवारों, सन्तों और गुरुओं की परम्परा में ऐसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। स्पष्ट है कि जातिग्रह के समान विधि-निषेध, शुद्धि-अशुद्धि, भक्ष्य-अभक्ष्य आदि व्यवस्थाओं के आधार पर मनुष्य का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इसीलिये तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में इन बाह्य विधि-विधानों की अपेक्षा मानव मन को उदार बनाने वाले तत्त्वों पर अधिक बल दिया गया है।

तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में इस तरह के उदाहरण मिलते हैं कि यहाँ अच्छे विचारों को एक दूसरे से ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं किया गया है। चर्यागीतिकोश की व्याख्या में अभिनवगुप्त का एक श्लोक उद्धृत है। अन्य भी अनेक वचन ठीक उसी रूप में विभिन्न शाखाओं में मिलते हैं। कहीं-कहीं शब्द-भेद या वाक्य-भेद होने पर भी उनका अभिप्राय एक सरीखा दिखता है। स्वात्मदेवतावाद और एक ही जन्म में मुक्ति की बात भी सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों में स्वीकार की गई है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वह सब कुछ मनुष्य के शरीर में भी है। अतः अपने शरीर की पूजा करने से सब कुछ पूजित हो जाता है। वासनाओं के दमन के लिये कठोर तप करने की अपेक्षा यहाँ वासनाओं का शमन का उपदेश किया गया है। दमित वासनाएँ कभी भी भड़क कर व्यक्ति को पथभ्रष्ट कर सकती हैं, किन्तु उपभोग से जब वासनाएँ शान्त हो जाती हैं, तो उससे स्वहित और परहित की उज्ज्वल संभावनाएँ निखर उठती हैं। वह इहलोक और परलोक की एषणाओं से ही नहीं, मोक्ष की आकांक्षा से भी मुक्त हो जाता है। बन्ध और मोक्ष की परिभाषा सभी अद्वैतवादी दार्शनिकों ने एक-सी की है। उनका कहना है कि चित्त की विशुद्धि से व्यक्ति इसी जन्म में मुक्त हो जाता है, उसका सारा अज्ञान नष्ट हो जाता है, संकुचित विचार समाप्त हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी देश, जाति या धर्म का हो, इसी जन्म में एक अनोखे अन्तस्तोष की अनुभूति कर सकता है, यदि वह किसी को सताता नहीं और दुःखी मानवता को राहत पहुँचाने का भरसक प्रयत्न करता है। तन्त्रशास्त्र की प्रत्येक शाखा का यही डिण्डिम-घोष है। दक्षिण भारत के शैव और वैष्णव सन्त, उत्तर भारत के सिद्ध और नाथ, कबीर, रैदास, दादूदयाल जैसे सन्त और नानक आदि गुरुओं की परम्परा तन्त्रशास्त्र के इसी दृष्टिकोण से अनुप्राणित है।

तान्त्रिक रहस्यवाद की मृगतृष्णा में न भटक कर हमें तन्त्रशास्त्र के इस सामाजिक परिवेश, परहित-कातरता और विश्वजनीन दृष्टिकोण को अपनाना चाहिये। तान्त्रिक रहस्यवाद ने भारत को बहुत भरमाया है। अपने को ऊँचा मानने वाले तबके को नीचे गिराने का काम इसी ने किया है और उन्हीं की करतूतों से तन्त्रशास्त्र का उज्ज्वल पक्ष तिरोहित हो गया है। सभी धर्मों को एक ही छत्तरी के नीचे इकट्ठा करने का रास्ता मात्र तन्त्रशास्त्र ही दिखा सकता है। दुनियाँ को जिस एकता की आवश्यकता है, तन्त्रशास्त्र ने उस पथ को एक हजार वर्ष पहले ही प्रशस्त कर दिया है। आवाप और उद्वाप, ग्रहण करना और छोड़ना भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। वह पुराने कालातीत विचारों को छोड़ती जाती है और नये उपादेय तत्त्वों को अपनाती रहती है, उनको अपने में समेटती चलती है। आगम और तन्त्रशास्त्र ने इस कार्य को पूरी तत्परता से पूरा किया है और आज भी हम उसका अनुसरण कर विश्व की पूरी मानवता को शान्ति का नया सन्देश सुना सकते हैं ॥

सन्त कबीर के प्रेरक तत्त्व

कबीर एक क्रान्तद्रष्टा सन्त कवि थे। निर्गुण रहस्यवाद उनका प्रिय विषय था। उलटवांसियों के माध्यम से वे अपने गूढ़ मनोभावों को व्यक्त करते थे। "गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी। बलात्कारेण भुञ्जीयात् तद्विष्णोः परमं पदम् ॥" इस प्रकार के श्लोक कहीं-कहीं संस्कृत वाङ्मय में भी देखने को मिल जाते हैं। स्वच्छन्दतन्त्र, कुलार्णव जैसे तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में तो अन्तिम प्रकरण इस प्रकार के शब्दों की व्याख्या के साथ ही पूरा होता है। स्वच्छन्दतन्त्र में इसको छुम्मा प्रकरण कहा गया है। बौद्ध तन्त्रों में भी इस प्रकार के प्रकरण मिलते हैं। रहस्यवादी सिद्धों का जीवन विपरीतता से ही, उलटवांसियों से ही भरा हुआ था। अद्वयवादी शैव, शाक्त और बौद्ध ग्रन्थों में रहस्यवाद से ओत-प्रोत अनेक प्रसंग मिलते हैं। इन प्रकरणों में अनेक स्थानों पर प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है। स्वच्छन्दतन्त्र में प्रयुक्त छुम्मा शब्द भी संस्कृत भाषा का न होकर प्राकृत भाषा अथवा उस समय की प्रचलित लोकभाषा का प्रतीत होता है। इन लोक-भाषा के वचनों में कबीर के प्रेरणास्रोत तत्त्वों की खोज की जा सकती है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में आणव, शाक्त, शाम्भव नामक उपाय वर्णित हैं। चौथा उपाय अनुपाय प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है। इस अनुपाय प्रक्रिया की तुलना हम सिद्धों के सहजयान से कर सकते हैं। शाक्त उपाय द्वारा विकल्पों की शुद्धि तथा शाम्भव उपाय में विकल्पों का विलोपन होता है। यह सारा जगत् विज्ञानभैरव का विलास है, ऐसा मान कर प्रत्येक जागतिक पदार्थ में उसी के स्वरूप को देखना विकल्प-शुद्धि है। विकल्प के शुद्ध हो जाने पर अन्ततः वह शिवाभिन्न हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिये जप, होम, पूजा, ध्यान, तर्पण, याग आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहती। ऐसा साधक अन्तःकरण की शुद्धि पर अधिक बल देता है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ है, उसके लिये विष्ठापूर्ण सुवर्ण घट का दृष्टान्त दिया गया है। यह विषय योगवासिष्ठ, मालिनीविजय, विज्ञानभैरव जैसे ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित हुआ है। शाम्भव और शाक्त उपाय के प्रतिपादक तन्त्रालोक, महार्थमंजरी, योगिनीहृदयदीपिका सरीखे ग्रन्थों में भी यह विषय प्रसंगवश आता है। हम बानगी के रूप में इस विषय का उपस्थापन यहाँ इस निवेदन के साथ करना चाहते हैं कि सन्त कबीर का अध्ययन इसी पृष्ठभूमि में नयी पद्धति से होना चाहिये।

इष्टदेवता के सकल और निष्कल स्वरूप का वर्णन तन्त्रशास्त्रों में मिलता है। विज्ञानभैरव का कहना कि भगवान् का सकल स्वरूप इन्द्रजाल के समान, माया से निर्मित गन्धर्वनगर, मृगमरीचिका, रज्जु-सर्प अथवा केशोण्ड्रक के समान स्वप्न में देखी गयी वस्तु के समान अस्थिर है, असत्कल्प है। अर्थात् इन्द्रजाल, गन्धर्वनगर आदि की सत्ता जैसे भ्रम पर आधारित है, वैसे ही यह सकल स्वरूप भी भ्रम पर आधारित होने से ही असार है। इस तरह की भ्रान्त बुद्धिवाले, फल की आकांक्षा से नाना कर्मकाण्डों में रुचि रखने वाले "मैं विष्णु

की पूजा करता हूँ, मैं गणपति की पूजा करता हूँ, ये मुझे पुत्र, धन आदि देंगे'' इस तरह के भाँति-भाँति के संकल्प-विकल्पों के कारण अपने वास्तविक स्वरूप से अपरिचित व्यक्तियों के लिये यह सकल स्वरूप उपदिष्ट है। इसका उपदेश इसलिये किया जाता है कि निष्कल स्वरूप में प्रवेश पाने के लिये साधक को पहले सकल स्वरूप में ध्यान की योग्यता प्राप्त हो। सकल स्वरूप का यह उपदेश तत्त्व के जिज्ञासुओं के लिये नहीं है। जिनकी बुद्धि पवित्र नहीं हुई है, ऐसे ही व्यक्तियों की बुरी प्रवृत्तियों तथा नाना अभिनिवेशों की शान्ति के लिये बालविभीषिका का रूप में यह विहित है। जैसे बच्चों की गलत जिद को झूठा डर दिखाकर माता शान्त कर देती है, अथवा जैसे माता बालक को लड्डू अथवा मिठाई देकर दवा खिलाती है, उसी तरह से भाँति-भाँति के साधन बताकर मनुष्य को भगवान् की आराधना में लगाया जाता है, जिससे कि वे निष्कल स्वरूप को समझने के योग्य बन सकें।

वास्तव में देखा जाय तो साधक के अपने स्वात्मस्वरूप के अतिरिक्त कोई पूजनीय और तर्पणीय तत्त्व है ही नहीं, क्योंकि पूज्य, पूजक और पूजा ; तर्पक, तर्पणीय, तर्पण आदि सभी त्रिपुटी स्वरूप जागतिक पदार्थ परमार्थत: चिदानन्दघन परमतत्त्व की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं। इस स्थिति में कर्मकाण्ड का यह सारा आडम्बर व्यर्थ है।

इस प्रकार कर्मकाण्ड की व्यर्थता को उजागर करने के उपरान्त विज्ञानभैरव के अन्तिम कुछ श्लोकों में जप, ध्यान, पूजा, तर्पण, होम, याग, स्नान आदि की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। उसके अनुसार स्वच्छन्दतन्त्र में वर्णित —''मैं इस जगत् का परम कारण परमहंस प्राणमय शिव हूँ'' इस विधि से दिन-रात स्वाभाविक रूप से प्रवर्तमान अपने प्राणमय अजपा स्वरूप के विमर्श और चिन्तन करने का जो उपदेश किया जाता है, तदनुरूप मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही शिव हूँ, इस अनाहत नादरूपी शब्द (सोऽहं हंस:) की निरन्तर चल रही मानसिक भावना को ही यहाँ जप कहा गया है। जपनीय मन्त्र भी नादात्मक ब्रह्म ही है, जिसमें कि अपने अकृत्रिम अहमात्मक स्वरूप का निरन्तर परामर्श होता रहता है। श्रीकण्ठीसंहिता में बताया गया है कि मन्त्र, मन्त्री और मन्त्र की अधिष्ठात्री देवता — ये तीनों कभी अलग-अलग नहीं माने जाते। योगिनीहृदयदीपिका, तन्त्रालोक, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, शिवसूत्र आदि ग्रन्थों में इस विषय का विस्तार देखा जा सकता है।

निश्चल अर्थात् अत्यन्त स्थिर, निराकार अर्थात् भाँति-भाँति के आकारों की कल्पना से शून्य अथवा विकारों से रहित, अर्थात् नाना प्रकार के परिणामों से मुक्त, निराश्रय अर्थात् मूलाधार, हृदय, द्वादशान्त आदि स्थानों का सहारा न लेने वाली बुद्धि ही इस शास्त्र में 'ध्यान' पद से कही जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि वेद्य अथवा अवेद्य विषयों की उपस्थिति में भी समाधि के अभ्यास के कारण पवनरहित स्थान में रखे दीपक के समान जो स्थिर निर्विकार बुद्धि होती है, उसी को इस शास्त्र में 'ध्यान' के नाम से जाना जाता है। भगवान् के साकार रूप की कल्पना कर उसके मुँह, आँख आदि अंगों में अपने चित्त को स्थिर करना यहाँ ध्यान नहीं है, ध्यान की यह कल्पना तो स्थूल दृष्टि वालों के लिये है।

यहाँ पुष्प, धूप, गन्ध आदि बाह्य उपकरणों से पूजा नहीं की जाती, किन्तु निर्विकल्प महाकाश, अर्थात् परचिदाकाश बोधभैरव के प्रति दृढ़ आस्था ही पूजा कहलाती है। बोधभैरव से ही यह सारा संसार व्याप्त है। अत: आदर और श्रद्धापूर्वक उस बोधभैरव में, स्वात्मस्वरूप में विश्रान्ति प्राप्त कर लेना, लीन हो जाना ही परमार्थत: पूजा कहलाती है। संकेतपद्धति, तन्त्रालोक, योगिनीहृदयदीपिका, भट्ट उत्पल की शिवस्तोत्रावली और भट्ट नारायण की स्तवचिन्तामणि में इस आध्यात्मिक पूजा का विविध स्वरूपों में वर्णन किया है।

दृढ़तापूर्वक एकाग्र समाधि का अभ्यास करने वाले योगी के चित्त में दिन-प्रतिदिन उत्तरोत्तर निर्विकल्प समाधि के रस के आस्वाद के बढ़ते रहने से सर्वत्र व्याप्त भैरव स्वरूप की,पूर्ण स्वात्मस्वरूप की उपलब्धि जब परिपूर्ण हो जाती है, अर्थात् स्वात्मस्वरूप बोधभैरव का साक्षात्कार स्पष्ट हो जाता है, तो इसी अत्यन्त परिपूर्ण स्थिति का नाम तृप्ति, अर्थात् तर्पण है। तर्पण शब्द की दो तरह की व्याख्या की जाती है। एक के अनुसार पूजा देवताओं की और तर्पण पितरों का किया जाता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार कुल, क्रम आदि शास्त्रों में प्रदर्शित विधि को तर्पण कहते है। इससे प्राप्त उल्लास दशा को तृप्ति कहा जाता है।

महाशून्य, अर्थात् शून्यातिशून्य पदवी (महामाया शक्ति) का चारों तरफ से जिस परतत्त्वात्मक परभैरव स्वरूप वह्नि में विलयन हो जाता है, अर्थात् जहाँ पहुँच कर शून्यातिशून्य पदवी की भी कोई पृथक् सत्ता नहीं रहने पाती, उस बोधभैरव रूप अग्नि में पाँच महाभूत, इन्द्रियगण, जागतिक समस्त पदार्थ,भुवन-तत्त्व आदि संकल्प-विकल्पात्मक सकल जगत् की, इन विभागों की कल्पना में प्रधान सहायक मन के साथ आहुति दे देना ही वास्तविक होम कहलाता है। जैसे होम में घृत आदि की आहुति स्रुवा नाम के लकड़ी से बने पात्र से दी जाती है, उसी तरह से उक्त पदार्थों की यह हवि भी चिति नामक पात्र में रख कर दी जाती है।यह चिति ही सारे विश्व का अनुसन्धान करने वाली चेतना नाम की शक्ति है। इस चेतना में ही समस्त जागतिक पदार्थों को रखकर उनको बोधभैरव रूप अग्नि में लीन कर दिया जाता है, जिससे कि शुद्ध स्वात्मस्वरूप बचा रहता है। अद्वय दृष्टि के अनुसार यही वास्तविक होम है, जिससे कि शुद्ध अद्वय तत्त्व के अतिरिक्त सब कुछ भस्म हो जाता है। स्वच्छन्दतन्त्र, योगिनीहृदयदीपिका आदि ग्रन्थों में होम की यही व्याख्या की गई है। भगवद्गीता (४.२७) में भी यह विषय चर्चित है।

समाधि अवस्था में अनुभूयमान आनन्द से उत्पन्न संतुष्टि ही यहाँ याग,अर्थात् देवयजन (पूजा) कहा जाता है। इसी तरह से पशुप्रमाता को जब पूर्व उपदिष्ट किसी उत्कृष्ट भावना के माध्यम से पतिरूपी रुद्रप्रमाता (अनाश्रित शिव) की शक्ति में समावेश, अर्थात् तन्मयता प्राप्त हो जाती है, तो इस तन्मयीभाव को ही यहाँ क्षेत्र अथवा तीर्थ कहा जाता है। इस शास्त्र में अद्वय दृष्टि की प्रधानता के कारण कुरुक्षेत्र आदि द्वैत दृष्टि के पोषक तीर्थस्थानों को क्षेत्र नहीं कहा जाता। निर्वचन के अनुसार क्षेत्र वह कहलाता है, जो सभी पापों को नष्ट करने

वाला हो और समस्त प्राणियों की इस संसाररूपी भय से रक्षा कर सकता हो। अनाश्रित शिव में समाविष्ट हो जाने पर ही पशुप्रमाता सभी पापों से मुक्त हो सकता है और इस संसार-रूपी महाभय से त्राण पा सकता है।

अद्वय स्वभाव आत्मा के सब तरह से स्वतन्त्र, आनन्द चिन्मात्रस्वरूप का साक्षात्कार होने पर उसी में समाविष्ट हो जाने की स्थिति को यहाँ स्नान कहा गया है। स्वात्मस्वरूप वस्तुत: स्वतन्त्र है। इसका यह स्वरूप आनन्द और ज्ञानमय है। अपने इस स्वाभाविक स्वरूप में साधक योगाभ्यास द्वारा लीन हो जाता है। जैसे तीर्थ में स्नान करने के लिये नदी, जलाशय आदि के जल में डुबकी लगानी पड़ती है, उसी तरह से इस आन्तर स्नान में भी साधक स्वात्मस्वरूप में डुबकी लगाता है। उसकी यह लीनावस्था अद्वयशास्त्र में स्नान कहलाती है।

इष्टदेव की जिन पुष्प, फल, गन्ध, धूप आदि से पूजा की जाती है, अथवा खीर, मिश्री-मावा आदि का भोग लगाया जाता है और जो पूजा करने वाला अथवा भोग लगाने वाला है, वह सब तो एक ही तत्त्व है। पूज्य, पूजनसामग्री और पूजा करने वाला, इस तरह के सभी भेद एक ही तत्त्व के विभिन्न स्वरूप हैं, इस तरह का पारमार्थिक बोध जग जाने पर किससे किसकी कौन पूजा करेगा? इन सभी की एकरूपता के कारण परस्पर कोई भेद नहीं है। तब इस अद्वय तत्त्व में प्रदर्शित भावपूजा के अतिरिक्त स्थूल दृष्टि से सम्पन्न होने वाली पूज्य, पूजा, पूजक आदि की परमार्थ दृष्टि से कोई सत्ता नहीं मानी जा सकती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वयवादी तन्त्र-ग्रन्थों में मन की शुद्धि पर अधिक बल दिया गया है। यही कबीर की वाणी का भी मुख्य लक्ष्य है। सन्त कबीर जब मूर्तिपूजा का निषेध कर पत्थर की चाकी को पूजने के लिये कहते हैं, तो उसका अभिप्राय बाह्य आडंबरों से ऊपर उठकर, बाह्य पूजा से विरत होकर चित्त-शुद्धि के लिये, अपनी मलिन आत्मा के परिष्कार के लिये सर्वात्मना सेवाभाव को स्वीकार कर लेना है। चाकी के पत्थर की सार्थकता इसमें है कि वह हमें पिसा हुआ आटा देता है, ऐसा कोई प्रत्यक्ष लाभ हमें मूर्ति से प्राप्त होता नजर नहीं आता। मूर्तिपूजक का चित्त अन्त:करण की निर्मलता के अभाव में भटक सकता है। सन्त कबीर अपनी विशिष्ट शैली में व्यक्ति को जड़वाद से ऊपर उठाने के लिये अपनी उपयोगिता सिद्ध करने का उपदेश देते हैं। इन ग्रन्थों की पृष्ठभूमि में किया गया अध्ययन ही कबीर की वाणी के सही अर्थों को बता पाने में समर्थ हो सकता है और यह भी कि कबीर की यह वाणी भारतीय संस्कृति की ज्ञानगंगा के अजस्र स्रोत से पूरी तरह जुड़ी हुई है, अपनी सीमा का कहीं भी उसने उल्लंघन नहीं किया है।।

❋❋❋

चतुर्थ परिच्छेद
सुधारवादी आन्दोलन

- स्वामी विवेकानन्द की व्यापक दृष्टि
- योगी अरविन्द का अतिमानस योग
- महात्मा गांधी : अखण्ड भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता
- श्रद्धेय गोपीनाथ कविराज का अखण्ड महायोग
- आचार्य नरेन्द्रदेव का समाजवाद

स्वामी विवेकानन्द की व्यापक दृष्टि

आज हमारे सामने तीन मुख्य विषय विचारणीय हैं—एक तो समकालीन भारतीय चिन्तन, दूसरा धर्मनिरपेक्षता और तीसरा विषय है राष्ट्रिय एकता। मैं समझता हूँ इसमें राष्ट्रिय एकता ही प्रधान लक्ष्य है। यह एकता समकालीन भारतीय चिन्तन से और धर्मनिरपेक्षता से किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है, यही हमारा विचारणीय विषय है। समकालीन भारतीय चिन्तन का अभिप्राय विगत सौ-डेढ सौ वर्षों में पाश्चात्त्य धर्म, संस्कृति और दर्शन के घात-प्रतिघात से उपजे चिन्तन से है। इनमें से कुछ विचारक पाश्चात्त्य संस्कृति और साहित्य से अधिक प्रभावित हैं, तो कुछ भारतीय वाङ्मय से। 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द अंग्रेजी के 'सेक्युलर' शब्द के अनुवाद के रूप में गृहीत है। 'सेक्युलर स्टेट' पर किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, किन्तु उसका जो 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' अनुवाद प्रस्तुत किया गया है, वह भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में पूरी तरह से अवांछनीय है। इन्हीं विषयों पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे।

यहाँ स्वामी विवेकानन्द के साथ हम स्वामी दयानन्द को भी रख सकते हैं, क्योंकि इन दोनों महानुभावों का दृष्टिकोण वेद और वेदान्त के अधिक नजदीक है। इन दोनों ही महान् भारतीय चिन्तकों का यह दृढ विश्वास है कि हम अपनी आधुनिक समस्याओं का ही नहीं, पूरे विश्व की आध्यात्मिक, धार्मिक तथा सामाजिक समस्याओं का भी समाधान इनकी सहायता से कर सकते हैं। कुछ संशोधनों के साथ हम इन महानुभावों के विचारों से पूरी तरह से सहमत हैं। अन्य समकालीन भारतीय चिन्तकों के विचारों की पृष्ठभूमि में हम इनके विचारों की समीक्षा यहाँ प्रस्तुत करना चाहते हैं।

एक स्थान पर स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं—"धिक्कार है ऐसे लोगों को, जो साहबों के सामने जाकर गिड़गिड़ाते हैं कि हम अति नीच हैं, हम बहुत क्षुद्र हैं, हमारा सब कुछ खराब है। पर हाँ, यह बात तुम्हारे लिये ठीक हो सकती है। तुम लोग अवश्य सत्यवादी हो, पर तुम लोग अपने भीतर सारे देश को क्यों जोड़ लेते हो? ए भगवान्, यह किस देश की सभ्यता है? (प्राच्य और पाश्चात्य, पृ. ५)। आज कम्युनिस्टों और डॉ० राममनोहर लोहिया एवं राजनारायाण सिंह जैसे उच्छृंखल समाजवादियों की तो बात ही दूर है, महात्मा गाँधी और महान् चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव के गांधीवादी और समाजवादी अनुयायियों की भी प्राय: यही स्थिति है। उनको इस्लाम और ईसाइयत में तो कुछ अच्छाई दिखाई भी देती है, किन्तु अन्य भारतीय धर्मों में उनको केवल बुराईयों का भंडार ही दिखाई पड़ता है। पंडित जवाहरलाल नेहरु और आचार्य नरेन्द्रदेव के प्रयत्नों के कारण कुछ अंशों में इन्होंने बौद्ध

धर्म को मान्यता दे दी है, किन्तु अन्य धर्मों को ये आजकल के तथाकथित बुद्धिजीवी फूटी आंखों से भी देखना नहीं चाहते। बेचारा जैन धर्म तो "केन गण्यो गरीब:" होकर रह गया है, जब कि भारतीय सभ्यता, संस्कृति और दर्शन के विकास में इन दोनों धर्मों की समान रूप से महनीय भूमिका रही है।

एक दो उदाहरणों से हम इस बात को समझ सकते हैं। बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों में ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भास्कर की एक वेदान्ती के रूप में चर्चा आई है। ये अपने भाष्य में धर्मकीर्ति को विप्रभिक्षु कहते हैं और आचार्य शंकर के सिद्धान्त को "महायान-बौद्ध-गाथित" कहते हैं। इसी के साथ यह भी देखने योग्य है कि आचार्य शंकर के शिष्य पद्मपाद की पंचपादिका के विवरण में भास्कर को "क्षपणकपादावनत-शिरोबिम्ब" विशेषण से विभूषित किया गया है। स्पष्ट है कि यहाँ एक दूसरे पर बौद्ध और जैन दर्शन से प्रभावित होने की बात कही गई है, जो कि पूरी तरह से सही है। इस विषय में कश्मीर के महान् दार्शनिक एवं आगमिक आचार्य अभिनवगुप्तपाद अधिक स्पष्ट हैं। वे अपने परमगुरु भट्ट उत्पलदेव के ग्रन्थ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति पर विमर्शिनी लिखते समय अन्त में कहते हैं कि आगमशास्त्र से द्वैतवाद को हटाकर, ब्रह्मवाद की अविद्या को माया शक्ति के रूप में स्वीकार कर और विज्ञानाद्वयवाद की आत्मेश्वरवाद के रूप में व्याख्या कर इस प्रत्यभिज्ञा दर्शन की सृष्टि की गई है।

भारतवर्ष में अभिनवगुप्त की इस दृष्टि का विकास न हो सका। *बौद्ध और जैन आचार्य भी इसी धरती के वरेण्य पुत्र हैं, किन्तु उनके साथ भावात्मक एकता कभी स्थापित नहीं की जा सकी। आगमिक और तान्त्रिक धर्मों को छोडकर बौद्ध, जैन और समय समय पर प्रादुर्भूत हुए अन्य सभी भारतीय धर्मों ने भी अपने से पहले विकसित हुए ज्ञान को नकार दिया। सभी भारतीय धर्मों, सम्प्रदायों और पन्थों का यही इतिहास है। बौद्ध और जैन धर्म में जैसे वैदिक धर्म को कोई मान्यता नहीं दी गई, प्राय: उसी प्रकार की स्थिति कबीर पन्थ और सिक्ख पन्थ आदि की भी है। पंजाब समस्या इसी दृष्टिकोण का एक उत्पाद है। जनतन्त्र के आ जाने पर भी इस दृष्टि से हमें मुक्ति नहीं मिली है। राजनीतिक दल आपस में एक दूसरे को अपना सहयोगी अथवा प्रतियोगी नहीं, दुश्मन मानते हैं।* भारतीय प्रजा को इस संकुचित दृष्टि से मुक्ति दिलाने के लिये हमें अभिनवगुप्त के मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा। वेद और वेदान्त का अनुसरण करने मात्र से भावात्मक एकता कभी संभव नहीं हो सकती। विदेशी प्रचार से अभिभूत तथाकथित बुद्धिजीवियों की भ्रान्ति भी तब तक दूर नहीं हो सकती, जब तक कि आगम और तन्त्रशास्त्र, बौद्ध और जैन, शैव, वैष्णव और शाक्त धर्मों की शाखा-प्रशाखाओं की पृष्ठभूमि में उद्भूत आलवारों (वैष्णवों), नायनारों (शैवों), सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं के विशाल भारतीय साहित्य को इसी दृष्टिकोण से सही रूप में उपस्थित नहीं किया जाता। जागते हुए भी सोने का बहाना करने वाले कम्युनिस्टों के लिये तो स्वामी विवेकानन्द के द्वारा ऊपर प्रयुक्त शब्दावली ही शेष रह जाती है। साथ ही यह

भी सही है कि आधुनिक समस्याओं का समाधान वेदान्त में तो खोजा भी जा सकता है, वैदिक संहिताओं में इसकी गुंजाइश बहुत ही कम है।

धर्म के विषय में स्वामी विवेकानन्द अधिक सजग हैं। उनका कहना है कि धर्म के अतिरिक्त और किसी दूसरी चीज से भारत में जातीय जीवन की प्रतिष्ठा असंभव है। एक स्थान पर फ्रांसीसी, अंग्रेजी और भारतीय चरित्र की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि राजनीतिक स्वाधीनता फ्रांसीसी चरित्र का मेरुदण्ड है। अंग्रेजों के चरित्र में व्यवसाय-बुद्धि तथा आदान-प्रदान की प्रधानता है। एक भारतीय की दृष्टि में वास्तविक चीज आध्यात्मिक स्वाधीनता, अर्थात् मुक्ति है। उसके प्राण धर्म में निहित हैं और यह *धर्म संस्कृत भाषा से ज्ञात हो सकता है।* भारतीय धर्म और संस्कृत की विशेषताओं के वर्णन से स्वामी विवेकानन्द का साहित्य भरा हुआ है।

शिकागो वक्तृता का प्रारंभ करते हुए वे कहते हैं कि मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी की समस्त पीडित और शरणागत जातियों तथा विभिन्न धर्मों के बहिष्कृत मतावलम्बियों को आश्रय दिया है। मुझे यह बताने में गर्व होता है कि जिस वर्ष यहूदियों का पवित्र मन्दिर रोमन जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया, उसी वर्ष कुछ अभिजात यहूदी आश्रय लेने दक्षिण भारत में आये और हमारी जाति ने उन्हें छाती से लगा कर शरण दी। ऐसे धर्म में जन्म लेने का मुझे अभिमान है, जिसने पारसी जाति की रक्षा की और उसका पालन अब तक कर रहा है। भाइयों, मैं आप लोगों को संस्कृत के एक स्तोत्र के कुछ पद सुनाता हूँ, जिसे मैं अपने बचपन से गाता आ रहा हूँ और जिसे प्रतिदिन लाखों भारतीय गाया करते हैं—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।

जैसै विभिन्न नदियां भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकल कर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढे-मेढे अथवा सीधे रास्तों से जाने वाले लोग अन्त में तुम में ही आकर मिल जाते हैं।

यह पद पुष्पदन्त के महिम्नस्तव का है। इससे भी पहले महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश में कहा था—

बहुधा ह्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ।।

आप तक पहुँचने के लिये हे भगवन्! अनेकों आगमों ने अनेक कल्याणकारी मार्ग दिखाये हैं, किन्तु वे सब उसी तरह से आपके पास पहुँच जाते हैं, जैसे कि गंगा के माध्यम से समस्त जल बहकर अन्ततः समुद्र में मिल जाता है।

भारत की यह विशेषता आज भी विद्यमान है। अभी हमने देखा कि है चीनी आक्रान्ताओं के द्वारा प्रताड़ित भोट देश (तिब्बत) की प्रजा के साथ वहाँ के साहित्य और संस्कृति की रक्षा में यह देश उसी तरह से दत्तचित्त है, जैसे कि कभी उसने यहूदी और पारसी जनों की रक्षा की थी। *बाबरी ढांचे की घटना को लेकर आजकल के तथाकथित धर्मनिरपेक्ष राजनीतिज्ञ और बुद्धिजीवी जोर-शोर से प्रचार करने में लगे हुए हैं कि भारतीय सहिष्णुता को नष्ट किया जा रहा है, किन्तु वास्तविकता यह है कि एक आक्रान्ता असहिष्णु संस्कृति से अपने को बचाये रखने के लिये किये जा रहे प्रयत्नों की यह एक आकस्मिक परिणति है।* राजनीतिज्ञों और तथाकथित बुद्धिजीवियों को समय रहते यह समझ लेना चाहिये कि बाबरी ढांचे को ढहा कर भारतीय प्रजा ने जगद्व्यापी असहिष्णुता को एक सबक सिखाया है।

शिकागो संमेलन को संबोधित किये सौ वर्ष बीत गये हैं, किन्तु ईसाई और इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने अभी तक सहिष्णुता का पाठ नहीं पढा है और भारतीयता को पूरी तरह से नेस्तनाबूद कर देने में वे अभी भी प्राणपण से जुटे हुए हैं। पेट्रो-अमेरिकन डालर का यह कुकृत्य तथाकथित वादों, उनके अनुयायियों, धर्मनिरपेक्ष राजनीतिज्ञों और बुद्धिजीवियों के माध्यम से ही अबाध रूप से नहीं चल रहा है, अंग्रेजी पत्रकारिता भी आंख मूंद कर उनका साथ दे रही है। आज चोर ही साहूकार को दोषी बताने में जुटा हुआ है। दुनिया की सारी असहिष्णु संस्कृतियाँ मिल कर इस पवित्र भारतीय संस्कृति पर चारों तरफ से आक्रमण कर रही हैं। पूरे साहस और दृढता के साथ निर्भय होकर हमें इस प्रचार का सामना करना होगा, अन्यथा दुनिया में सहिष्णुता नाम की कोई चीज रह ही नहीं जायगी। आजकल का हमारा व्यवहार तो सापों को दूध पिलाकर पालने जैसा हो रहा है।

अपने धर्म-संबन्धी विचारों को आगे बढाते हुए स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं— मुझको ऐसा धर्मावलम्बी होने का गौरव है, जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सब धर्मों को मान्यता प्रदान करने की शिक्षा दी है। हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, वरन् समस्त धर्मों को सच्चा मानकर ग्रहण करते हैं। *सारे संसार को मेरी यह चुनौती है कि वह समग्र संस्कृत दर्शनशास्त्र में मुझे एक ऐसी उक्ति तो दिखा दे, जिसमें यह बताया गया हो कि हिन्दुओं का ही उद्धार होगा, दूसरों का नहीं।*

सार्वभौमिक धर्म की कल्पना करते हुए वे कहते हैं कि इसकी ज्योति श्रीकृष्ण के भक्तों पर और ईसा के प्रेमियों पर, सन्तों पर और पापियों पर समान रूप से प्रकाशित होगी। यह न तो ब्राह्मणों का होगा, न बौद्धों का, न ईसाइयों और न मुसलमानों का, वरन् इन सभी धर्मों का समष्टिस्वरूप होते हुए भी इसमें उन्नति का अनन्त पथ खुला रहेगा। यह इतना व्यापक होगा कि अपनी असंख्य बाहुओं में सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य का आलिंगन करेगा और उसे अपने हृदय में स्थान देगा। चाहे वह मनुष्य हिंसक पशु से किंचित् ही उठा हुआ, अतिनीच, बर्बर और जंगली ही क्यों न हो, अथवा अपने मस्तिष्क और हृदय के सद्गुणों

के कारण मानव समाज में कितना ही ऊँचा क्यों न उठ गया हो। वह धर्म प्रत्येक स्त्री-पुरुष के ईश्वरीय स्वरूप को स्वीकार करेगा।

धर्म की चरम सत्ता को स्वीकार करते हुए ही स्वामी विवेकानन्द धर्मों में समन्वय का आधार प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि हिन्दु धर्म बौद्ध धर्म के बिना नहीं रह सकता और न बौद्ध धर्म हिन्दु धर्म के बिना ही। हमारे पारस्परिक वियोग ने यह स्पष्ट कर दिया है कि बौद्ध ब्राह्मणों के दर्शनशास्त्र और मस्तिष्क के बिना नहीं ठहर सकते और न ब्राह्मण ही बौद्धों के विशाल हृदय के बिना, यह निश्चित है। बौद्ध और ब्राह्मण के बीच यह विभेद ही भारतवर्ष की अवनति का कारण है। .... अत: आओ हम ब्राह्मणों के उस अपूर्व मस्तिष्क के साथ महापुरुष बुद्धदेव के उस अद्भुत हृदय, महानुभावता और लोकहितकारी शक्ति को मिलाकर एक कर दें। रामकृष्ण मिशन की स्थापना उनके इसी चिन्तन की परिणति थी।

आगे चलकर वे कहते हैं— क्या मैं यह चाहता हूँ कि ईसाई लोग हिन्दु हो जाय? कदापि नहीं, ईश्वर ऐसा न करे। क्या मेरी यह इच्छा है कि हिन्दु या बौद्ध लोग ईसाई हो जाय? ईश्वर इस इच्छा से भी बचावे। ईसाई को हिन्दु या बौद्ध नहीं हो जाना चाहिये और न हिन्दु अथवा बौद्ध को ईसाई ही। पर हाँ, प्रत्येक को चाहिये कि वह दूसरों के सार भाग को आत्मसात् करके पुष्टिलाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी निजी प्रकृति के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो। शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी सम्प्रदायविशेष की सम्पत्ति नहीं है एवं प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ व अतिशय उन्नत चरित्र के स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है। अन्त में वे कहते हैं कि अडंगों के बावजूद भी प्रत्येक धर्म की पताका पर यह स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा — सहयोग न कि विरोध, परभाव-ग्रहण न कि परभाव-विनाश, समन्वय और शान्ति न कि मतभेद और कलह।

आज इस दृष्टिकोण को इस्लाम के अनुयायियों के बीच प्रचारित करने की सर्वाधिक आवश्यकता थी, किन्तु आज की बोट-बटोरु राजनीति क्या इसे होने देगी? और क्या इनके पिछलग्गू अर्थलोलुप तथाकथित बुद्धिजीवी एवं पत्रकार इस सोच को आगे बढाने में समर्थ होंगे? चिन्तनशील राजनीतिज्ञों का और लोकैषणा एवं वित्तैषणा-विहीन विद्वानों का इस देश में अकाल सा पड़ गया है।

शिकागो सम्मेलन कितने दिन चला और उसमें स्वामी जी ने कितनी बार भाषण किया, यह कोई महत्त्व की बात नहीं है। महत्त्व की बात तो यह है कि उनके विचारों का वहाँ आदर हुआ और उपस्थित प्रबुद्ध श्रोताओं ने उनको बार-बार सुनना चाहा। ''वसुधैव कुटुम्बकम्'', ''शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'', ''यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'' जैसे आदर्श वाक्य शायद अमेरिकी श्रोतृवर्ग को पहली बार सुनने को मिले थे। ''आत्मनः प्रतिकूलानि

परेषां न समाचरेत्'', ''नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'' जैसे वचनों को आचार्य नरेन्द्रदेव ने भी उद्धृत किया है। आचार्य जी प्राच्य और पाश्चात्त्य विचारों का सतर्क अध्ययन प्रस्तुत करने की सलाह देते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा है कि पाश्चात्त्य जाति के गुणों और विचारों को अपने साँचे में ढाल कर ग्रहण करना चाहिये।

इस विषय का विस्तार करते हुए वे आर्य जाति संबन्धी पाश्चात्त्य विचारों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यूरोपियन पंडितों का यह कहना कि आर्य लोग कहीं से घूमते-फिरते आकर भारत में जंगली जातियों को मार-काट कर और उनकी जमीन छीन कर स्वयं यहाँ बस गये, केवल अहमकों बात है। आश्चर्य तो इस बात का है कि हमारे भारतीय विद्वान् भी उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हैं और यही सब झूठी बातें हमारे बाल-बच्चों को पढाई जाती हैं, यह घोर अन्याय है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए आगे वे लिखते हैं कि यूरोपियनों को जिस देश में मौका मिलता है, वहाँ वे आदिम निवासियों का नाश करके स्वयं मौज से रहने लगते हैं। इसीलिये उनका कहना है कि आर्य लोगों ने भी ऐसा ही किया था। मैं पूछना चाहता हूँ कि इस धारणा का आधार क्या है? सिर्फ अन्दाज ही। तुम अपना अन्दाज, अनुमान अपने घर में रखो। किस वेद अथवा सूक्त में अथवा अन्यान्य कहीं तुमने देखा है कि आर्य दूसरे देशों से भारतवर्ष में आये? इस बात का प्रमाण तुम्हें कहाँ मिला है कि उन लोगों ने जंगली जातियों को मार काट कर यहाँ अपना निवास बनाया? रामायण की कथा को आर्य जाति की विजय-यात्रा के रूप में पेश किया जाता है। स्वामी जी ने इसका भी सटीक उत्तर दिया है।

इस विषय को आगे बढाते हुए और पाश्चात्त्य जगत् की भारत के साथ तुलना करते हुए स्वामी जी कहते हैं— ए यूरोपीय लोगों ! तुमने कब किस देश का भला किया है? अपने से अवनत जाति को ऊपर उठाने की तुममें शक्ति कहाँ है? जहाँ कहीं तुमने दुर्बल जाति को पाया, नेस्तनाबूद कर दिया और उसकी निवासभूमि में तुम खुद बस गये और वे जातियाँ एकदम मटियामेट हो गयीं। तुम्हारे अमेरिका का क्या इतिहास है? तुम्हारे आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, प्रशान्त महासागर के द्वीपसमूह और अफ्रीका का क्या इतिहास है? भारतवर्ष ने तो ऐसा कार्य कभी भी नहीं किया। आर्य लोग बड़े दयालु थे। उनके अखण्ड समुद्रवत् विशाल हृदय में, दैवी प्रतिभा से सम्पन्न मस्तिष्क में उन सब आकर्षक प्रतीत होने वाली पाशविक प्रणालियों ने किसी समय भी स्थान नहीं पाया। यूरोप का उद्देश्य तो सबको नष्ट करके स्वयं अपने को बचाये रखना है। आर्यों का उद्देश्य था—सबको अपने समान करना अथवा अपने से भी बड़ा बनाना। यूरोपीय सभ्यता का साधन तलवार और आर्यों की सभ्यता का उपाय वर्णविभाग था। शिक्षा और अधिकार के तारतम्य के अनुसार सभ्यता सीखने की सीढ़ी थी वर्णविभाग। यूरोप में बलवानों की जय और दुर्बलों की मृत्यु होती है। भारतवर्ष में प्रत्येक सामाजिक नियम दुर्बलों की रक्षा के लिये बनाया गया है।

स्वामी विवेकानन्द ने यूरोपीय और भारतीय विचारों की तुलना करते हुए जो कुछ कहा है, उसे हम इस्लाम धर्म के अनुयायियों पर भी लागू कर सकते हैं अथवा इसे हम यों पेश कर सकते हैं कि ये सब बातें यूरोप ने अरबों से सीखी। इस्लाम धर्म के विस्तार का इतिहास यूरोप से भी अधिक क्रूर और रक्तपात से भरा हुआ है। उसने अभी इस प्राचीनतम देश भारतवर्ष के तीन टुकड़े कर दिये और इतने से भी उसके खूनी इरादे पूरे नहीं हुए हैं। वह इस देश को और इसकी संस्कृति को उसी तरह से जड़मूल से उखाड़ फेंकना चाहता है, जैसा कि उसने मिस्र, ईरान, मेसोपोटामिया जैसे प्राचीन देशों में किया; यहूदियों और पारसियों के साथ किया, जिसकी चर्चा स्वामी विवेकानन्द ने अपने शिकागो भाषण में की थी। भव्य भवनों और पुस्तकालयों को इस क्रूर पैशाचिकता ने सर्वत्र भूमिसात्, भस्मसात् कर दिया और इसकी यह क्रूर प्रकृति आज भी मुम्बई, कलकत्ता और मद्रास के बम विस्फोटों में देखी जा सकती है। लद्दाख में और चटगांव की पहाड़ियों में एवं बंगला देशी घुसपैठ के रूप में इसके इरादे भाँपे जा सकते हैं।

इससे अच्छी तो वह यूरोपीय संस्कृति है, जो कि सर्वत्र प्राचीनता की रक्षा में प्राणपण से जुट जाती है। साथ ही यह भी सही है कि इनका मूल्य उसकी दृष्टि में समृद्ध संग्रहालय की स्थापना से अधिक कुछ भी नहीं है और वह वस्तु का, विचारधारा का सही मूल्यांकन करने से कतराती है। उसकी राजनीतिक दृष्टि अत्यन्त संकीर्ण है। यूरोप स्वयं अनेक टुकड़ों में बटा हुआ है और अब भी यह प्रक्रिया वहाँ रुकी नहीं है। अभी हमने रूस और यूगोस्लाविया का हश्र देखा है। ठीक यही स्थिति वह भारतवर्ष में भी पैदा कर देना चाहता है। आर्यों के बाहर से आगमन का और यहाँ की प्राचीन जनजातियों के संहार का उनका कल्पित इतिहास अब भारत के प्रबुद्ध वर्ग में सत्य का बाना पहन चुका है और इसी की पृष्ठभूमि में आर्य-द्रविड़, अगड़े-पिछड़े आदि के झगड़े पैदा कर दिये गये हैं, जिससे कि यह देश कहीं का न रह जाय। इस देश को नेस्तनाबूद कर देने का संकल्प लिये व्यक्ति, स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में अहमक आदमी, यह कहने में संकोच का अनुभव नहीं करते कि हमारे ही जैसे आर्य जाति भी इस देश में आक्रामक के रूप में ही आई है। *हमारे मुसलमान और कम्युनिस्ट भाई धर्मनिरपेक्षता पर क्यों फिदा हैं, इसकी तह तक पहुँचने के लिये हमें पंचतन्त्र के "नाकस्माच्छाण्डलीमातर्विक्रीणाति तिलैस्तिलान्" इस सुभाषित के भाव को हृदयंगम करना होगा।*

हमारा निश्चित मत है कि धर्मनिरपेक्षता और सर्वधर्मसमभाव भी सभी धर्मों को नजदीक नहीं ला सकते, उनमें भावात्मक एकता स्थापित नहीं कर सकते। ये तो उनकी दूरी को बढ़ाने के ही साधन हो सकते हैं। राष्ट्रीय एकता के लिये तो हमें इन सबका तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत करना होगा, इनकी अच्छाइयों और बुराइयों की पक्षपातरहित परीक्षा करनी होगी। सभी धर्मों के प्रति आदर रखते हुए भी उनके गुण-दोषों के विवेचन की लम्बी भारतीय परम्परा

रही है। ''शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि'' जैसे वाक्य इस कार्य में हमारे सहायक हैं। ''सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते'' महाकवि कालिदास की यह उक्ति भी इसी ओर इंगित करती है। यदि यह कार्य हमें करना है, तो सबसे पहले धर्मपरिवर्तन की गति पर रोक लगानी होगी। आज तो बौद्ध धर्म भी इस गलत रास्ते पर चल पड़ा है। इसका कारण है भारत में बौद्ध धर्म के उत्थान में श्रीलंका की वरीयता। ''श्रमणब्राह्मणम्'' जैसे दृष्टिकोण को अब भी वहाँ पाला-पोसा जाता है। महायान और मन्त्रयान की विशेषताओं का अभाव होने से ही वह बौद्ध वाङ्मय में भी हीनयान के नाम से प्रसिद्ध है।

साम्प्रतिक बौद्ध धर्म को इस दृष्टिकोण से मुक्त करना होगा। भारत के बहुसंख्यकों को भी यह सोचना होगा कि यह देश सभी धर्मों का चरागाह क्यों बनता चला जा रहा है? यहाँ की प्रबुद्ध जनता धर्म से विमुख क्यों होती चली जा रही है? इस्लाम इस दुनिया का मानसिक दृष्टि से सबसे पिछड़ा हुआ मत है और ईसाई मत को मिथ्या अहंकार (सुपीरियारिटी कम्प्लेक्स) ने धर दबोचा है। सभी मतों, दर्शनों और वादों को भारतीयता के ढाँचे में ढ़ालकर ही हमें ग्रहण करना होगा, तभी भावात्मक एकता अथवा राष्ट्रीय एकता स्थापित हो सकेगी। आज तो देश का विभाजन कराने वाले ही दूसरों पर दुबारा देश विभाजन की जिम्मेदारी थोपने का दु:साहस कर रहे हैं। भगवान् इनको सद्बुद्धि दे। *पहला विभाजन नेताओं के प्रति जनता के अति विश्वास के कारण हुआ था।* अब वह स्थिति नहीं है और जनता पुन: देश का विभाजन कभी नहीं होने देगी, कभी नहीं होने देगी।

अब हमारे सामने प्रश्न यह उठता है कि सुधारवादी आन्दोलनों की एक लम्बी परम्परा के चलते हुए भी यह देश इस्लाम और ईसाइयत की ओर झोली लिये क्यों बढ़ता चला जा रहा है? अतितीव्र गति से अपने स्वरूप को भूल कर बाह्य संस्कृतियों से क्यों प्रभावित होता चला जा रहा है? बात यह है कि अमेरिका आदि में होने वाले धर्म-सम्मेलन प्रमुखत: ईसाई मत के प्रचार के उद्देश्य से किये जाते हैं। स्वामी विवेकानन्द के शिकागो प्रवचन ने श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध किया, किन्तु इसने इतर धर्मप्रचारकों के मन में ईर्ष्या का भाव भर दिया। यही कारण है कि यहाँ धर्मान्तिरण की प्रक्रिया अबाध गति से चलती रही और ये धर्मप्रचारक छिद्रान्वेषण में लग गये। भारत की सामाजिक परिस्थितियों में उनको पर्याप्त सामग्री मिल गई। स्वामी दयानन्द के साथ स्वामी विवेकानन्द ने भी वर्णाश्रम व्यवस्था की पूरी हिमायत की है। वर्तमान समय की सामाजिक समस्याओं का समाधान भी वे वेद और वेदान्त के आधार पर ही प्रस्तुत करते हैं। बाह्य संस्कृतियों के आगमन से पूर्व इसमें किसी प्रकार की परेशानी भी पैदा नहीं हुई, किन्तु बौद्ध, जैन, वैष्णव और शैव मतवादों के उद्भव और विकास के साथ वर्णाश्रम व्यवस्था में परिवर्तन आया और समाज का संचालन ब्राह्मणों के हाथ से खिसक कर धर्माचार्यों के पास पहुँच गया। आगम और तन्त्रशास्त्र ने और इसके आधार पर विकसित हुए सन्त साहित्य ने इसको एक झटका और दिया और समाज में

गुण और कर्म को प्रधानता दी जाने लगी। इस्लाम और ईसाइयत के धर्मान्तरण ने और अन्ततः द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने भारतीय समाज-व्यवस्था में उथल-पुथल मचा दी। इस झटके से यह व्यवस्था पूरी तरह से चरमरा गई है।

स्वामी दयानन्द ने गुण और कर्म पर आधारित समाज-व्यवस्था का वेदों के आधार पर समर्थन किया, किन्तु उन्होंने वेदबाह्य सारे भारतीय विकास को नकार दिया। ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद की पद्धति से उन्होंने अन्य सभी मतों को अवैदिक अथ च अप्रमाण सिद्ध कर दिया। सत्यार्थप्रकाश का एक प्रकरण उन्होंने तर्कपाद की पद्धति से ही लिखा है। इसका फल हमें इतना ही मिला कि आज कोई भी शर्मा, वर्मा, शास्त्री, द्विवेदी बन सकता है। इससे व्यक्तिगत समस्या का तो समाधान हो पाया है, किन्तु सामाजिक समस्याएँ ज्यों की त्यों रह गयी हैं।

इस विषय में स्वामी विवेकानन्द अधिक सजग हैं। भंगी की तम्बाकू पीने में और मौलबी साहब के घर पर भोजन करने में उनको कोई एतराज नहीं है। जाति और वर्ण का भेद न रख कर वे सहभोज का आयोजन कर सकते हैं। विश्वमानवता और विश्वभ्रातृत्व की स्थापना पर वे जोर देते हैं। छूआछूत का बहिष्कार करने की सलाह देते हुए भी वे वेदों पर भूरी आस्था रखते हैं। वे कहते हैं कि नीच जाति, मूर्ख, दरिद्र, चमार, मेहतर तुम्हारा ही खून और तुम्हारे ही भाई हैं। "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव" जैसे उपनिषद् वाक्यों की तर्ज पर "दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव" जैसे वाक्यों का वे प्रचार करते हैं और कहते हैं कि भारत के दरिद्रों, पतितों और पापियों को सहारा देने वाला कोई मित्र नहीं है। हिन्दु धर्म की तरह अन्य कोई भी धर्म ऐसे उच्च स्वर में मानवता की महिमा का प्रचार नहीं करता। फिर वही हिन्दु धर्म जिस प्रकार पैशाचिक भाव से गरीबों और पतितों का गला रौंदता है, संसार में दूसरा कोई धर्म वैसा नहीं करता। वे यह भी कहते हैं कि भारत में संघबद्ध होकर काम करने की शक्ति का एकदम अभाव है। अपनी अमरनाथ यात्रा के प्रसंग में वे कश्मीर में क्षीरभवानी मन्दिर के ध्वंसावशेष को देखकर जातीय क्रूरता पर अफसोस भी जाहिर करते हैं और साथ ही म्लेच्छ शब्द पर भी घोर आपत्ति प्रकट करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि समय आने पर सभी को ब्राह्मण पदवी में उन्नत करना होगा।

"शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः" भगवद्गीता के इस वचन की प्राचीन भाष्यकारों ने जो व्याख्या की है, उसे स्वामी विवेकानन्द नहीं मानते, किन्तु वे वेद और वेदान्तशास्त्र के आधार पर इनका समर्थन कैसे कर सकते हैं? ब्रह्मसूत्र के अपशूद्राधिकरण और तर्कपाद के रहते उनकी विश्वमानवता और विश्वभ्रातृत्व की कल्पना "वसुधैव कुटुम्बकम्" जैसे आदर्श वाक्य की सी रह जायगी। ब्रह्मसूत्र के उक्त अंशों की वेदानुवर्तिनी व्याख्या के कारण ही वैष्णव और शैव आचार्यों और सन्तों में गहरा मतभेद रहा है। इन सन्तों के आचार को स्वामी विवेकानन्द ने अपने व्यक्तिगत जीवन में उतारा, किन्तु इस दृष्टिकोण की पुष्टि

करने वाले पौराणिक, आगमिक और तान्त्रिक साहित्य की उन्होंने स्वामी दयानन्द की तरह ही वेद और वेदान्त के आगे उपेक्षा कर दी। हमने ऊपर अभिनवगुप्त के दृष्टिकोण की चर्चा की है। विश्वमानवता और विश्वभ्रातृत्व के लिये वेदान्त की अपेक्षा आगमिक दर्शन अधिक सहायक बन सकता है, किन्तु कुछ मनीषियों को छोड़कर आज भी भारतीय दार्शनिकों की इसकी तरफ पूर्ण उपेक्षादृष्टि रही है। वस्तुत: भारतीय दर्शन का आधुनिक विकास आगमिक दर्शन को आधार मान कर होना चाहिये था, जिसमें कि बौद्ध मन्त्रनय का दर्शन भी शामिल है। *आधुनिक भारतीय दार्शनिकों की यह उपेक्षा प्राय: वैसी ही भूल है, जैसी कि स्वामी दयानन्द ने एक लम्बी भारतीय परम्परा की उपेक्षा कर दी।*

महात्मा गांधी का यह कथन हम अक्सर रेडियो व टेलीविजन पर सुनते हैं कि प्रेम का विस्तार कुल, ग्राम, नगर, राष्ट्र और सम्पूर्ण विश्व तक होना चाहिये। प्रत्यभिज्ञा दर्शन ने परिमिताहन्ता से विश्वाहन्ता का विकास इसी पद्धति से किया है। आचार्य धर्मकीर्ति का एक श्लोक है— ''आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ। अनयो: संप्रतिबद्धा: सर्वे दोषा: प्रजायन्ते।।'' इसके उत्तर में प्रत्यभिज्ञा दर्शन का कहना है कि विश्वाहन्ता का विकास होने पर स्वपर-विभाग अपने आप समाप्त हो जायगा। वेदान्त इस संसार को मिथ्या, अलीक मानता है और प्रत्यभिज्ञा दर्शन इसको अपने स्वत्व का विलास। श्रद्धेय कविराज जी की दृष्टि में भारतीय दर्शन का यह चरम उत्कर्ष है। योगी अरविन्द की दिव्य मानवता का प्रेरणास्रोत यही है। *यह भारत को आगम और तन्त्रशास्त्र की देन है।*

आज साधारण भारतीय 'तन्त्र' का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़ने लगता है, किन्तु पूरे भारतीय समाज के अनेक तथाकथित वरेण्य व्यक्ति और भाई राजनारायण सिंह जैसा लोहियाभक्त समाजवादी भी, तान्त्रिकों के शरण में पहुँच चुके थे। *दलितों के उद्धार के लिये जिस पद्धति का विकास हुआ था, उच्च वर्ग उसी का सहारा लेकर पतनोन्मुख है।* इस कार्य को तो वे बखूबी पूरा कर रहे हैं, किन्तु पूरी विश्वमानवता के उद्धार के लिये जिस पद्धति का वहाँ वर्णन है, जिस प्रकार विश्वाहन्ता दृष्टि का विकास किया गया था, उसकी हमने आज घोर उपेक्षा कर दी है।

आगम और तन्त्रशास्त्र की इस दृष्टि का विकास भारतीय लोकभाषाओं में हुआ और गुजरात में नरसीं मेहता की वाणी में ''वैष्णव जन तो तेने कहिये जे परी पराई जाणे रे'' जैसी पदावली का स्फुरण हुआ, जिसने कि मोहनदास करमचन्द गांधी को महात्मा गांधी बना दिया। यह हमें स्पष्ट रूप से हृदयंगम कर लेना चाहिये कि इस पूरी सन्त परम्परा का अजस्र स्रोत भारत में आगम और तन्त्रशास्त्र या बौद्ध मन्त्रनय के नाम से विकसित संस्कृत वाङ्मय ही रहा है। ब्राह्मणवाद और मनुस्मृति को इसने बहुत पीछे छोड़ दिया है। *महात्मा गांधी इस उदारवादी परम्परा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं, तभी तो वे सम्पूर्ण विश्व तक प्रेम का विस्तार करने की बात कहते हैं।*

सन्त वाणी के लोकभाषाओं के माध्यम से हुए अधिकाधिक प्रचार ने एक शून्यता यह पैदा कर दी है कि उससे संबद्ध पूर्ववर्ती पूरा संस्कृत साहित्य विस्मृति के गर्त में चला गया और अवशिष्ट अपेक्षाकृत अनुदारवादी संस्कृत साहित्य उसका प्रतिनिधित्व करने लगा। वेद और वेदान्त का यह साहित्य ही सारे सुधारवादी आन्दोलनों का प्रधान आधार रहा है और इस दृष्टि को वरीयता देने में विदेशी धर्मप्रचारकों का भी प्रच्छन्न अथवा प्रकट हाथ रहा है। *आज संस्कृत भाषा के प्रति द्वेष रखने वालों और अपने भाषा-साहित्य पर गर्व करने वालों की संख्या बड़ी तेजी से बढ़ रही है। राष्ट्रीय एकता के लिये अब यह दृष्टिकोण भी प्रबल बाधक के रूप में उपस्थित है।* इसका विरोध होना चाहिये और आगम एवं तन्त्रशास्त्र के संस्कृत साहित्य में ही प्रथमत: विश्वमानवता की दृष्टि विकसित हुई है, इसकी सही जानकारी जनता तक पहुँचनी चाहिये। ऐसा होने पर ही भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा के प्रति उसकी रुचि जाग्रत् होगी, पूरी भारतीय प्रजा के साथ उसकी भावात्मक एकता स्थापित होगी और वह ब्राह्मणवाद एवं मनुस्मृति का भूत खड़ा करने वालों के मिथ्या प्रचार में कभी नहीं फँसेगी।

आगम, तन्त्रशास्त्र और बौद्ध मन्त्रनय ने गुरु और शास्त्र के समान मनुष्य के प्रातिभ ज्ञान को भी प्रमाण माना है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन ही नहीं, योगवासिष्ठ का भी कहना है कि इनका उत्तरोत्तर प्रामाण्य अभिप्रेत है, अर्थात् स्वात्मानुभव, स्वात्मसंवेदन को शास्त्र और गुरु के उपदेश से भी श्रेष्ठ माना है। हमें योगी अरविन्द की दिव्य मानवता तक श्रद्धेय श्री श्री गोपीनाथ कविराज के अखण्ड महायोग की सहायता से सर्वत्र अखण्ड प्रेम का विस्तार कर पहुँचना होगा और पूरी मानव जाति को इसी जन्म में सारे दुःख-दर्दों से मुक्ति दिलाने का पथ प्रशस्त करना होगा। इस स्थिति में ''परस्परदेवो भव'' हमारा आदर्श वाक्य बन सकता है और हम कुल, वंश, वर्ण, विद्या अथवा अर्थ के आधार नहीं, चरित्र के आधार पर मानव का मूल्यांकन कर सकते हैं, जैसा कि सन्तों ने किया। महात्मा बुद्धदेव हममें महाकरुणा का अजस्र स्रोत प्रवाहित करें ।।

●

योगी अरविन्द का अतिमानस योग

'सेक्युलर' शब्द को यहाँ जान-बूझ कर मूल रूप में ही रहने दिया गया है, क्योंकि इस शब्द का जो अनुवाद हिन्दी में किया गया है, वह बाह्य अपसंस्कृति के सामने भारतीय संस्कृति के आत्मसमर्पण के जैसा है। आज जिस वर्ग ने वैदिक, बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त, पौराणिक आदि सभी धर्मों अथवा मतवादों को; रामानुज, मध्व, निम्बार्क,

रामानन्द, चैतन्य आदि के द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों को, आलवारों (वैष्णव सन्त), नायनारों (शैव सन्त), सूफी सन्तों, गुरुओं और कबीर, रैदास आदि के द्वारा प्रवर्तित पन्थों को बिना परस्पर हस्तक्षेप के भलमनशाहत से एक साथ सुख-शान्ति से जीना सिखाया है, वह 'साम्प्रदायिक' है। वह स्वयं भी इस शब्द को बहुत पवित्र मानता है, क्योंकि सम्प्रदाय, अर्थात् अपनी लम्बी गुरु-परम्परा से प्राप्त पवित्र ज्ञान को अपनी भावी सन्तति में संक्रान्त कर देना ही इसके जीवन का पवित्र लक्ष्य होता है। यह किसी दूसरे के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करता। यहाँ तक कि दो भिन्न-भिन्न [१]सम्प्रदायों का अनुसरण करने वाले पति-पत्नी भी यावज्जीवन सुख-शान्ति पूर्वक एक साथ रह सकते हैं। आज यह भारतीय संस्कृति की उदारता और सहिष्णुता को उजागर करने वाला पवित्र शब्द गाली के रूप में, संकीर्ण दृष्टि वाले मानव समुदाय के लिये प्रयुक्त होने लगा है।

पाश्चात्त्य जगत् में राज्य और जनता के पारस्परिक संबन्ध को कलहहीन बनाने के लिए 'सेक्युलर राज्य' की उद्भावना हुई थी कि राज्य जनता के ऐहिक जीवन की सुख-सुविधा के लिये ही प्रवृत्त होगा, वह उसके पारलौकिक जीवन में, उसके लिये किये जाने वाले कर्मकाण्ड में, किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा। यद्यपि इस शब्द का संबन्ध राज्य से है, किन्तु आजकल भारत के सभी राजनीतिक दल मिल कर भारतीय जनता पार्टी को साम्प्रदायिक और अपने को सेक्युलर बताने में जुटे हुए हैं। जनतन्त्र में प्रतिपक्ष (विरोधी) शब्द चल सकता है, दुश्मन नहीं। इसके विपरीत ये राजनीतिक दल परस्पर एक दूसरे को अपना दुश्मन मानने में कोई संकोच नहीं करते। इनका कहना है कि भारतीय जनतन्त्र को सेक्युलर पार्टी ही चला सकती है। आइये इन राजनीतिक दलों की परीक्षा की जाय कि वे कहाँ तक सेक्युलर हैं? यह इस लिये भी आवश्यक है कि मुस्लिम लीग और जनाब बुखारी, शहाबुद्दीन जैसे लोग भी अपने को सेक्युलर घोषित करते हैं। इसका सीधा अर्थ यह हो जाता है कि भारत का हिन्दु साम्प्रदायिक है और बाकी सब सेक्युलर हैं। अब इससे अधिक क्या विडम्बना हो सकती है?

वस्तुस्थिति यह है कि इन सेक्युलरों से धर्म, सम्प्रदाय और पन्थवादियों की मानसिकता अधिक विकसित है। इस्लाम-ख्रीष्ट धर्म के अनुयायी धर्मान्तरण को अपने-अपने मजहब का आवश्यक कर्मकाण्ड मानते हैं। यह व्यक्ति के लौकिक और पारलौकिक जीवन में भी सीधा हस्तक्षेप है। सेक्युलर शब्द की परिधि में यह आ ही नहीं सकता। बौद्ध धर्म भी इस मायाजाल में फँसने जा रहा है। यह उस पर श्रीलंका और वर्मा के थेरवादी दृष्टिकोण का दुष्प्रभाव है। अश्वघोष का बुद्धचरित वहाँ क्यों नहीं पढ़ाया जाता? दोनों देशों में अशान्ति क्यों है?

---

१. जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी से प्रकाशित पारमेश्वरागम (१७.२०-२१) देखिये।

कम्युनिस्ट (साम्यवादी) धर्म को अफीम मानता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसका प्रिय सिद्धान्त है। वह परस्पर एक समुदाय से दूसरे समुदाय को लड़ाकर पूरे समाज में अशान्ति फैलाना चाहता है और समाज के आगे व्यक्तित्व को प्रभावहीन बना देना उसका मुख्य लक्ष्य है। भारतीय साम्यवादियों की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि उनका सूत्र-संचालन कहीं बाहर से होता रहा है।

रूसी राष्ट्रपति गोर्वाच्योव ने कुछ नये शब्द गढ़ कर कम्युनिस्ट जगत् को दिये थे। भारत के समाजवादी भी इन शब्दों को सुन-सुन कर गद्गद हो उठते थे, किन्तु उसका परिणाम क्या हुआ? बालू से बने घरौंदे की तरह एक ही झटके में पूरा महल घहरा कर गिर पड़ा। कम्युनिज्म की अनेक बुराइयों के साथ उसमें एक दो अच्छाइयाँ भी थीं। उसने पूँजीवाद एवं अमेरिका के साम्राज्यवाद पर अंकुश लगा रखा था और दुनिया के सबसे संकीर्ण मजहब को भी बाँध रखा था। अब वे छुट्टे साँढ़ की तरह स्वतन्त्र हो गये हैं और सब कुछ लील लेना चाहते हैं। गोर्वाच्योव को रूसी साम्राज्य के और कम्युनिस्ट आन्दोलन के विध्वंसक के रूप में ही याद किया जाएगा। रूस में उसे वही मान्यता मिलेगी, जो कि लंका में विभीषण को मिली थी। इस घटना से लोहियावादी समाजवादियों की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई होगी।

नेहरूवाद और लोहियावाद महत्त्वाकांक्षा, संकीर्ण स्वार्थ और वर्गविद्वेष पर आधारित है। आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे गुरुतुल्य भद्रपुरुष मित्र का अपमान करने वाली और लौहपुरुष सरदार पटेल का तिरस्कार करने वाली मानसिकता संजय गांधियों और मुलायमों को ही जन्म दे सकती है, उच्छृंखलता और वृद्धों की अवमानना करना ही जिनका मुख्य लक्ष्य रह जाता है। गांधीवाद और आचार्य नरेन्द्रदेव के समाजवाद के बिना काँग्रेस अथवा समाजवादी दल या इनसे निकले तिलचट्टे कभी सेक्युलर हो ही नहीं सकते, क्योंकि इनकी दृष्टि तुष्टीकरण एवं वर्गविद्वेष की आग पर अपनी रोटी सेकने की है। किसी भी सम्प्रदाय के कट्टर धार्मिक नेता की और उनकी मानसिकता में कोई अन्तर नहीं है। स्वामी करपात्री जी जैसे आध्यात्मिक गुरुओं की उदारता इनमें से किसी के पास नहीं मिलेगी।

जनतन्त्र के लिये 'सेक्युलर' एक पवित्र शब्द है। एक सच्चा साम्प्रदायिक भारतीय ही इसका सही रूप से पालन कर सकता है। इस्लाम के कट्टरवादी स्वरूप में हिन्दु-द्वेष के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा अर्थ है ही नहीं।

प्रस्तुत लेख के प्रारम्भ में जिन धर्मों, सम्प्रदायों, मतवादों और पन्थों की चर्चा की गयी है, उनके साथ इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म का भी समावेश इस शर्त पर हो सकता है कि वे अपनी विविधता को अस्वीकार करने वाली, असहिष्णुता को बढ़ावा देने वाली धर्मान्तरण की प्रक्रिया पर रोक लगा दें। भारतीय धर्मशास्त्रों में कलिवर्ज्य नाम का एक प्रकरण है। इसमें पूर्व काल में प्रचलित अनेक मान्यताओं पर रोक लगा दी गयी थी और आज वे पूरे समाज को मान्य हैं। उक्त दोनों मजहबों में, विशेष कर इस्लाम में ऐसी अनेक मान्यताएँ

आज भी प्रचलित हैं, जिनको कि कालातीत हो जाना चाहिये था। एक न एक दिन ऐसा होना ही है, किन्तु समझ-बूझ के साथ यदि यह कार्य अविलम्ब कर लिया जाय, तो उसका अधिक महत्त्व होगा। *समान नागरिक संहिता और पूरे देश में स्थित धार्मिक स्थलों की पुनः प्रतिष्ठा — ये दो कार्य इनमें प्रमुख हैं।* इससे हासिल यह होगा कि मध्यकालीन कबीली मानसिकता से उसे मुक्ति मिलेगी और उसके जिद्दीपन में कमी आवेगी। समान नागरिक संहिता के खिलाफ स्वाधीनता दिवस के अवसर पर लाल किले की प्राचीर से भारत के पूर्व प्रधानमंत्री ने एक श्लोकार्ध पढ़ा था। काँग्रेसी मनोवृत्ति के अनुसार हम उसको इस तरह से पढ़ सकते हैं — ''यद्यपि शुद्धम् इस्लामविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्''। लाल किला भी तो हमारे सिर पर चढ़ कर कुछ बोलेगा ही।

जैसा कि प्रचारित किया जाता है, यह धार्मिक स्थल का विवाद मन्दिर-मस्जिद का झगड़ा न होकर केवल अतिक्रमणों को हटाने और मन्दिरों के पुनरुद्धार का प्रश्न है। धर्म से इसका कोई संबन्ध नहीं है। यह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। इन सभी मन्दिरों की पुनः प्रतिष्ठा इसलिये भी आवश्यक है कि मुस्लिम आक्रामकों की मानसिकता से इस समाज को अभी तक मुक्ति नहीं मिल पा रही है। इच्छा से या अनिच्छा से इस प्रक्रिया के पूरी होने पर ही यह मानसिकता बदल सकती है। जनाब अली मियाँ जैसे प्रबुद्ध इस्लामिक चिन्तक का दिमाग भी अभी इस घेरे से बाहर नहीं निकल पा रहा है। सूफियों से जो इन सबका नाता दूर होता जा रहा है। काश, पारसियों के जैसे ये भी दूध से भरे कटोरे में चीनी के समान घुलमिल कर यहाँ रहना सीख जाते।

मन्दिर-मस्जिद के नाम से मिथ्या प्रचारित इस समस्या को हीनकोटि की बताने वाले कुछ प्रबुद्ध भारतीय चिन्तक देश के सामने रोटी, कपड़ा और मकान की समस्या को इससे वरीयता देते हैं। आधुनिक पाश्चात्त्य चकाचौंध और सिनेमा संस्कृति से प्रभावित ऐसे लोग भारतीय संस्कृति के अनुसार दया के ही पात्र हो सकते हैं। ऐसे लोगों का पागलपन तभी दूर हो सकता है, जब कि भारतीय संस्कृति के परिनिष्ठित स्वरूप से ये परिचित हो सकें। हजारों वर्ष से चली आ रही भारतीय सहिष्णुता की रक्षा के लिये भी इन अतिक्रमणों का हटाया जाना आवश्यक है, अन्यथा तुष्टीकरण की प्रक्रिया से परिपुष्ट यह मध्यकालीन बर्बरता, जो कि कश्मीर में अपना नंगा नाच दिखा रही है, सहिष्णुता के साथ भारतीय संस्कृति और सभ्यता को भी नेस्तनाबूद कर देगी। भारतीय सहिष्णुता के गीत गाने से हमें कुछ भी मिलने वाला नहीं है। आवश्यकता इस बात की है इस सहिष्णुता का अन्यत्र भी विस्तार हो। इन तथाकथित सेक्युलरों को भारतीय अधिसंख्य प्रजा को सहिष्णुता का उपदेश देने का कोई अधिकार नहीं है। उनमें हिम्मत हो तो आधुनिक मुस्लिम नेतृत्व और मुल्ला-मौलवियों को सहिष्णुता का पाठ पढ़ावें। भारतीय सहिष्णुता का उज्ज्वल प्रकाश तभी फैल सकेगा, जब

इस तरह के सभी अतिक्रमण पूरे देश से हटा दिये जाएँगे। बिना सौदेबाजी के परस्पर की पूरी सहमति से यह कार्य हो सके, तो वह दुनिया के लिये अधिक लाभदायक होगा।

इतना निश्चित रूप से समझ लेना चाहिये कि दुनियाँ में अमनचैन बहाल करने के लिये इस्लाम के पास देने के लिये कुछ भी नहीं है, वह तो दुनिया में विग्रह और अशान्ति फैलाने के लिये ही अपनी अनोखी आहुतियाँ दे सकता है। मिस्र, मैसोपोटामिया, बेबीलोन (इराक) और ईरान के प्रबुद्ध विचारकों को अपने समृद्ध भूत को टटोलना चाहिये कि इस्लाम ने उन्हें कहाँ पहुँचा दिया है। भारत का इस्लामी नेतृत्व जड़ है। वह यह कार्य नहीं कर सकता।

इतना निश्चित है कि वर्तमान राजनीतिज्ञों का प्रभाव रहते इस मानसिकता में कोई परिवर्तन आने वाला नहीं है। भारत में बाहुबल की अपेक्षा बुद्धिबल को वरेण्य माना जाता रहा है। इससे भारतीय राजनीति पर अंकुश रहता था। इसके विपरीत आजकल बुद्धिबल बाहुबल के अधीन हो गया है। इधर के वर्षों में सबसे अधिक ह्रास भारतीय पत्रकारिता और हिन्दीभाषी विद्वत्ता का हुआ है। अपसंस्कृतियों से प्रभावित होकर ये भारतीय दृष्टि से दूर से दूर होते चले जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में राजनीतिज्ञों को विपथगामी होने से कौन बचा सकता है? आजकल के इन राजनीतिज्ञों को देखकर तो एक पुराना श्लोक याद आ जाता है। आजकल की परिस्थिति में उसका भाव यह हो सकता है कि जब ढेर सारे नेता पैदा हो जाते हैं, सभी बुद्धि में अपने से बढ़ कर किसी दूसरे को मानने को तैयार नहीं हैं और सभी प्रधानमन्त्री बनना चाहते हैं, तो ऐसा जनतन्त्र अवश्य ही आपत्तियों से घिर जाता है।

इस प्रसंग में हम एक बात बहुत स्पष्ट रूप से कह देना चाहते हैं कि विगत दो सौ वर्षों में हुए सुधारवादी आन्दोलन हमें भटकने से तो बचा सके हैं, किन्तु वे हमारा सही पथप्रदर्शन नहीं पर सकते। इसके लिये तो हमें सनातन धर्म की दृष्टि का ही सहारा लेना पड़ेगा, जिसमें कि पूरी भारतीय संस्कृति अखण्ड रूप में प्रतिबिम्बित है। आचार्य नरेन्द्रदेव ने कहा था कि भारतीय संस्कृति को यदि कोई एक नाम दिया जाय, तो वह 'सनातन धर्म' हो सकता है। आगे उन्होंने आर्यसमाज की चर्चा की है, किन्तु यह कभी भी सनातनी दृष्टि को धूमिल करने मे समर्थ नहीं हो सका है। वह तो यहाँ से भी अच्छाइयों को लेकर आगे बढ़ गई है और आज आर्यसमाज अन्य अनेक मत-मतान्तरों की तरह सरोवर के बंधे पानी की तरह स्थिर होकर रह गया है। इस सनातन दृष्टि को आगे बढ़ाया है महात्मा गांधी ने, किन्तु हिन्दु शब्द इसमें रोड़े अटकाना चाहता है।

हिन्दु शब्द हमारा अपना नहीं है। यह हमारे ऊपर थोपा हुआ शब्द है। स्वामी विवेकानन्द अपने को हिन्दु की अपेक्षा 'आर्य' कहलाना अधिक पसन्द करते थे। सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा सन् १९८९ में प्रकाशित अपने 'समिधा' नामक निबन्ध-संग्रह (पृ० ११९-१२०) में डॉ० सम्पूर्णानन्द का कहना है कि हमारे पतन का प्रतीक हमारा हिन्दु नाम है। हम कभी आर्य थे, आज हिन्दु हैं। इस नाम-परिवर्तन से आई

मनोवृत्ति के परिवर्तन का भी उन्होंने सुन्दर विश्लेषण किया है। आज हिन्दु शब्द मुसलमान के साथ जुड़ कर 'श्रमणब्राह्मणम्' के समान शाश्वत संघर्ष का सूचक बन गया है। जितनी जल्दी हम इस शब्द से छुटकारा पा लें, वह भारत के भविष्य के लिये शुभ संकेत होगा। इसके लिये भारतीय जनता दल अथवा काँग्रेस को पहल करनी चाहिये, किन्तु ऐसा करने से पहले उनको अतिवाद और तुष्टिवाद से बचना होगा। भारत की अधिसंख्य प्रजा के लिये भारतीय शब्द कोई बुरा नहीं है। इस भारतीयता में वैदिक, जैन, बौद्ध, स्मार्त, पौराणिक, वैष्णव, शैव, शाक्त, सिक्ख आदि सम्प्रदायों और नाना पन्थों के साथ इस्लाम और ख्रीष्ट मत के अनुयायियों का भी सही माने में समावेश होगा। अथवा प्राचीन भारतीय वाङ्मय में से इसके स्थान पर कोई उपयुक्त शब्द खोजा जा सकता है। इसके लिये हमें पूरी दुनिया को सचेत करना होगा।

पाश्चात्त्य विद्वान् वैदिक शब्द के स्थान पर ब्राह्मण शब्द का प्रयोग करते हैं और जैनों एवं बौद्धों को आज भी ब्राह्मणद्वेषी के रूप में उपस्थापित किया करते हैं। जैनों एवं बौद्धों को सिक्खों के साथ उन्होंने अलग कर दिया है तथा वैष्णव, शैव, शाक्त, स्मार्त आदि अन्य सभी मतों को हिन्दु नाम दे दिया है। ब्राह्मणवाद और मनुवाद जैसे शब्द इन्हीं के दिमाग की खुराफात है। आज का समाज ब्राह्मणों से नहीं, मठाधीशों से और मनुस्मृति से नहीं, अम्बेडकर के द्वारा प्रारूपित संविधान से संचालित है। *यह अच्छा लक्षण है कि इधर इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आने लगा है। इसको स्थायी भारतीय दृष्टिकोण का सहारा मिलना चाहिये।*

सन्तों, सिद्धों, नाथों, गुरुओं और सूफियों के उपदेशों में हमें यह स्थायीभाव मिल सकता है, जिनकी जड़े आगम-तन्त्रशास्त्र और पुराणों के महनीय सिद्धान्तों के साथ मजबूती से जुड़ी हैं। रामानन्द, कबीर, रैदास, दादूदयाल जैसे सन्तों की लम्बी परम्परा इसी की देन है और आज महात्मा गांधी उस परम्परा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। इस परम्परा ने जाति, कुल, धन और विद्या की अपेक्षा चरित्र को सर्वोपरि स्थान दिया है। आज चरित्र की प्रतिष्ठा राष्ट्र के चारों स्तंभों के लिये परमावश्यक है, विशेष कर चतुर्थ स्तंभ के लिये, क्योंकि राष्ट्र की जनता के साथ उसका रोज-रोज का सम्पर्क रहता है और वह अन्य तीन अंगों को भी अनुशासित कर सकता है। वर्तमान स्थिति में तो वह संभव नहीं लगता, क्योंकि इस चतुर्थ स्तंभ ने भी बुद्धिजीवियों के साथ ही विभिन्न मतवादों और राजनीतिक घरौदों में अपने स्वतन्त्र विचारों को बन्धक बना दिया है।

इस बन्धन से मुक्ति उनके लिये आवश्यक है। इसके लिये आज से एक हजार वर्ष पहले के वैचारिक दृष्टि से समृद्ध भारत में प्रवेश करना पड़ेगा। आजकल के विभिन्न धर्मों के प्रचारक भारतीय संस्कृति और धर्म पर मिथ्या आरोप लगा कर उसको धूलिधूसरित कर देना चाहते हैं और वर्तमान राजनेतागण एवं बुद्धिजीवी वर्ग इस प्रचार से अभिभूत से हो

गये हैं। इसी कारण भारतीय प्रजा पर भी इस दुष्ट प्रचार के बादल मंडराने लगें, यह स्वाभाविक है। ब्राह्मणवाद, मनुवाद, वर्णाश्रमव्यवस्था जैसे शब्दों का आज उन अर्थों में प्रयोग होने लगा है, जिनको कि स्वयं भारतीय संस्कृति ने कभी का नकार दिया है। इस दुष्प्रचार में कुछ प्रबुद्ध भारतीय सुधारवादियों का भी कम हाथ नहीं है, जिन्होंने कि धर्म, दर्शन और संस्कृति के क्षेत्र में हुई एक लम्बी विकासवादी परम्परा को नकार दिया।

शैवागमों के २८ भेदों में समाविष्ट मकुटागम के इन वचनों को आप देखिये — "शिव और गुरु पर भक्ति रखने वाला, अपने सहयोगियों के साथ प्रेमभाव रखने वाला, असूया (डाह) से रहित, तत्त्व का साक्षात्कार करने वाला, अन्त्य जाति का, हीन अंग वाला साधक भी मोक्ष को प्राप्त कर सकता है और इन गुणों से रहित ब्राह्मण मोक्ष का अधिकारी नहीं माना जाता। कपटी द्विज का भी त्याग कर देना चाहिये और साधुचरित्र म्लेच्छ भी संग्राह्य है, क्योंकि ऐसा म्लेच्छ भगवान् शिव को प्रिय है, चारों वेदों को जानने वाला पापी पाखण्डी ब्राह्मण नहीं। देखने में आता है कि ब्राह्मण पाप कर्म मे प्रवृत्त होता है और शूद्र भले काम करता है। ऐसी स्थिति में धर्म और अधर्म के प्रति जाति की क्या भूमिका हो सकती है"?

इन वचनों को उद्धृत कर उत्तर (कश्मीर) के महान् शिवाचार्य अभिनवगुप्त ने और दक्षिण (चोल देश) के महेश्वरानन्द ने समान विचार प्रकट किये हैं। इनसे पहले शिवदृष्टिकार सोमानन्द ने कालपादा संहिता को उद्धृत कर कहा है कि श्वपचों को भी दीक्षा का अधिकार है। आगम और तन्त्रशास्त्र में ही नहीं, पुराणों में भी हमें इसी तरह के विचार मिलते हैं। महाभारत तथा अन्य पुराणों में भी कृतान्तपंचक (सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेद) का प्रामाण्य स्वीकृत है। आज भारतीय समाज की जिन समस्याओं को बढ़ा-चढ़ा कर परोसा जा रहा है, उनका समाधान यहाँ बहुत पहले खोज लिया गया था और पूरे भारत की सन्त परम्परा उसी मार्ग का उद्घोष कर रही है। यह भी हमारी मूढ़ता ही है कि इन सन्तों की वाणियों को हम स्वयंप्रसूत मान बैठे हैं और भारतीय संस्कृति की अक्षुण्ण परम्परा से, रामायण-महाभारत-पुराण-आगम तन्त्रशास्त्र से उनकी संबद्धता को भुला बैठे हैं। संस्कृत भाषा और संस्कृत पण्डितों के प्रति फैलाये गये द्वेष की इसमें अहम भूमिका है। आज अपने-अपने राज्य की भाषा का मोह उस अमृत स्रोत को सुखाने जा रहा है, जो कि इस दुनिया की सबसे प्राचीन, सबसे समृद्ध भाषा से प्रसूत होता रहा है।

आज वैदिक धर्म, स्मार्त धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म के उस प्राचीन स्वरूप को तो जिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है, जिनमें विषमता प्रधान थी, किन्तु धर्म और दर्शन के क्षेत्र में वैचारिक संघर्षों के कारण जो परिवर्तन आये, आगम और तन्त्रशास्त्र ने भारतीय धर्मों और दर्शनों में समन्वय स्थापित करने का जो महनीय कार्य किया, उसको हम भुला बैठे हैं। हमने एक जगह लिखा है कि धर्मों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न आगम-

तन्त्रशास्त्र ने किया है और उसी में यह सामर्थ्य है कि अन्ततः वह आन्तर आध्यात्मिक दृष्टि और बाह्य भौतिकवाद में भी समन्वय स्थापित कर सकेगा। यह कार्य कौन करेगा?

तन्त्रशास्त्र की कुछ मान्यताएँ हमारे लिये समालोच्य हो सकती हैं, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि हम पूरे आगम और तन्त्रशास्त्र का तिरस्कार कर दें। आश्चर्य इस बात का है कि तन्त्रशास्त्र का जो हेय पक्ष है, उसी से आज के योगी, स्वामी, ब्रह्मचारी नामधारी जीव ज्यादातर जुड़े हुए हैं और उनको सामान्य समाज में ही नहीं, भारतीय समृद्ध वर्ग, राजनेतागण और तथाकथित बुद्धिजीवियों के बीच भी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त है। आगमशास्त्र में ऐहिक और आमुष्मिक सामान्य सुख (अभ्युदय) के अर्थ में प्रयुक्त भोग शब्द को जिन्होंने संभोग के अर्थ में ला पटका है, उनको आज भगवान् से भी ऊँची जगह पर पहुँचा दिया गया है। तन्त्रशास्त्र की कुछ रहस्यवादी मान्यताओं को शांकर सम्प्रदाय ने भी स्वीकार कर लिया है, किन्तु "शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः" गीता के इस श्लोक की व्याख्या करते समय वे तान्त्रिक दृष्टि को मान्यता देने से कतराते हैं। कथनी और करनी का यह अन्तर भारतीय समाज को खोखला बना रहा है। हमने अनेक जगह दुहराया है कि आज का भारतीय समाज वैदिक और तान्त्रिक उभय धर्मों की विद्रूपताओं से ग्रस्त है और इनकी अच्छाइयों को भुला बैठा है।

वर्णाश्रमव्यवस्था को नये सिरे से जिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" गीता का यह वाक्य इनका प्रधान संबल है। पर हम देखते हैं कि बड़े परिश्रम से कोई शास्त्री उपाधि प्राप्त करता है; दो, तीन या चार वेदों को पढ़ कर नये सिरे से द्विवेदी, त्रिपाठी, चतुर्वेदी बन पाता है, किन्तु उसके उत्तराधिकारी बिना परिश्रम के अनायास इन उपाधियों को हस्तगत कर लेते हैं, इनसे अपना मोह नहीं छुड़ा पाते। समाज में बुद्धिबल, बाहुबल, धनबल और श्रमशक्ति सदा प्रतिष्ठा रहेगी, किन्तु आज की परिस्थिति पहले जैसी नहीं रह गयी है। अकेली बुद्धि, अकेली शक्ति, अकेला धन, अकेला श्रम आज कुछ भी करने में असमर्थ है। सबको एक दूसरे की अपेक्षा है। यह सब होते हुए भी हम वर्णों की और जाति-उपजातियों की शृंखला को तोड़ नहीं सकेंगे।

एक काम हम कर सकते हैं कि इनमें घुसे मिथ्याभिमान को तोड़ने का प्रयास करें। वह इस तरह से कि ऊँच-नीच की भावना को हम मिटा दें, बुद्धि को श्रेष्ठ और श्रम को कनिष्ठ मानने से इन्कार कर दें; धर्म, जाति, कुल, वंश, धन, विद्या और सांसारिक वैभव के स्थान पर मनुष्य के चरित्र को वरीयता दें। आज इसी की आवश्यकता है। आगम और तन्त्रशास्त्र ने इस कार्य को बहुत पहले कर दिया था। स्त्री-पुरुष और ब्राह्मण-चाण्डाल के भेद को मिटाने का उसने भरसक प्रयत्न किया है। बिना धर्म, जाति, विद्या और लिंग का विचार किये सन्तों को समाज में ऊँचा स्थान मिला है। मोहनदास कर्मचन्द गांधी को महात्मा और डॉ. भीमराव अम्बेडकर को बाबासाहब बनाया है। भारतीय समाज आज भी ऊँच-

नीच की अनन्त परम्पराओं से घिरा हुआ है। *इस त्रास से उसको मुक्ति बिना राग-द्वेष की भावना को जगाये भारतीय आगम-तन्त्रशास्त्र की और सन्तों की दृष्टि ही दिला सकती है।*

भारत में दो दृष्टियों का साथ-साथ विकास हुआ है। एक दृष्टि है ब्रह्मसूत्र की, जिसमें वेद के सिवाय सबको नकार दिया गया था। दूसरी दृष्टि है भगवद्गीता, महाभारत, पुराण आदि की; जिसमें सांख्य और योग ही नहीं, उस समय प्रचलित सभी दृष्टियों में समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया गया। भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद की व्याख्या में पहली दृष्टि का समर्थन किया और जाने-अनजाने स्वामी दयानन्द ने भी उसी मार्ग का सहारा लिया, जब कि दक्षिण के शैव और वैष्णव आचार्यों ने तथा उत्तर के सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं ने दूसरी दृष्टि को श्रेयस्कर माना। आगम और तन्त्रशास्त्र ने एवं पुराणों ने भी इसी दृष्टि को उजागर किया है। वे भगवान् बुद्ध और महावीर के सार्वभौम उपदेशों को स्वीकार करने में कोई परहेज नहीं करते। न जाने क्यों भारतीय समाज में यह दृष्टि धूमिल हो गई। बौद्ध दृष्टि के साथ ही समाज ने तन्त्रागमशास्त्र की समन्वयवादिनी दृष्टि को भी नकार दिया।

खीष्टीय और इस्लामिक एकेश्वरवाद की पृष्ठभूमि में वैदिक धर्म की नयी व्याख्या करने का प्रयास हुआ है। भारत में बौद्ध धर्म की पुन: प्रतिष्ठा का प्रयत्न भी थेरवाद की पृष्ठभूमि में किया गया है। इसमें महायान और मन्त्रयान को, चीनी, जापानी, तिब्बती, मंगोली भाषा में हुए उसके विशाल अनुवाद साहित्य को उसी प्रकार भुला दिया गया है, जैसे कि वैदिक धर्म और भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धारकों ने आगम-तन्त्रशास्त्र, पौराणिक साहित्य और शांकर भिन्न वेदान्त को नकार दिया। सूफी साहित्य का अध्ययन भी शांकर वेदान्त की पृष्ठभूमि में ही किया जाता है, जब कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर यह कार्य होना चाहिये था।

इस विचारधारा के समर्थक कुछ अखबार और बुद्धिजीवी भारत की दो-ढाई हजार वर्ष की वैचारिक परतन्त्रता की चर्चा करते हैं। जाने-अनजाने ऐसे विचारक पाश्चात्त्य दुष्प्रचार के मोहरे बन गये हैं। सर्वधर्मसमभाव एक अच्छी कल्पना है, किन्तु हमें इतना तो देखना ही होगा की क्या सभी धर्मों के अनुयायी इसके लिये आवश्यक योग्यता की कसौटी पर खरे उतर रहे हैं। धर्मान्तरण एक अत्यन्त हीन अधिनायकवादी मनोवृत्ति की उपज है। पूरी मानव जाति को उच्च मानसिक धरातल तक पहुँचाने के लिये हमें दो-ढाई हजार वर्षों में विकसित पूरे भारतीय वाङ्मय का ही मुख्य रूप से सहारा लेना होगा। तभी हम भारतीय धर्म और संस्कृति पर बिना सोचे-समझे किये जा रहे मिथ्या आक्षेपों का सही उत्तर दे सकेंगे और दुनिया के अत्यन्त पिछड़े मजहबों के चंगुल में फँसी मानवता का उद्धार भी कर सकेंगे। वेदों के साथ खींचतान करने से यह संभव नहीं होगा। सभी धर्मों की इस तरह की खींचतान के ही कारण भारत आज एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक भाषा की प्रतिष्ठा नहीं कर पा रहा है।

भारतीय तर्कशास्त्र के उज्ज्वल नक्षत्र आचार्य धर्मकीर्ति ने आत्मवाद को इसलिये अस्वीकार कर दिया था कि इससे अपना-परायापन पनपता है, जो कि राग और द्वेष का जनक है और इसी से संसार के सारे दोष पैदा होते हैं। कश्मीरी शैव आचार्यों ने इसका उपचार बताया है कि हम अपनी अहन्ता का इतना विकास करेंगे कि पराया कोई रह ही नहीं जायगा। इस भाव को वहाँ विश्वाहन्ता नाम दिया है। विरूपाक्षपंचाशिका में इस स्थिति का हृदयाभिराम वर्णन मिलता है। स्कन्दपुराण का कहना है कि इस संसार के सारे दुःख दूर हो जाँय। प्रजा में विद्यमान लोभ आदि दुष्ट भाव मिट जाँय। हमारा अपने प्रति, अपने भाई के प्रति अथवा पुत्र के प्रति जो भाव है, वही भाव साधारण मनुष्य के प्रति भी जाग उठे। जब हम धर्म, राष्ट्र, राज्य, भाषा, जाति, कुटुम्ब, कबीले आदि के भेदों को लांघ कर पूरी मानव जाति को आत्मसात् कर लेते हैं, तो यही तो वह अखण्ड दृष्टि है, जो विश्वाहन्ता के रूप में प्रतिष्ठित होती है। श्रद्धेय श्री श्री गोपीनाथ कविराज के अखण्ड महायोग की और योगी अरविन्द की अतिमानस स्थिति की प्रतिष्ठा की भूमिका यहीं से प्रारंभ होती है।

स्वामी दयानन्द के वैदिक कर्मकाण्ड और स्वामी विवेकानन्द के शांकर वेदान्त के स्थान पर योगी अरविन्द ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन से अनुप्राणित शाक्त दर्शन को अपने जीवन में उतारा था, जहाँ पर आकर भारतीय मनीषा ने एक हजार वर्ष पहले विश्राम ले लिया था। धर्म, संस्कृति और दर्शन के क्षेत्र में नवीन विचारों की उद्भावना यहीं से प्रारम्भ होनी चाहिये थी। सही रूप में यह कार्य योगी अरविन्द ने किया।

पूर्णयोग

योगी अरविन्द द्वारा प्रतिपादित योग पूर्णयोग कहलाता है। यह नाम उन्होंने स्वयं दिया है। पूर्णयोग का लक्ष्य है भागवत चेतना की अतिमानसी शक्ति को उतार कर मन, प्राण और देह में इस प्रकार से लाना कि इनका दिव्य रूपान्तरण हो जाय और इनकी सहायता से ही भगवान् का प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जाय। अभिप्राय यह है कि जड़ तत्त्व में दिव्यत्व की अवतारणा के लिये इस योग की आवश्यकता है। इस योग की साधना किसी नियत मानसिक अवबोधन की या ध्यानोपासना की विधि मन्त्रजप[१] आदि के रूप में नहीं चलती। इसके लिये तो अपेक्षित है, सच्ची अभीप्सा का अन्तर्मुखी, ऊर्ध्वमुखी संप्रेषण, उस दिव्य सत्ता और उसकी लीला के प्रति पूर्ण आत्मोद्घाटन, जो सर्वत्र विद्यमान है एवं जिसकी उपस्थिति हमारे हृदय में निरन्तर बनी रहती है।

१. कश्मीर के मालिनीविजयतन्त्र (१८.७४-८१) में कहा गया है कि यह सब कर्मकाण्ड किया भी जा सकता है और नहीं भी। साधक की इच्छा और अनिच्छा को ही यहाँ वरीयता दी गई है। उस पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है, किन्तु इतना अवश्य कहा गया है कि साधक को अपनी चर्या ऐसी बनानी चाहिये कि जिससे उसका मन निर्मलता, बौद्ध तन्त्रों के शब्द में प्रभास्वरता की ओर बढ़ता चले।

योगी अरविन्द लेखन को भी पूर्णयोग का अंग मानते हैं और कहते हैं कि केवल लेखन ही नहीं, वास्तव में कोई भी काम योग बन सकता है[१]। उनके मत में यह सारा जीवन ही योग है। वे कहते हैं कि जो लोग सच्चे मन से श्री माँ के निमित्त काम करते हैं, उनके लिये तो वह काम ही अभीष्ट चेतना को प्राप्त कराने का साधन बन जाता है, भले ही वे ध्यान-चिन्तन में बैठते तक न हों या योगसाधना की दृष्टि से कुछ भी न करते हों। एक स्थान पर तो वे आसन[२] और प्राणायाम के विषय में भी कहते हैं कि इनकी सहायता से मानसिक दोषों का निर्मूलन हो ही जाय, यह आवश्यक नहीं है। हमें तो अन्य सारी चिन्ताएँ छोड़ कर अपने को यथार्थ में भागवत सत्य और भागवत प्रेम का पात्र बनना चाहिये। इसका प्रथम चरण होगा — पूर्ण आत्मनिवेदन और आत्मशुद्धि, पूर्ण आत्मोद्घाटन और अपने अन्दर के उस सबका पूर्ण परित्याग, जो इसमें बाधक हैं।

इस पूर्णयोग की साधना के लिये, एक पूर्णतया विकसित अध्यात्मीकृत समाज के विकास के लिये और मानवीय विविधता में एकता की संसिद्धि के लिये निश्चित रूप से मार्ग-दर्शन स्वयं ही प्राप्त होता है। मानव का सच्चा धर्म है देवत्व को प्राप्त करना और अपने पार्थिव जीवन की सत्ता को तदनुरूप ढालना। यही विकास का वास्तविक अर्थ भी होता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि मन, प्राण और जड़ तत्त्व तीनों आध्यात्मिक मन अथवा अतिमन के द्वारा प्रादुर्भूत हुए आत्मा के ही परिणाम हैं। मनुष्य अपने मन का [३]अतिमन में विकास करके इसी जीवन में जड़ जगत् में आत्मा के वास्तविक सत्य का, प्राण के उच्चतम धर्म का साक्षात्कार कर सकता है। आत्मा ही सच्चिदानन्द स्वरूप है और इसके[४] एवं जगत् के बीच किसी प्रकार का कोई भेद नहीं है। जो भेद जान पड़ता है, वह केवल इस कारण से है कि हम इस जगत् को अज्ञान की दृष्टि से देखते हैं, ज्ञान[५] की दृष्टि से नहीं। इस विकास प्रक्रिया का चरम रूप विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन, अर्थात् दिव्य जीवन होता है।

---

१. "योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता" (श्लो. १०४) विज्ञानभैरव के इस श्लोक में योगी के कार्य करने की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। पूरी सावधानी से निपटाया गया प्रत्येक कार्य योग की कोटि में आ ही जायगा।

२. स्वरूप-साक्षात्कार में अष्टांग योग की कोई अपेक्षा नहीं है, इस प्रसंग में आसन और प्राणायाम की निरपेक्षता पर भी अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (४.८७-८८) में विस्तार से प्रकाश डाला है। नेत्रतन्त्र (८.९-२१) में अष्टांग योग की परिभाषा ही बदल दी गयी है और उसमें भी तर्क को योग का सर्वश्रेष्ठ अंग माना है।

३. "यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः। तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः।।" (८.९२) मनुस्मृति के इस श्लोक में इन दोनों ही स्थितियों का विश्लेषण किया गया है।

४. सोमानन्द की शिवदृष्टि के प्रथम तथा चतुर्थ आह्निक में सब कुछ शिवमय है, इस सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

५. विष्णुपुराण (१.४.३८-४१) के श्लोकों से तुलना कीजिये। विज्ञानवादी बौद्धों की भी यही मान्यता है।

शक्ति तत्त्व

शक्ति तत्त्व को योगी अरविन्द ने अतिमानसी शक्ति कहा है। यह तब तक प्रकट नहीं होती, जब[१] तक कि हम सब प्रकार के अहंभाव से अपने को मुक्त न कर लें। वह शक्ति अपने को व्यक्त ही केवल ऐसे मानव प्राणी में करेगी, जिसने पूर्ण आन्तरिक अवस्था प्राप्त कर ली हो। एक अन्य स्थान पर इच्छाशक्ति और कर्मशक्ति[२] का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि यह भी इस परिबद्ध व्यक्तित्व और उसके अहंकार का प्रस्फुटन न होकर दैवी और आध्यात्मिक शक्ति होगी, मानव मूर्ति के माध्यम से उन्मुक्त रूप से कार्य करती हुई उस परात्पर विश्वमूर्ति[३], अखिल विश्व के आत्मा परमात्मा की ही इच्छा और कर्मशक्ति होगी। वे यह भी कहते हैं कि जिन महापुरुषों में यह आध्यात्मिक चेतनाशक्ति बहुत विकसित हो जाती है, उनमें एक विशेष क्रियात्मक आध्यात्मिक शक्ति आ जाती है।

अतिमानस अवतरण

पूर्णयोग की कसौटी दिव्य रूपान्तरण है और शक्ति तत्त्व की सहायता से यह प्राप्त हो सकता है। पहले अपनी प्रकृति का रूपान्तरण, फिर भौतिक और आध्यात्मिक रूपान्तरण और अन्तम अतिमानसी रूपान्तरण। इसके लिये योगी अरविन्द[४] दो प्रतिज्ञाएँ करते हैं — एक तो यह कि मैं तब तक धरती का वातावरण छोड़कर नहीं जाऊँगा, जब तक कि यह रूपान्तरण न हो जाय, दूसरी यह कि अब मैं अतिमानसी स्थिति में निर्मित प्रथम अतिमानसी देह में ही प्रकट होऊँगा। यह इस लिये कि उनको अतिमानस के अवतरण और दिव्य रूपान्तरण के योग को परिपूर्णता देनी है, विश्व के क्रमविकास में अतिमानसी जीवन को प्रत्यक्ष करना है।

---

१. ''नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य:'' (मुण्डको० ३.२३) इस तरह के उपनिषद् वचन भी इसी ओर इंगित करते हैं।

२. कर्मशक्ति के स्थान पर क्रियाशक्ति शब्द का प्रयोग होना चाहिये। शैव-शाक्त तन्त्रों में इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक तीन शक्तियों का निरूपण हुआ है। मनुष्य को कुछ प्राप्त करने की इच्छा है और वह वस्तुत: कैसे प्राप्त होगी, इसकी जानकारी भी उसे है ; किन्तु यदि उसकी क्रियाशक्ति प्रबुद्ध नहीं है, अर्थात् आलस्य आदि के कारण उसकी यह शक्ति प्रसुप्त है, तो वह कुछ भी नहीं कर सकेगा, उसकी इच्छा और ज्ञान शक्ति निष्फल जायगी।

३. प्रत्यभिज्ञा दर्शन में इसी को विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण तत्त्व कहा है।

४. व्याधि-जरा-मृत्यु से ग्रस्त दु:खी संसार के उद्धार के लिये भगवान् बुद्ध ने भी ऐसी ही प्रतिज्ञा की थी और वे बोधिसत्त्व के रूप में अभी भी इस संसार के दु:खों की निवृत्ति के लिये सतत क्रियाशील हैं, ऐसी बौद्ध दार्शनिकों की मान्यता है।

अतिमानसी जीवन के लिये दो तत्त्व आवश्यक हैं — एक तो पूर्ण और सतत[१] समानता का भाव और दूसरा उसके ज्ञान के संबन्ध में पूरी निश्चितता। समानता सचमुच पूर्ण हो, इसके लिये आवश्यक है कि वह निरपवाद और अपरिवर्ती हो, सहज एवं स्वैच्छिक हो। अतिमानसी जगत् के समस्त[२] प्राणियों का परस्पर संबन्ध मित्र, सहयोगी और बराबर वालों का होगा। इस स्थिति में हमारा पृथ्वीलोक अतिमानसी जीवन के लिये उपयुक्त भूमि बन जायगा। अतिमानसी सृष्टि संभव हो सके, इसके लिये यह भी आवश्यक है कि [३]जिस तत्त्व का मनुष्य-शरीर बना हुआ है, उसी में भारी परिवर्तन हो। दैहिक तत्त्वों का अतिमानसीकरण हो जाने पर धरती पर शरीर लेकर जन्म लेने में भी हीनता का बोध नहीं होगा। इस सृष्टि में कोई धर्म आदि नहीं होंगे। जो भागवत इकाई विश्व भर में प्रकट होगी, प्राणीमात्र उसी की अभिव्यक्ति, उसी का विभिन्न रूपों में पल्लवन-पुष्पन होंगे। मनुष्य आज जिनको देवता कहता है, वे भी फिर नहीं रह जायेंगे, क्योंकि नई सृष्टि में वे स्वयं भी भाग लेते होंगे। धरती पर अतिमानसी तत्त्वों का अवधारण इन्हें भी करना होगा।

---

१. अभिनवगुप्त और महेश्वरानन्द जैसे प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के आचार्यों ने त्रिकशासन के प्रमाण से अष्टविध समता का प्रतिपादन किया है। समताष्टक मार्ग का शक्तिसंगम तन्त्र (२.१८.२१) में भी उल्लेख है। इस विषय का विशेष विवरण हमारे लुप्तागमसंग्रह के द्वितीय भाग के संस्कृत उपोद्घात (पृ० २११) में देखा जा सकता है।

२. स्कन्दपुराण के निम्न श्लोक से इसकी तुलना की जा सकती है —

> नश्यन्तु दुःखानि जगत्यपैतु लोभादिको दोषगणः प्रजाभ्यः ।
> यथात्मनि भ्रातरि चात्मजे वा तथा नरस्यास्तु जनेऽपि भावः ।।

३. अतिमानसी सृष्टि के प्रसंग में यह एक प्रमुख प्रश्न है। सांख्य दर्शन की दृष्टि से यह सृष्टि त्रिगुणात्मक है, सुख-दुःख-मोहात्मक है। इस प्राकृतिक सृष्टि में दिव्य भाव का उन्मेष हो ही नहीं सकता। किन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन में मायीय और महामायीय सृष्टि का भी वर्णन है। मायीय सृष्टि के उपादान शुद्धाशुद्ध सात तत्त्व और महामायीय सृष्टि के उपादान पाँच शुद्ध तत्त्व हैं। महामाया, कुण्डलिनी शक्ति, परा वाक् ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। आणव, मायीय और कार्म नामक त्रिविध मलों से आवृत सकल प्रमाता का शरीर प्राकृतिक, आणव और मायीय मल से आवृत प्रलयाकल का मायीय और केवल आणव मल से आवृत विज्ञानाकल का शरीर महामायीय है। यह विज्ञानाकल अन्ततः मन्त्र (विद्या), मन्त्रेश्वर (ईश्वर), मन्त्रमहेश्वर (सदाशिव) और शिव-शक्ति का स्वरूप धारण कर लेता है। इस प्रकार यहाँ सप्तविध प्रमाताओं की स्थिति मानी गई है। क्या यह संभव है कि प्राकृतिक और मायीय सृष्टि के उपादानों की कोई सत्ता न रह जाय और शुद्ध महामायीय सृष्टि ही बची रह जाय? इस प्रसंग में यह दर्शनीय है कि योगी अरविन्द परम सत् के सात आयामों की चर्चा करते हैं, जिनमें कि वह मूर्तिमान् होता है। वे हैं — सत्, चित्, आनन्द, अतिमानस, मानस, जीवन और जड़तत्त्व। हम विज्ञानाकल की उन्मनी अवस्था से अतिमानस स्थिति की तुलना कर सकते हैं।

यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है। योगी अरविन्द का कहना है कि हमारा जीवन सरल कार्यों के लिये नहीं, कठिन कार्यों को पूरा करने के लिये ही है। वे यह भी कहते हैं कि कोई भी काम किसी दूसरे से न [१]ऊँचा समझा जाना चाहिये और न नीचा ही। किसी भी कार्य में सम्पूर्णता आ सके, इसके लिये आवश्यक है कि मानव प्राणी की जीवनगत कार्य-प्रवृत्तियों के पाँचों प्रधान पक्षों को ध्यान में रखा जाय। ये पाँच पक्ष हैं — [२]शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, चैत्तिक और आध्यात्मिक।

गुरु

गुरु के संबन्ध में योगी अरविन्द का कहना है कि गुरु तो उसे कहेंगे, जो चेतना और आत्मसत्ता के उच्चतर स्तरों तक पहुँच चुका हो और जिसे उस चेतना की अभिव्यक्ति का प्रतिनिधि माना जाता हो। ऐसा गुरु अपने प्रवचन और उससे अधिक अपने प्रभाव और उदाहरण से ही सहायता नहीं करता, बल्कि अपनी अनुभूतियों को दूसरों तक संप्रेषित कर सकने की क्षमता द्वारा भी करता है। एक दूसरे प्रसंग में वे कहते हैं कि [३]बिना गुरु के भी अतिमानसी रूपान्तरण को प्राप्त किया जा सकता है।

उपसंहार

''श्रद्धेय गोपीनाथ कविराज का अखण्ड महायोग'' शीर्षक निबन्ध में हमने उनके अखण्ड महायोग को अखण्ड संस्कृति के माध्यम से समझने का प्रयत्न किया है और अन्त में लिखा है कि अखण्ड महायोग के उपासक के स्थूल व्यापार की इतिकर्तव्यता इस अखण्ड संस्कृति के माध्यम से व्यष्टि एवं समष्टि में स्वत्व का विस्तार कर, उसमें समूचे विश्व के

---

१. चातुर्वर्ण्य व्यवस्था जन्मना मानी जाय अथवा कर्मणा, इस व्यवस्था से भारतीय समाज की वर्तमान स्थिति में कोई परिवर्तन आने वाला नहीं है। उसमें घुसी हुई ऊँच-नीच की अनन्त परम्परा का, विषम दृष्टि की इस व्याधि का एकमात्र उपचार यही है कि हम किसी भी काम को छोटा या बड़ा न मान कर समाज के लिये उपयोगी सभी कार्यों को समान आदर दें।

२. विज्ञानभैरव (श्लो. १३५) के इस श्लोक से तुलना कीजिये —

मानसं चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टयम् ।
यदा प्रिये परिक्षीणं तदा तद् भैरवं वपुः ।।

३. प्रत्यभिज्ञादर्शन, बौद्ध तन्त्र और योगवासिष्ठ में भी ज्ञान की प्राप्ति के त्रिविध अथवा चतुर्विध उपादान बताये गये हैं। ''गुरुतः शास्त्रतः स्वतः'' ये हैं तीन उपादान और इनमें बौद्ध तन्त्र ''परतः'' को भी जोड़ते हैं, अर्थात् ज्ञान गुरु से, शास्त्राध्ययन से, अपने अनुभव से और अन्य सहयोगी मित्र आदि के अनुभवों से भी प्राप्त होता है। संविद्देवियों के द्वारा स्वप्न में दीक्षा का विधान भी शास्त्रों में मिलता है। वसुगुप्त को शिवसूत्रों की प्राप्ति स्वप्न में प्राप्त आदेश के अनुसार हुई थी। महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द को भी स्वप्न में ही योगिनी का आदेश प्राप्त हुआ था।

प्रति भ्रातृभाव का उन्मीलन कर समाप्त होती है। इस प्रकार यहाँ स्वत्व का विस्तार होता है, लोप नहीं। अखण्ड महायोगी के आध्यात्मिक सूक्ष्म चिन्तन में यह स्थूल व्यापार भी निरन्तर जुड़ा रहता है, जिससे दु:ख-व्याधि-जराग्रस्त यह समग्र विश्व अपने स्थूल रूप में भी शान्ति और प्रेम के आलोक से आलोकित हो सके।

योगी अरविन्द के दर्शन की भी हम इसी पद्धति से सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में व्याख्या कर सकते हैं। बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था को प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं सिद्ध साहित्य ने भी नकार दिया है। जीवन्मुक्त दशा की प्राप्ति ही उनका चरम ध्येय है। एक ही जन्म में मुक्ति की बात को भक्तिस्तोत्रकार शैव अवधूतसिद्ध ने भी स्वीकार किया है। इन सबने मानव मात्र को दीक्षा का अधिकारी माना है और बाह्य कर्मकाण्ड की अपेक्षा आन्तर (चित्त) शुद्धि पर अधिक जोर दिया है। मालिनीविजय तन्त्र की ऊपर चर्चा हो चुकी है। इसी अभिप्राय के वचनों से आगम-तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं के ग्रन्थ और सिद्ध साहित्य भी भरा पड़ा है और आगे विभिन्न भारतीय भाषाओं के माध्यम से विकसित सन्त साहित्य के, विशेष कर कबीर जैसे निर्गुणी सन्तों के साहित्य में हमें इस दृष्टि का चूड़ान्त उत्कर्ष देखने को मिलता है। "आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" और "परस्परदेवो भव" शीर्षक संस्कृत के दो निबन्धों में हमने देखा है कि हम अपने मन में पूरी मानवता के प्रति समादर भाव का विकास कैसे कर सकते हैं? वैष्णव दार्शनिकों ने शुद्धसत्त्व स्थिति को स्वीकार किया है। यह स्थिति इस त्रिगुणात्मक प्राकृत सर्ग में भी प्राप्त की जा सकती है। यदि पूरी मानवता यहाँ तक पहुँच सके, तो उस स्थिति में न कोई साम्प्रदायिक रह जायगा और न सेक्युलर ही। महात्मा गांधी की कल्पना के अनुसार उस स्थिति में राजकीय नियन्त्रण की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी।

यदि पूरी मानवता यहाँ तक पहुँच सके, तो उसका आगे का पग दिव्यभाव, अतिमानस सृष्टि की ओर ही बढ़ेगा, किन्तु क्या यह संभव होगा? अभी तो बुद्ध-महावीर और राम-कृष्ण के उपदेशों की भूमि की मानसिकता भी शोचनीय स्थिति तक पहुँच गई है। *आकाशवाणी, दूरदर्शन और सिनेमा उसको विपरीत दिशा की ओर ही ढकेल रहे हैं ।।*

●

महात्मा गांधी : अखण्ड भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता

आज की पूरी दुनिया खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा-लिपि, कला-साहित्य, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में भी पाश्चात्त्य संस्कृति से प्रभावित हुई है। भारत भी इससे अछूता न रह सका। यहाँ के नव शिक्षित वर्ग में आज जो कुछ भी भारतीयता बची है, उसका अधिकांश श्रेय महात्मा गांधी को जाता है। महात्मा गांधी के भारतीय राजनीति में पदार्पण

करने के पूर्व यहाँ की राजनीति और नेतागण पूरी तरह पाश्चात्त्य संस्कृति से प्रभावित थे। अंग्रेजी भाषा और वेश-भूषा का उस समय के राजनीतिक संमेलनों में एकच्छत्र राज्य था। भारतीय भाषा बोलने में अथवा भारतीय वेश-भूषा में समाज के सामने आने में शिक्षित वर्ग को हीनता का बोध होने लगा था। भारतीय राजनीति में राष्ट्रभाषा और खादी की प्रतिष्ठा कर महात्मा गांधी ने तत्कालीन शिक्षित वर्ग को इस हीनता-ग्रन्थि से मुक्ति दिलाने का अचूक प्रयत्न किया। भारतीय ऋषि-मुनियों और महापुरुषों के द्वारा सेवित त्याग, तपस्या और अहिंसा के मार्ग को उन्होंने पूरे विश्व के सामने न केवल वाणी से, अपितु आचरण के द्वारा भी उजागर किया। भारतीय संस्कृति के उत्कृष्ट गुणों से कुछ प्रबुद्ध पाश्चात्त्य चिन्तक अवश्य पहले से परिचित थे, किन्तु उपनिषद्, गीता, बुद्ध और महावीर के उपदिष्ट मार्ग पर अब भी चला जा सकता है, राजनीति में भी सत्य और अहिंसा की प्रतिष्ठा हो सकती है, इसको पूरे जगत् में साधारण जन तक पहुँचाने का श्रेय महात्मा गांधी की जीवनचर्या को ही दिया जा सकता है। भारतीय जनता ने ठीक ही उनको 'महात्मा' की उपाधि से विभूषित किया।

महात्मा गांधी ने न केवल भारतीय संस्कृति को भौतिक आक्रमण से बचाया, किन्तु पाश्चात्त्य संस्कृति को भी अध्यात्म की ओर उन्मुख किया। इस दिशा में हम रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और योगी अरविन्द के अवदान को भी भूल नहीं सकते। एक दुनियाँ, एक संस्कृति और एक राज्य की स्वर्णिम कल्पना बड़ी लुभावनी है। विचारक इस ओर सोचने लगे हैं। इसको मूर्त रूप देने के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई है। किन्तु आज पूरा विश्व विभिन्न गुटों में बँटा हुआ है। एक गुट दूसरे को निगल जाना चाहता है। इस परिस्थिति में एक विश्व-संस्कृति अथवा एक राज्य की कल्पना कैसे साकार हो सकती है? द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आज की दुनियाँ का सर्वाधिक प्रिय सिद्धान्त है, जिसकी पूरी इमारत ही विद्वेष, घृणा, क्रूरता और संघर्ष के पायों पर खड़ी है। सहिष्णुता और समन्वय के भारतीय सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में गांधीजी ने इस क्षेत्र में कुछ अपनी मान्यताएँ स्थापित कीं, किन्तु उनके राजनीतिक अनुवर्तियों की ही उपेक्षा के कारण वे पनप न सकीं। भारतीय चार्वाक ने कहा था —

"त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचरा:"।

इस चार्वाक दर्शन के रचयिता देवगुरु बृहस्पति माने गये और उनका दर्शन भी भारतीय दर्शनों में परिगणित होता है। यह भारतीय सहिष्णुता इस विश्व के जनमानस में जब तक प्रतिष्ठित नहीं होगी, तब तक एक विश्व और एक संस्कृति की बात कोरी कल्पना ही साबित होगी। यदि विश्व को इस ओर अग्रसर होना है, तो उसको एक-न-एक दिन गांधीवाद की ही शरण में आना पड़ेगा।

गांधी के अपने देश की राजनीति में आज वाम और दक्षिण का झगड़ा देखकर आश्चर्य होता है। वर्ग-संघर्ष पर आधारित साम्यवादी राजनीति के ये दो पहलू हैं। आज साम्यवादियों

में भी दो-तीन वर्ग हो गये हैं। अधिक उग्र वर्ग अपने को वाम पक्ष में और दूसरे को दक्षिण पक्ष में रखता है। वाम और दक्षिण शब्द ने आज राजनीतिक गाली का रूप ले लिया है। इसके वे भी शिकार हो जाते हैं, जिनको कि वर्ग-संघर्ष में विश्वास ही नहीं है। वर्ग-संघर्ष में विश्वास न रखने वाले प्रगतिशील दल और गांधी जी की काँग्रेस का एक वर्ग भी आज अपने को वामपंथी घोषित करने में गौरव का अनुभव करते हैं। पाश्चात्त्य राजनीति के सामने यह भारतीय राजनीतिज्ञों का आत्मसमर्पण ही कहा जायगा। इसका कारण यही है कि *बुद्ध और महावीर को तो हम देर से भूले थे, गांधी को बहुत जल्दी ही भुला दिया गया। गांधी के शरीर की हत्या एक अतिराष्ट्रवादी ने की थी, उनकी राजनीतिक और सांस्कृतिक हत्या उनके निजी अनुयायियों ने ही की।*

केवल राजनीति ही नहीं, अन्यान्य क्षेत्रों में भी भारतीय प्रतिभा पाश्चात्त्य ज्ञान-विज्ञान के आगे अपने स्वरूप को खो बैठी है। भारतीय साहित्य शास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद और दर्शन का विकास आज रुक गया है। आज की कविता की रचना और आलोचना पर पाश्चात्त्य समालोचना शास्त्र की छाप गहरी होती जा रही है। ज्योतिष आज पाश्चात्त्य पंचांगों का और उपकरणों का सहारा ले रहा है। काशी के ही ख्यातनामा वैद्य एलोपैथी गोली के चूर्ण को आयुर्वेद का चमत्कार बता कर उसका गौरव बढ़ाने में लगे हैं। एक ओर भारतीय दार्शनिक कहते हैं कि नवीन दर्शन का निर्माण ही नहीं हो सकता, दूसरी ओर लक्ष्यहीन पाश्चात्त्य दार्शनिक-पथ का अन्धानुकरण चल रहा है। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि पाश्चात्त्य ज्ञान-विज्ञान की उपेक्षा कर दी जाय। हमको संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठापक स्वर्गीय सम्पूर्णानन्द जी के दर्शन परिषद् के उद्‌घाटन के अवसर पर कहे गये वे शब्द याद हैं कि ज्ञान और विज्ञान को देश और काल की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। इस संबन्ध में हमको वराहमिहिर के इस वचन से प्रेरणा लेनी है —

> वृद्धा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम् ।
> ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते .... ।।

किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि अपनी मौलिक चिन्तन-धारा को ही हम विस्मृत कर दें।

भारतीय राष्ट्रीयता आज विघटन की ओर बढ़ रही है। देश में धर्म-निरपेक्ष जनतन्त्र प्रणाली का शासन है। किन्तु समाज धर्म, जाति, भाषा और प्रान्तीयता आदि की भाँति-भाँति की व्याधियों से ग्रस्त है। भारतीय राष्ट्रीयता और संस्कृति का न तो विकास हो रहा है और न इस ओर कोई ध्यान ही दे रहा है। जनतन्त्र में बहुमत का महत्त्व है। विभिन्न मतवादों के आधार पर संघटित राजनीतिक दल आज अपना बहुमत बनाने के चक्कर में एक राष्ट्रीयता अथवा संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों की भी उपेक्षा करने में संकोच का अनुभव नहीं करते। इसी देश का एक अंग अब पाकिस्तान के नाम से इससे अलग होकर इस राष्ट्र को नष्ट कर देने के लियें मुहम्मद गौरी के आक्रमणों से प्रेरणा ले रहा है। वहाँ के शासकों

का यह दृढ़ विश्वास है कि भारत की विविधता तथा फूट के कारण कभी न कभी हम अवश्य ही पूरे देश पर अपना वर्चस्व उसी प्रकार स्थापित करने में समर्थ होंगे, जैसे कि एक हजार वर्ष पूर्व इस्लाम के अनुयायियों ने इस देश पर किया था। पाकिस्तान से सहानुभूति रखने वालों की संख्या यहाँ कम नहीं है। कुछ ऐसे भी दल हैं, जो कि रूस अथवा चीन से आदेश प्राप्त करते हैं। अंग्रेजी भाषा और संस्कृति एवं अंग्रेजियत के साथ अमेरिकन पद्धति का अनुकरण करने वालों का एक बड़ा वर्ग यहाँ अभी भी कार्यरत है। यह है देश की आज आशंकाओं से भरी भयावह परिस्थिति। विघटनकारी प्रवृत्तियाँ तीव्रता से कार्यरत हैं। आज की दूषित राजनीति में इसका समाधान नहीं मिल सकता। इसके लिये तो सांस्कृतिक धरातल पर ही आगे बढ़ा जा सकता है। प्रार्थना-सभा के माध्यम से सभी धर्मों में समन्वय स्थापना के द्वारा इस मार्ग को महात्मा गांधी ने उन्मुक्त-द्वार किया था। आज सच्चाई से इसी का सहारा लेने की जरूरत है। इसके लिये सबसे बड़ी आवश्यकता है, यहाँ के सभी धर्मों, वर्गों और सम्प्रदायों में सहिष्णुता की भावना के विकास की। *महात्मा गांधी ने जीवन भर इसके लिये अथक प्रयास किया, किन्तु तब पाश्चात्त्य राजनीति ने यह कार्य नहीं होने दिया और अब अवसरवादी राजनीतिज्ञ इसमें बाधक बने हुए हैं।*

संघर्ष, बिभीषिका, परस्पर अविश्वास और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ओर तीव्र गति बढ़ रहा यह विश्व तभी त्राण पा सकता है, जबकि ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' और ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' का दिव्य सन्देश विश्व संस्कृति को समर्पित किया जा सके। यह तभी हो सकता है, जब कि भारत इसको देने में समर्थ हो। दुनिया के सभी धर्म और संस्कृति के अनुयायी यहाँ बसते हैं। वे यदि शान्तिपूर्वक रहना सीख जाँय, तो अनायास ही विश्व संस्कृति की सर्जना का मार्ग खुल सकता है। इस पुण्य कार्य में महात्मा गांधी का अवदान गतिशील प्रेरणास्रोत सिद्ध होगा ।।

●

श्रद्धेय गोपीनाथ कविराज का अखण्ड महायोग

महायोग का अर्थ है — अनन्त प्रकार से असंश्लिष्ट और विक्षिप्त भावों की एकसूत्र में संयोजना एवं उनकी तादात्म्यरूपेण प्रतिष्ठा। शिव के साथ शक्ति का योग, आत्मा के साथ परमात्मा का योग, एक आत्मा के साथ दूसरी आत्मा का योग, महाशक्ति के साथ आत्मा का योग, लोक और लोकोत्तर का परस्पर योग, लोकों के साथ लोकातीत का योग आदि सभी महायोग के अन्तर्गत हैं।

काल तात्त्विक दृष्टि से महाकाल और खण्डकाल में विभक्त है। महाकाल अखण्ड और निरन्तर सृष्टिशील है, तो खण्डकाल अतीत, वर्तमान और अनागत रूप से त्रिधा विभक्त

है। अनादिकाल से यह काल का स्रोत चला आ रहा है। आलंकारिक भाषा में कहा जा सकता है कि विशाल काल-सरिता निरन्तर अनागत से प्रवाहित होकर वर्तमान का स्पर्श करती हुई अतीत के गह्वर में लीन हो जाती है। किन्तु ऐसी भी स्थिति आती है, जहाँ त्रिकाल नहीं। वहाँ एकमात्र नित्य वर्तमान[१] अखण्ड काल विराजमान रहता है। वहाँ सभी वस्तुएँ नित्य प्रकाशमान रहती हैं। किसी का भी परिणाम नहीं होता। इस अखण्ड महाकाल में उपर्युक्त महायोग की स्थिति ही अखण्ड महायोग के नाम से अभिहित है।

वर्तमान युग में बंगाल के प्रभु जगद्बन्धु, योगी अरविन्द, मेहर बाबा और पाण्डिचेरी की माँ किसी न किसी अंश में इस महायोग के उपासक रहे हैं। श्री अरविन्द का अतिमानस अवतरण (डिवाइन डीसेण्ट) इसी महायोग का एक अंश है। प्रभु जगद्बन्धु के 'चन्द्रपात' आदि ग्रन्थों में इसका आंशिक विवरण मिलता है। वस्तुत: अखण्ड महायोग की पूर्णता अमरत्व प्राप्ति, निराकार प्रेम और अन्तत: साकार प्रेम-साधना में है।

इस योग में अन्ततोगत्वा जगत् का वैचित्र्य रहने पर भी भेद नहीं रहता। एक की प्राप्ति से सबकी प्राप्ति का नित्य संबन्ध लगा रहता है। जगत् की वर्तमान स्थिति में यह नहीं है। एक की मुक्ति से सभी की मुक्ति, एक की प्राप्ति से सभी की प्राप्ति, चाहे पूर्ण रूप से हो चाहे आंशिक रूप से, तभी हो सकती है, जब समष्टि या महासमष्टि की दृष्टि से समग्र जगत् में तादात्म्य प्रतिष्ठित हो।

अखण्ड महायोग की साधना में तात्त्विक दृष्टि से दो वस्तुओं की पूर्ण अपेक्षा है — एक तो मनुष्य का श्रेष्ठ प्रयत्न और दूसरा परमात्मा का परम अनुग्रह। मनुष्य के लिये चाहिये — पुरुषकार और एकीकरण। पुरुषकार द्वारा तत्त्वों का लय करना पड़ता है। यह सारा जगत् पृथ्वी से लेकर महामाया पर्यन्त विस्तृत है। प्रथम तत्त्व जितना व्यापक है, दूसरा तत्त्व उससे अधिक व्यापक है। इसी प्रकार अन्तिम तत्त्व सर्वाधिक व्यापक है। व्याप्य तत्त्व से व्यापक तत्त्व में उत्थान का एकमात्र उपाय है — कर्मगत कौशल। दूसरा तत्त्व प्राप्त होते ही उसके मण्डल की अधिगति (प्राप्ति) होती है। अन्तिम तत्त्व तक जाने पर समग्र विश्व उसके अधिकार में आ जाता है। इस प्रकार मनुष्य के श्रेष्ठ प्रयत्न पुरुषकार द्वारा साधक एकीकरण की प्रक्रिया को पूरी करता है।

योग साधना की दूसरी धारा है — परमेश्वर की महाकरुणा के प्राप्त होने पर अपनी आश्रित सत्ता को अनुगृहीत करना। परमेश्वर की कृपा मनुष्य की कर्मगत या ज्ञानगत योग्यता से नहीं प्राप्त होती। कर्म का फल ऐश्वर्य है और ज्ञान का कैवल्य। ये दोनों महाकृपा के उद्बोधक नहीं हैं। महाकृपा का स्फुरण किसी जीव पर परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति से होता

---

१. ''वर्तमानेन कालेन वर्तयन्ति विचक्षणा:'' यह सुभाषित प्रसिद्ध है। ''कालोभयापरिच्छिन्न वर्तमान'' स्थिति में जीने का उपदेश अभिनवगुप्त और अद्वयवज्र दोनों समान रूप से देते हैं।

है। इस कृपा का संचार होने पर मनुष्य में शिवत्व आ जाता है। उस समय वास्तविक दृष्टि से परमात्मा की क्रियाशक्ति काम करने लगती है। उसका पूर्ण विकास होने पर शिवत्व पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है।

कर्म और कृपा के समन्वय से ही योगी अखण्ड महायोग के मार्ग में आगे बढ़ता है।

अखण्ड महायोग का उद्देश्य है—गुरुकृपा के प्रभाव से काल की निवृत्ति। खण्ड रूप में यह अनादि काल से होती चली आ रही है, किन्तु उससे समग्र विश्व का सामूहिक कल्याण पूर्ण रूप से निष्पन्न नहीं होता। इसके लिये आवश्यक है कि मोक्षपथ की ओर आरोहण का कार्य समाप्त कर, महाशक्ति के साथ अपना तादात्म्य सिद्ध कर, स्वयं महाशक्तिसम्पन्न होकर योगी महाप्रेम की साधना के लिये इसी संसार में अवतरण करे। इस अवतरण का उद्देश्य है—विशुद्ध प्रेम की साधना। महाकरुणा से प्रेरित होकर ही बुद्धदेव ने महाबोधि की प्राप्ति हो जाने पर भी निर्वाण में प्रवेश न कर सभी दु:खी जीवों के उद्धार का शिव-संकल्प लिया था। महाप्रेमावस्था के सिद्ध हो जाने पर योगी महाप्रकाशमय हो जाता है। इसके अनन्तर स्वातन्त्र्य शक्ति का उन्मीलन होता है और जगत् में महाप्रेम के पूर्ण विकास का मार्ग खुल जाता है। उस समय क्रमश: काल-राज्य गुरु-राज्य के अन्तर्गत हो जाता है। काल-संकर्षिणी शक्ति की क्रिया पूर्ण हो जाने पर काल तो रहता ही नहीं, अविद्या और माया की स्थिति भी नहीं रहती। काल-राज्य के पूर्णतया निवृत्त हो जाने पर गुरु-राज्य की भी आवश्यकता नहीं रहती।

यही पूर्ण अद्वैत का स्वरूप है, ब्रह्मरूपी आत्मा का अपना स्वरूप है। वह अनन्त प्रकार से आनन्दमय लीला करता है, फिर भी लीलातीत नित्य साक्षी के रूप में प्रतिष्ठित रहता है। उस समय इस प्राकृत जगत् का कुछ भी नहीं रहता, फिर भी सब कुछ रहता है। इस महायोग को 'अखण्ड' इसलिये कहा जाता है कि यह खण्डित नहीं होता। प्रत्येक वस्तु के साथ प्रत्येक वस्तु का अभेद प्रतिष्ठित होता है, फिर भी उसका अपना स्वरूप नष्ट नहीं होता।

इस अखण्ड महायोगी की सिद्धि का चरम लक्ष्य है — समग्र विश्व के सामूहिक कल्याण के लिये व्यष्टिरूपेण योगविशेष के द्वारा अमरत्व-प्राप्ति के उपरान्त समष्टि या महासमष्टि की दृष्टि से सारे जगत् में तादात्म्य प्रतिष्ठित कर क्रमश: निराकार और साकार प्रेम के उन्मेष के माध्यम से जगत् के सर्वविध दु:खों के प्रहाण के साथ अखण्ड आनन्द के आलोक की उद्भावना।

श्रद्धेय कविराज जी के इस आध्यात्मिक अखण्ड महायोग को आधिभौतिक स्थूल दृष्टि से अखण्ड संस्कृति के माध्यम से कुछ समझा जा सकता है। आधुनिक जगत् स्वत्व के संकोच के कारण दु:खी है। यह स्वत्व धर्म, राष्ट्र, राज्य, भाषा, जाति, कुटुम्ब, कबीले आदि के नाना विभ्रमों में पड़कर बँटा हुआ है। अखण्ड संस्कृति के माध्यम से इन विभ्रमों

को तोड़ पाने के उपरान्त ही अखण्ड स्वत्व का बोध संभव हो सकता है। कविराज जी को पुष्पदन्त के शिवमहिम्न:स्तव का —

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।

यह श्लोक अत्यन्त प्रिय था। सहिष्णुता और समन्वय भारतीय इतिहास की विशेषता रही है। यह प्रक्रिया अब भी निरन्तर क्रियाशील है। त्याग और तपस्या के उच्च आदर्शों से अनुप्राणित साधु-सन्तों की परम्परा परस्पर के स्थूल भेदों को मिटाने में निरन्तर सचेष्ट रही है। महात्मा गांधी, योगी अरविन्द आदि महामानव इसी परम्परा की अलख जगाते रहे हैं। इन्होंने आधुनिक विश्व के वर्तमान धर्मों और विभिन्न वादों के विरोधी दृष्टिकोणों में सहिष्णुतापूर्वक समन्वय स्थापित कर अखण्ड संस्कृति के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया है, जिससे विश्वसमष्टि में इस अखण्ड संस्कृति के आविर्भाव से स्वत्व का संकोच दूर हो और ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की उदात्त भावना का विकास हो। जहाँ प्रत्येक वस्तु के साथ प्रत्येक वस्तु के अभेद के प्रतिष्ठित होने पर भी अपने स्वरूप के नष्ट होने का कोई प्रसंग नहीं है, वहाँ विश्व के किसी भी वाद, धर्म अथवा संस्कृति के स्वत्व के लोप का भय क्यों उपस्थित होगा?

अखण्ड महायोग के उपासक के स्थूल व्यापार की इतिकर्तव्यता इस अखण्ड संस्कृति के माध्यम से व्यष्टि एवं समष्टि में स्वत्व का विस्तार कर, उसमें विश्व के प्रति भ्रातृभाव का उन्मीलन कर समाप्त होती है। इस प्रकार यहाँ स्वत्व का विस्तार होता है, लोप नहीं। अखण्ड महायोगी के आध्यात्मिक स्थूल चिन्तन में यह स्थूल व्यापार भी निरन्तर जुड़ा रहता है, जिससे कि दु:ख-व्याधिग्रस्त यह समग्र विश्व अपने स्थूल रूप में भी शान्ति और प्रेम के आलोक से आलोकित हो सके ।।

आचार्य नरेन्द्रदेव का समाजवाद

प्रोफेसर श्री मुकुटबिहारीलाल प्राच्य और पाश्चात्त्य राजनीतिशास्त्र के माने हुए विद्वान् और प्रसिद्ध समाजवादी राजनेता थे। वे स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव के अन्तरंग सहयोगी रहे हैं। उन्होंने अपने कुछ निबन्धों और ग्रन्थों में समाजवाद की पृष्ठभूमि में आचार्य नरेन्द्रदेव और भारतीय संस्कृति का मूल्यांकन किया है। आचार्य जी ने अपने जीवन काल में भारतीय संस्कृति और दार्शनिक विचारधारा के साथ समाजवाद को समरस करने का महनीय प्रयास किया था। यद्यपि समाजवाद आज आम चर्चा का विषय बन गया है, किन्तु यह आन्दोलन

भारतीय संस्कृति से दूर होता जा रहा है। अतः यह आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति के उस सर्वजनीन स्वरूप का प्रायः उन्हीं के शब्दों में पुनरवलोकन किया जाय।

आचार्य जी ने भारतीय संस्कृति और दर्शन के विश्वजनीन सिद्धान्तों और दीर्घकालीन मूल्यों का न केवल गहरा मनन ही किया था, किन्तु उन्हें जीवन में आत्मसात् करने की भरसक चेष्टा भी की थी।

आचार्य जी दो युगों के संक्रमणकाल के विचारक थे। इस काल के बहुत से विचारकों के विचार भी बहुत हद तक संक्रमणात्मक हो जाते हैं, बदलती दुनियाँ के साथ बदलते हैं। कभी एक बात का समर्थन करते हैं तो कभी दूसरी का। एक विषय में प्रगतिशील होते हैं तो दूसरे विषय में प्रतिक्रियावादी। इनमें से कोई भी बात आचार्य जी पर लागू नहीं होती। उन्होंने बहुत सोच कर नवीन और प्राचीन में समन्वय स्थापित कर उनको अपनाया, पर बदलती दुनियाँ को अपने ज्ञान पर हावी नहीं होने दिया।

मानव नरेन्द्रदेव सबको प्रिय थे। उनके विरोधी भी उनके व्यक्तिगत व्यवहार के प्रशंसक थे। आचार्य जी मानव व्यक्तित्व का आदर करते, हर एक में मानव का दर्शन करते, छोटे से छोटे माने जाने वाले व्यक्ति से भी मानवोचित ढंग से मिलते थे, जो जितना छोटा माना जाता था, उससे उतना ही अधिक स्नेह करते थे।

आचार्य नरेन्द्रदेव संस्कृत वाङ्मय की व्यापकता, गरिमा और गांभीर्य के प्रशंसक थे और भारतीय नवयुवकों के लिये उसका समुचित अध्ययन आवश्यक समझते थे। इनका विचार था कि इस युग में सर्वधर्म-समन्वय द्वारा साम्प्रदायिकता का समाधान होना असंभव है। वे जीवनोत्कर्ष और सामाजिक विकास के लिये धर्मनिरपेक्ष संस्कृति और नैतिकता का विकास आवश्यक मानते थे।

भारतीय समाजवाद के प्रवर्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति और समाजवाद में सुन्दर समन्वय स्थापित किया था। उनका कहना था कि संस्कृति[१] चित्तभूमि की खेती है। व्यक्तियों के चित्त के साथ-साथ लोकचित्त के कार्यक्षेत्र का विस्तार आवश्यक है। लोकचित्त का राष्ट्रचित्त में और विश्वचित्त का विश्वसंस्कृति के रूप में विकास अभिप्रेत है। जीवन और संस्कृति दोनों परिवर्तनशील हैं। कालप्रवाह से जीर्ण और अनुपयोगी पुराने विचारों के परित्याग के साथ श्रैणिक नैतिकता के नाम पर सभी पुराने आदर्शों और सिद्धान्तों का बहिष्कार तथा समाज के दीर्घकालीन अनुभव तथा संचित ज्ञान का अनादर अनुचित होगा। हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी संस्कृति का सतर्क और वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करें, उसके जीवन्त

---

१. "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (१.२) इस योगसूत्र के अनुसार योगशास्त्र भी एक प्रकार की चित्तभूमि की खेती ही है।

तत्त्वों की रक्षा करें और आधुनिक विचारों से उनका सामंजस्य स्थापित कर नवसंस्कृति का निर्माण करें। आदान-प्रदान से ही संस्कृतियाँ संपुष्ट और ऐश्वर्यमय हो सकती हैं।

भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा तत्त्व विभिन्न जीवन-प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। इसकी दूसरी विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना तथा आचरण की शुद्धता है। अपना ध्यान रखते हुए दूसरे का भी ध्यान रखना इसका मूल मन्त्र है — ''आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्''। इसका तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है विश्वभावना, ''आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति'', ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' इसकी शिक्षा है। हमारी संस्कृति के दो पहलू रहे हैं— एक व्यक्तिवादी तो दूसरा समष्टिवादी, अर्थात् विश्वजनीन। इन्हीं को हम व्यक्तिगत मानस और लोकमानस कह सकते हैं।

व्यष्टि और समष्टि में सामंजस्य युग की माँग है। मानव की उन्नति के लिये व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समष्टि-भावना दोनों आवश्यक हैं। भारतीय विद्वानों द्वारा प्रतिपादित समत्व, कर्मयोग, विश्वभावना, लोकहित तथा शील के विचारों का अर्वाचीन विद्वानों द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीयता, अन्तरराष्ट्रियता, लोकतन्त्र, समाजवाद और इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या में समयोग अपेक्षित है। इसके लिये अपने शास्त्रों के साथ अर्वाचीन विद्वानों के लोकतन्त्र, देशबन्धुत्व, विश्वसहयोग तथा समताराज्य संबन्धी विचारों का भी विवेचनात्मक अध्ययन होना चाहिये। अपनी संस्कृति के कालविपरीत तत्त्वों का परित्याग कर उसके युगानुरूप कल्याणकारी तत्त्वों का संरक्षण और परिवर्धन करना और साथ ही अर्वाचीन विचारकों के हानिकारक सिद्धान्तों और परिपाटियों की यथोचित समीक्षा करते हुए उनके लाभप्रद प्रगतिशील विचारों का परिग्रहण करना युग की माँग है। काल-विपरीत, निर्जीव पुराने विचारों की दुहाई देकर भारतीय गणराज्य के प्रति अश्रद्धा पैदा करना, उसके संबन्ध में जनता में भ्रम फैलाना तथा उच्च वर्णों में अधिकायकत्व की प्रवृत्ति को जाग्रत् करना किसी तरह भी उचित नहीं माना जा सकता।

जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ।
न चोद्योगेन बुद्ध्याऽथ रूपद्रव्येण वा पुनः ।।

महाभारत शान्तिपर्व में गणराज्य के प्रकरण में कही गई भीष्म के ये दोनों बातें अर्वाचीन विद्वानों को स्वीकार हैं। वे प्रत्येक जाति, कुल और व्यक्ति की समानता को स्वीकार करते हुए उद्योग और बुद्धि की क्षमता की विभिन्नता को स्वीकार करते हैं और चाहते हैं कि क्षमता, कर्तव्यपरायणता और सद्व्यवहार ही जनविश्वास तथा पदों पर नियुक्तियों का आधार हो। हमारे पूर्वजों ने कहा है कि ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है (नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते) और उसे सब किसी से ग्रहण किया जा सकता है।

आज का हिन्दु समाज चार वर्णों के बजाय सैकड़ों जातियों तथा उपजातियों मे विभाजित है। इन जातियों, उपजातियों को चार वर्णों या समूहों में विभाजित कर चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के आधार पर हिन्दु समाज का पुन:संघटन राजनीतिक शक्ति की क्षमता के बाहर है। वर्तमान परिस्थिति में यह और भी असंभव है, क्योंकि यहाँ पर अब हिन्दु समाज के अतिरिक्त बौद्ध, जैन, सिक्ख, पारसी, मुसलमान, ईसाई और यहूदी भी बसते हैं। इसके लिये तो हमें जातिवाद और सम्प्रदायवाद के बजाय लोकतान्त्रिक नागरिकता और देशबन्धुत्व की भावना से सारी भारतीय जनता को अनुप्राणित करना होगा।

हमारे पूर्वजों ने हमारे सामने "वसुधैव कुटुम्बकम्" का आदर्श प्रस्तुत किया है। इस आदर्श को जीवन में आत्मसात् करना हमारा कर्तव्य है। यदि हम विभिन्न सम्प्रदायों, प्रजातियों तथा जातियों में विभाजित मानव समाज में भ्रातृत्व का अनुभव कर सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि हम संपूर्ण हिन्दु समाज तथा भारतीय समाज में बन्धुत्व और आत्मीयता का अनुभव न करें। महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा है कि देशबन्धुत्व को आत्मसात् किये बिना विश्वबन्धुत्व की उपलब्धि असंभव है। देशबन्धुत्व और समता पर आश्रित राष्ट्रीयता ही भारतीय गणतन्त्र को संघबद्ध तथा सबल कर सकती है; विभिन्न जातियों, उपजातियों और सम्प्रदायों से संबद्ध सज्जनों में सौजन्य की वृद्धि कर सकती है तथा विश्वबन्धुत्व का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।

अपने को शान्तिप्रिय या शान्ति का अग्रदूत और दूसरों को युद्ध का पोषक बताना ठीक नहीं होगा। दूसरे देशों के विद्वान् भी विश्वसंघ और विश्वराज्य की कल्पना के माध्यम से इस ओर अग्रसर हैं। भारत इन सबकी उपेक्षा नहीं कर सकता। भारतीय विद्वानों का यह कर्तव्य है कि वे नवीन सिद्धान्तों और प्रयोगों का अध्ययन करें और अपनी परिस्थितियों और आवश्यकता के अनुरूप इन सिद्धान्तों तथा व्यवस्थाओं के प्रगतिशील सजीव तत्त्वों को सहर्ष स्वीकार करें। भारतीय राष्ट्र को युगानुरूप बनाने के लिये यह नितान्त आवश्यक है। समता पर आधृत संस्कृति ही श्रेष्ठ मानी जा सकती है। तभी विश्वबन्धुत्व, मानवता और विश्वकल्याण की भावना को बढ़ावा मिल सकता है। निराग्रही समीक्षा तथा सर्जनात्मक समन्वय द्वारा ही यह संभव है। विचार-वैचित्र्य से घबड़ाने की कोई बात नहीं है। विचार-स्वातन्त्र्य चिरकाल से भारतीय संस्कृति का सद्गुण रहा है। भारतीय संस्कृति के विकास में विचार-स्वातन्त्र्य और विचार-विमर्श का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है और इनके द्वारा ही इस समय भी जड़ता और संकीर्णता का परित्याग तथा सर्जनात्मक चिन्तन हमारे लिये संभव हो सकते हैं।

ऊपर संस्कृति की जो व्याख्या की गई है, वह सभी संस्कृतियों से अधिक सर्वजनीन होने का दावा कर सकती हैं। वह मानव द्वारा मानव के और राष्ट्र द्वारा राष्ट्र के शोषण का विरोध करती है तथा पूर्ण स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में विश्वबन्धुत्व का समर्थन करती है। वह

एक ऐसे स्वतन्त्र संसार की रचना करना चाहती है, जिसमें सब मनुष्य आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दासता से मुक्त हों, जिसमें सब मनुष्यों को मौलिक मानव अधिकार प्राप्त हों तथा सबको स्वतन्त्रता और संमान के साथ अपने आर्थिक अभ्युदय और सांस्कृतिक उन्नति की सुविधा प्राप्त हो, जिसमें प्रत्येक राष्ट्र को बराबर की जनतान्त्रिक आजादी हासिल हो, सब अन्तरराष्ट्रीय झगड़े शान्तिमय ढंग से निपटाये जा सकें और सब राष्ट्र पारस्परिक सहयोग के जरिये मानव-कल्याण में वृद्धि करें।

यह जनतान्त्रिक समाजवादी संस्कृति मानव-चेतना, मानव-भ्रातृत्व, मानव-अभ्युत्थान, मानव-व्यक्तित्व और मानव-श्रम का आदर करती है तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और अन्तरराष्ट्रीय शान्ति, सामाजिक न्याय और विश्वहित, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र जनतान्त्रिक सहयोग, मानव समाज की उन्नति और व्यक्तित्व का गठन, सार्वजनिक सेवा तथा उत्तरदायित्व की भावना, विश्वास की दृढ़ता और हर परिस्थिति में सामाजिक कुरीतियों का विरोध आदि जीवन के सर्वजनीन मूल्यों का समर्थन करती है।

समाजवादी संस्कृति जातिव्यवस्था और जातिगत अधिकारों को ठीक नहीं समझती। ऊँच-नीच, छूतछात के सिद्धान्तों, नियमों तथा प्रथाओं का वह विरोध करती है। एकान्त में मनन और तपस्या द्वारा आत्मसिद्धि के सिद्धान्त को वह ठीक नहीं समझती। उसकी निश्चित धारणा है कि प्राचीन संस्कृति के पुनर्जीवन का आन्दोलन देश की समस्याओं को सुलझा नहीं सकता। ऊँच-नीच तथा छूतछात की भावना का त्याग हिन्दु समाज के स्वास्थ्य के लिये भी परम आवश्यक है। समत्व की भावना ही सामाजिक विषमताओं को दूर कर सकती है, समाज के विभिन्न तत्त्वों में सामंजस्य और सौहार्द पैदा कर सकती है, समाज को स्वस्थ और सबल बना सकती है।

वस्तुत: समाजवादी संस्कृति भारतीय संस्कृति के सर्वजनीन सिद्धान्तों से समरस है। अहंकार, लोभ और अन्याय का परित्याग, समता की सिद्धि, निष्काम भावना, लोकहित की वृद्धि, कर्तव्य-परायणता, विनय, करुणा और शील प्राचीन भारतीय संस्कृति के दीर्घकालीन सर्वजनीन तत्त्व हैं। समाजवाद इन सब सिद्धान्तों का समर्थन करता है। वह स्वीकार करता है कि निष्काम लोकहित ही समता की सिद्धि का सुगम मार्ग है। समाजवाद की यह भी धारणा है कि समता की नींव पर आधारित समाजवादी व्यवस्था और संस्कृति में ही इन सर्वजनीन मानवीय मूल्यों का पूर्ण विकास और जनसाधारण के लिये उनकी उपलब्धि संभव है। सामन्तवादी और पूँजीवादी प्रथा में थोड़े से साधु-सन्त ही दूषित परिस्थितियों के कुप्रभाव से अपने को बचाकर इन सर्वजनीन मूल्यों को अपने जीवन में सिद्ध कर सकते हैं।

राष्ट्रीयता, अन्तरराष्ट्रीयता, लोकतन्त्र और समाजवाद इस युग की मुख्य मान्यताएँ हैं। इन्हें अपनाना, भारतीय संस्कृति में इनका समावेश करना नितान्त आवश्यक है। इस

तरह समाजवाद भारतीय संस्कृति के दीर्घकालीन, सर्वजनीन, सजीव मूल्यों तथा तत्त्वों का पाश्चात्त्य संस्कृति के सजीव, प्रगतिशील तत्त्वों तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों में समन्वय करता है। *आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में समाजवाद पर आस्था रखने वाले विचारक एक ऐसी नई संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं, जिसका मूल प्राचीन सभ्यता में होगा, जिसका रूप-रंग देशी होगा, जिसमें पुरातन सभ्यता के उत्कृष्ट अंग सुरक्षित रहेंगे और साथ-साथ उसमें ऐसे नवीन अंशों का भी समावेश होगा, जो आज जगत् में प्रगतिशील हैं और संसार के सामने एक नवीन आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं।*

इस तरह अतीत के सर्वजनीन तत्त्वों तथा नवयुग की उपलब्धियों, मान्यताओं और आकांक्षाओं के आधार पर सुन्दर, सबल और स्वस्थ भविष्य का निर्माण समाजवादी संस्कृति का लक्ष्य है। इस संस्कृति और तत्संबन्धी सभ्यता में बौद्धिक समुदाय के ज्ञान, चिन्तन तथा अनुभूतियों का, किसान, मजदूर, शिल्पकार और कलाकार की सृजनात्मक शक्तियों एवं समाजोपयोगी श्रम और आकांक्षाओं का तथा नवयुवकों के उत्साह, कल्पना, पौरुष, आवश्यकता और उमंगों का समन्वय होगा। उसमें ज्ञान, श्रम और मानवीय भावनाओं का सामंजस्य होगा ।।

❋❋❋

पंचम परिच्छेद

स्फुट विचार

- तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र का भविष्य
- भारतीय चिन्तन-परम्परा में नयी दृष्टि
- नयी स्थापनाओं की आधारभूमि
- हिन्दूकरण नहीं, भारतीयकरण
- यह भारतीयकरण क्या है ?
- वर्णाश्रम धर्म, दलित जातियाँ और धर्मपरिवर्तन
- बौद्ध दीक्षा : एक समीक्षा
- क्या धर्मपरिवर्तन की गति थमेगी ?
- धर्मनिरपेक्षता एक अवांछनीय शब्द
- भारतीय संस्कृति : साधक-बाधक तत्त्व
- एक राष्ट्र, एक संस्कृति, एक भाषा
- धर्म और संस्कृति का अन्तर पहिचानिये

तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र का भविष्य

तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र की आजकल पूरे विश्व में बड़ी चर्चा है, किन्तु इससे आने वाले खतरे की ओर से हमें अभी से सावधान हो जाना चाहिये। ब्रह्मचारी योगियों की और तान्त्रिकों की पहुँच देश के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों तक है। इसको उलट कर भी कह सकते हैं कि ये राजनीतिज्ञ इनको बड़ी श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते हैं। विदेशों में भारतीय योगशास्त्र का डंका बजाने वाले योगियों की भी कोई कमी नहीं है। यह बात सही है कि तन्त्रशास्त्र ने और उससे अनुप्राणित योगशास्त्र ने वर्ण, लिंग, जाति, सम्प्रदाय, देश आदि की सीमा लांघकर मानव मात्र को इसका अधिकारी बताया है, किन्तु ऐसा करते समय उसमें कुछ दोष भी आ गये हैं। प्राचीन भारत में गृहस्थ ऋषि को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी, किन्तु बाद में स्थिति बदल गई। गृहस्थ ऋषि का स्थान भिक्षु, मुनि और संन्यासी ने ले लिया। ऋषि गृहस्थ रहते हुए भी सभी एषणाओं से मुक्त था, किन्तु भिक्षुओं, मुनियों और संन्यासियों के इर्द-गिर्द मठों और मन्दिरों के रूप में सभी एषणाओं का एक रहस्यात्मक ताना-बाना बुना जाने लगा और इसी पृष्ठभूमि में रहस्यात्मक शास्त्रों का भी आविर्भाव हो गया। उपनिषदों को रहस्यशास्त्र कहा जाता था, किन्तु औपनिषदक रहस्य एक अलौकिक तत्त्व था। तान्त्रिक योगियों ने इस अलौकिक तत्त्व को सत्तर्क और स्वात्मप्रत्यभिज्ञा द्वारा रहस्य के आवरण से मुक्त कर स्वात्मस्वरूप अथवा जीवन्मुक्त अवस्था के रूप में प्रतिष्ठित किया, लेकिन उसके स्थान पर उन्होंने लौकिक जीवन को ही रहस्यों में ढक दिया। मनुष्य की रागात्मक वृत्ति का प्रशमन तान्त्रिक अवधारणाओं का एक लक्ष्य माना जा सकता है, किन्तु विगत सहस्राधिक वर्षों से तन्त्रशास्त्र का रहस्यवाद महज अपनी कुंठाओं को छिपाने का एक बीभत्स प्रयास रहा है। तन्त्रशास्त्र के रहस्यवाद को औपनिषद रहस्यवाद से भी ऊँचा दर्जा दिलाने का प्रयास किया जाता रहा है और आज भी यह प्रयास रुका नहीं है।

इस अनोखे रहस्यवाद ने [१]'ब्रह्मचारी' शब्द का अर्थ ही बदल दिया। मारविजयी बुद्ध और कामदेव को भस्म कर देने वाले योगिराज शिव के द्वारा प्रवर्तित धर्मों में काम के इस अनोखे प्रवेश ने कृष्ण भक्ति-धारा में ही नहीं, राम भक्ति-धारा में भी रसिक सम्प्रदाय को जन्म दे दिया। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के लोकमंगलकारी स्वरूप की रक्षा का श्रेय गोस्वामी तुलसीदास को दिया जाना चाहिये, अन्यथा राम का यह चरित्र भी उसी तरह से पीछे ढकेल

---

१. ''ओष्ठ्यान्त्यत्रितयासेवी ब्रह्मचारी स उच्यते'' (तन्त्रा० २९.९८)। ओष्ठ्यान्त्यत्रितयासेवी का तात्पर्य तीन मकारों के सेवन से है।

दिया गया होता, जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण का महाभारत और भगवद्गीता में वर्णित स्वरूप हमारी आँखों से ओझल हो गया है। विश्व के उत्कृष्टतम ग्रन्थ महाभारत को घर में रखना अथवा पढ़ना आज महान् अमंगलकारी कार्य मान लिया गया है और गीता का अध्ययन गृहस्थ के लिये निषिद्ध है। इसके स्थान पर भागवत की, भागवात के दशम स्कन्ध की और रासलीला की उत्तरोत्तर प्रतिष्ठा बढ़ गई है और रासलीला के रहस्य को औपनिषद रहस्यवाद से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। हम कहाँ पहुँच गये हैं।

स्वर्ग देखने के लोभ में नाक कटा लेना कोई बुद्धिमानी नहीं है। आज हमें एक जगह खड़े होकर देखना है कि आगे किस तरफ जाना है। किसी समय तान्त्रिक धर्म ने भारतीय संस्कृति के विस्तार के लिये स्तुत्य प्रयास किया था, किन्तु आज हम उसकी अच्छाइयों को भुला चुके हैं। समाज ऊँच-नीच, छोटे-बड़े के घेरे में बँटा हुआ है। सन्तों की वाणी का, जिनका कि प्रेरणास्रोत मुख्यत: [१]तान्त्रिक वाङ्मय ही रहा है, समाज पर केवल मौखिक प्रभाव है, अर्थात् उसका उपयोग केवल एक-दूसरे को उपदेश देने तक सीमित है। अपनी दैनिक दिनचर्या में उसको उतारने का प्रयास नहीं किया जाता। इसका भी एक मौलिक कारण है। उपनिषद्, गीता या अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थों के उत्कृष्ट उपदेशों का अधिकारी सामान्य मनुष्य को नहीं माना जाता। उनके लिये इन उत्कृष्ट आध्यात्मिक मूल्यों का अनुसरण कर पाना कठिन है, ऐसा मानकर नाना प्रकार के कर्मकाण्डों की सृष्टि कर दी गई है, जैसा कि विज्ञानभैरव के १०वें श्लोक में बताया गया है। ऐहलौकिक जीवन की अपेक्षा पारलौकिक जीवन पर ध्यान अधिक केन्द्रित कर दिया गया है। फलत: सामान्य मनुष्य निकृष्टतम जीवन बिताते हुए भी कुछ कर्मकाण्डों का नियमित आचरण कर धार्मिक बन बैठता है। इस स्थिति को दूर किया जाना चाहिये। विज्ञानभैरव जैसे ग्रन्थ इसमें सहायक हो सकते हैं।

अद्वैतवादी आगमिकों की मान्यता है कि नट अपने मन से राम-कृष्ण, रावण-कंस आदि की भूमिका में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार के सुख-दु:खों की अनुभूति स्वयं तटस्थ भाव से करता हुआ भी जैसे दर्शकों में साधारणीकरण प्रक्रिया के आधार पर सचमुच की अनुभूति पैदा करा देता है, उसी तरह से ईश्वर भी तटस्थ भाव से लीला करता है। लीला करते-करते वह अज्ञान से आवृत हो जाता है और इस तरह से उसकी शक्तियाँ और स्वरूप संकुचित हो जाते हैं। संकुचित प्रमाता के रूप में वह अपने स्वरूप को भूल बैठता है। यह स्वरूप की विस्मृति ही इनके यहाँ बन्ध और स्वरूप की स्मृति ही मोक्ष कहलाती है। इस तरह से इनके मत में बन्ध और मोक्ष की वास्तविक सत्ता नहीं है। इनकी दृष्टि में यह सारा विश्व 'अहम्' का ही विलास है। चित्रकार कागज, कपड़ा या दीवाल पर अपनी कल्पना का चित्र

---

१. डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने "तन्त्र और सन्त" नामक ग्रन्थ में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है, किन्तु 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग उन्होंने सीमित अर्थ में किया है। वस्तुत: प्राचीन शैव और वैष्णव आगम भी इसी श्रेणी में आते हैं और सन्तों की वाणी पर इन सबका प्रभाव है।

बनाता है। यह शिव ऐसा अनोखा चित्रकार है कि बिना आधार के अपने आपमें इस विश्व के उन्मीलन और निमीलन की लीला करता रहता है। अपनी अहन्ता को वह परिमित प्रमाता के रूप में भौतिक शरीर तक सीमित कर देता है और फिर वही पर प्रमाता के रूप में पूरे विश्व में विश्वाहन्ता के रूप में इसका विस्तार कर लेता है। इस स्थिति में वह इस पूरे विश्व को अपना कुटुम्ब नहीं, किन्तु स्वयं अपना ही स्वरूप मानता है।

शक्तिसंगमतन्त्र में समताष्टक मार्ग का उल्लेख है। इसका परिचय हमने विज्ञानभैरव के पृ. ७८ पर दिया है। सन्तों और भक्तों की परम्परा से और योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थों के माध्यम से यह समता-दृष्टि भारतीय जनमानस में सामान्य रूप से अपना स्थान बनाये हुए है। महात्मा गांधी में इसी दृष्टि का उन्मेष हुआ था। किन्तु आज इस समता-दृष्टि के मूल स्रोत को हमने भुला दिया है। आज का प्रबुद्ध भारतीय इस साम्यवाद की खोज में उस कस्तूरी मृग की भाँति भटक रहा है, जिसको इसका ज्ञान नहीं है कि उस मनमोहक गन्ध का स्वामी वह स्वयं ही है। आज इस बात की आवश्यकता है कि जैसे तत्कालीन सभी धर्मों की उदात्त भावनाओं में समन्वय स्थापित कर मानवमात्र के कल्याण के लिये तान्त्रिक धर्म की प्रतिष्ठा की गई थी, उसी तरह से आज भी विश्व के सभी धर्मों की उदात्त भावनाओं में समरसता, समन्वय स्थापित कर एक विश्व-धर्म और विश्व-संस्कृति की प्रतिष्ठा की जाय ।।

भारतीय चिन्तन-परम्परा में नयी दृष्टि

दर्शन ही नहीं, प्राय: सभी शास्त्रों का अध्ययन प्राचीन भारतीय परम्परा में ह्रासवाद के आधार पर और आधुनिक परम्परा में विकासवाद के आधार पर किया जाता है। केवल धारणा ही नहीं, यह वस्तुस्थिति है कि ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में भारत में पूर्ववर्ती काल में जिस तरह के प्रौढ़ ग्रन्थों का निर्माण हुआ, परवर्ती काल में वह स्थिति देखने को नहीं मिलती। समस्त सूत्र-ग्रन्थ, पतंजलि का महाभाष्य, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, भरत का नाट्यशास्त्र, वात्स्यायन का कामशास्त्र, चरक-सुश्रुत आदि संहिताएँ — ये सब ऐसे ग्रन्थ हैं कि परवर्ती काल में इनकी टक्कर का कोई ग्रन्थ नहीं बना। इन ग्रन्थों के रचयिता त्रिकालज्ञ ऋषि हैं। इस पृष्ठभूमि में यह सोचना स्वाभाविक है कि शास्त्र की परम्परा का ह्रास हो रहा है। मध्यकालीन महान् दार्शनिक आचार्य उदयन को इसीलिये लिखना पड़ा —

जन्मसंस्कारधृत्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः ।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम् ।।

इसके विपरीत आधुनिक पाश्चात्य दृष्टिकोण विकासवाद के आधार पर सभी शास्त्रों का अध्ययन करता है। यूनान और रोम के चिन्तकों का ये ऋषितुल्य आदर करते हैं, किन्तु

इनका दर्शन सुकरात और अरस्तू में ही समाप्त नहीं हो जाता। ज्ञान और विज्ञान की प्रत्येक शाखा में, चिन्तन के विभिन्न क्षेत्रों में यूनान और रोम की ही नहीं, दुनियाँ की सभी प्रबुद्ध-चिन्तन-धाराओं की सहायता लेकर उन्होंने उन-उन शास्त्रों का विकास तो किया ही है, साथ ही ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्तिकारी उद्भावनाएँ भी की हैं, जिनसे कि आज की सारी दुनियाँ लाभान्वित ही नहीं, संचालित भी है।

इस वैषम्य के मूल कारणों की खोज करना और भारत की आज की परिस्थिति में उससे होने वाले हानि-लाभ का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना आज के चिन्तक का आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। इस संबन्ध में हम यथामति अपने कुछ विचार यहाँ प्रस्तुत करना चाहते हैं। अपने विचारों को प्रस्तुत करने के लिये हम जागतिक ज्ञान को आध्यात्मिक और आधिभौतिक दृष्टियों में न बाँटकर ऐहलौकिक और पारलौकिक दृष्टियों में बाँटना चाहते हैं।

अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति प्रायः प्रत्येक भारतीय दर्शन का लक्ष्य है। मनुष्य जीवन्मुक्त भले ही हो जाय, किन्तु मोक्ष की अभिव्यक्ति इस शरीर और दुनियाँ का मोह छूट जाने के बाद ही होती है। अभ्युदय ऐहलौकिक भी है और पारलौकिक भी। स्वर्ग आदि पारलौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति भी इस शरीर के छूट जाने के बाद ही होगी। भारतीय दर्शनों में ऐहलौकिक अभ्युदय को हेय दृष्टि से देखा जाता है और पारलौकिक अभ्युदय को उपादेय। फलतः इनमें ऐहलौकिक अभ्युदय सम्बन्धी विचारों को बहुत कम स्थान मिला है। भारतीय वाङ्मय की एक शाखा आगमशास्त्र या तन्त्रशास्त्र ने एक ही जन्म में भोग और मोक्ष, अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त कराने की बात की, किन्तु इसमें भी व्यक्तिगत भावना ही प्रधान रही है। कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन और आध्यात्मिकता में वैयक्तिक उन्नति का तो चूडान्त उत्कर्ष हुआ है, किन्तु साथ ही सामूहिक उन्नति का पक्ष अत्यन्त दुर्बल है। इसी तरह से इसमें ऐहलौकिक दृष्टि की अपेक्षा पारलौकिक दृष्टि का प्राबल्य हो गया है। साधारण भारतीय की यह दृढ़-मूल धारणा है कि संसार अवनति की ओर तेजी से बढ़ रहा है। इसको रोका नहीं जा सकता। कर्मवाद और भाग्यवाद उसको इसी ओर ढ़केलते हैं। उसका सारा पुरुषार्थ कलिकाल की अर्गला से अवरुद्ध है।

पारलौकिक दृष्टि के विषय में हमारे जैसे सामान्य चिन्तक कुछ कह सकने के अधिकारी नहीं हैं। महात्मा बुद्ध ने भी कुछ प्रश्नों को अव्याकरणीय माना था। ऐहलौकिक दृष्टि के सन्दर्भ में हम कुछ विचार कर सकते हैं और यह हुआ भी है। धर्मशास्त्रकारों ने कुछ विषयों में आगमशास्त्र और तन्त्रशास्त्र को श्रुति और स्मृति के समकक्ष मान्यता दी है। कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों में आचार (लोकव्यवहार) को बहुत महत्त्व दिया गया है। कलिवर्ज्य प्रकरण को दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया जा सकता है, जिसमें कि श्रुतियों और स्मृतियों की अनेक मान्यताएँ स्थगित कर दी गई हैं। इस स्थगन का कारण लोकमानस (लोकव्यवहार) ही है। "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्" इस सूक्ति में 'नाचरणीयरम्' पद की द्विरावृत्ति लोकव्यवहार के विरुद्ध आचरण का दृढ़ता से निषेध करती है।

आज दुनियाँ सिमट गई है। विभिन्न दृष्टियों और व्यवहारों में टकराव हो रहा है। यह निश्चित है कि इस टकराव में उत्कृष्ट तत्त्व ही बचे रहेंगे। दुनियाँ भारतीय तत्त्वज्ञान को आशाभरी दृष्टि से देखती है, किन्तु साथ ही भारतीय जीवन की विसंगतियों से उसे आश्चर्य भी होता है। यह कहा जा सकता है कि अपने ऐहलौकिक जीवन में समाज के प्रति और राष्ट्र के प्रति पाश्चात्त्य संस्कृति अधिक ईमानदार है। ''अजगर करे न चाकरी'', ''अपना मतलब गाँठने के लिये गधे को बाप बनाना'', ''समरथ को नहिं दोष गुसाईं'', ''स्वकार्यं साधयेद् धीमान् स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता'', ''आत्मार्थं पृथिवीं त्यजेत्''— जैसे वाक्य स्वस्थ सामाजिक विकास में सहायक नहीं हो सकते। पारलौकिक विधि-वाक्यों की परीक्षा शास्त्रीय पद्धति से की जाय, यह तो ठीक है, किन्तु ऐहलौकिक दृष्टि से सम्बद्ध प्रत्येक छन्दोबद्ध उक्ति को विधिवाक्य नहीं माना जाना चाहिये। इसके लिये तो हमें — ''पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्। सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते'' कालिदास की इस उक्ति का अनुसरण करना ही चाहिये। आज की दुनियाँ को भारतीय संस्कृति, दर्शन और धर्म के उदात्त तत्त्वों का अवदान दे पाने की स्थिति में अपने को रखने के लिये यह आवश्यक है कि पूरे भारतीय तत्त्वज्ञान की पृष्ठभूमि में ऐहलौकिक दृष्टि से भी व्यक्तिगत और समाजगत आचारों की परीक्षा की जाय।

भारत में दर्शन को बुद्धि का विलासमात्र कभी नहीं माना गया। इतना अवश्य है कि इसमें पारलौकिक दृष्टि से व्यक्तिगत उन्नति पर अधिक जोर दिया गया है। ''कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'' जैसे वाक्यों में प्राणी मात्र की दुःख से निवृत्ति की कामना की गई है, किन्तु इसमें भी व्यक्तिगत दृष्टि ही काम कर रही है। सत्ययुग में होने वाले ऐहलौकिक विकास को हमने भगवान् काल के सुपुर्द कर दिया है। इसके विपरीत ''स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा'' सरीखे आगमिक एवं तान्त्रिक दर्शन के प्रतिपादक वाक्यों के सहारे अपने में विश्वाहन्ता का विकास कर अरविन्द जैसे महायोगी इसी धरती पर दिव्य मानवता के अवतार की बात करते हैं और महामनीषी श्रद्धेयचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज महोदय अखण्ड महायोग के माध्यम से इस स्थिति को लाना चाहते हैं।

जब हम भारतीय चिन्तन-धारा में नये दर्शनों की संभावनाओं पर विचार करते हैं, तो उस समय हमें यह ध्यान में रखना होगा कि यह केवल बुद्धिविलास के लिये न होकर ऐहलौकिक दृष्टि से समस्त मानवता के कल्याण के लक्ष्य को अपने सामने रखें। एक अखण्ड विश्वसंस्कृति का विकास इसका प्रधान उद्देश्य होना चाहिये।

ऐहलौकिक सामूहिक मुक्ति, अर्थात् समग्र मानवता के ऐहलौकिक कल्याण के लिये भारतीय दर्शन में नूतन दृष्टि का उन्मेष होने में हमें प्राचीन विचार-धाराओं के साथ भी किसी टकराव की आशंका नहीं मालूम पड़ती। ऐसा करके ही हम व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामूहिक उन्नतिं की भावना की, पारलौकिक उपलब्धि के साथ ऐहलौकिक नैतिकता की, सीमित रूप

में ही सही, ह्रासवाद के स्थान पर विकासवाद और भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषकारवाद की भारतीय जनमानस में प्रतिष्ठा करा सकते हैं। ऐसा करते समय हमें ऐहलौकिक सामूहिक दृष्टि का विकास करने के लिये आधुनिक दृष्टि से सहायता लेने में परहेज नहीं करना चाहिये। वराहमिहिर की यह उक्ति इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है — "वृद्धा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्"। दर्शन की नूतन धाराओं की सार्थकता इसीमें है। तभी हम समस्त मानवीय विचारों में समन्वय स्थापित कर एक अखण्ड विश्वसंस्कृति के निर्माण को साकार रूप देकर समग्र मानवता का कल्याण कर सकते हैं ।।

नयी स्थापनाओं की आधारभूमि

तमिलनाडु और महाराष्ट्र के भूतपूर्व राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश जी चतुर राजनीतिज्ञ एवं गंभीर विचारक थे। उनका कहना था कि निकट भविष्य में हिन्दु जाति और संस्कृति की वही दशा हो जायगी, जोकि कभी मिस्र, यूनान, रोम और पारसीक देश तथा वहाँ की संस्कृति की हुई। इस सामयिक और गंभीर चेतावनी की ओर भारतीय मनीषीवर्ग और आस्तिक जनता को अविलम्ब ध्यान देना चाहिये। जिस जाति (धर्म) ने परतन्त्रता काल के संघर्षमय एक हजार वर्षों में अपने को नहीं मिटने दिया, उसके सामने आज विषम परिस्थिति उपस्थित है। अहंकार अथवा प्रमादवश इसको टाल देने का अब समय नहीं रह गया है। साहस और बुद्धिमत्ता के साथ इसका अविलम्ब सामना किया जाना चाहिये।

भारतीय राष्ट्रीयता आज विघटन की ओर बढ़ रही है। देश में धर्मनिरपेक्ष जनतन्त्र प्रणाली का शासन है। किन्तु समाज धर्म, जाति, भाषा और प्रान्तीयता आदि की भाँति-भाँति की व्याधियों से ग्रस्त हैं। भारतीय राष्ट्रीयता और संस्कृति का न तो विकास हो रहा है और न इस ओर कोई ध्यान ही दे रहा है। जनतन्त्र में बहुमत का महत्त्व है। विभिन्न मतवादों के आधार पर संघटित राजनीतिक दल आज अपना बहुमत बनाने के चक्कर में राष्ट्रीयता अथवा संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों की भी उपेक्षा करने में संकोच का अनुभव नहीं करते। इसी देश का एक अंग अब पाकिस्तान के नाम से इससे अलग होकर हिन्दु राष्ट्र को चुनौती देता है और इसे आत्मसात् करने के लिये मोहम्मद गौरी के आक्रमणों से प्रेरणा ले रहा है। वहाँ के शासकों का यह दृढ़ विश्वास है कि भारत की विविधता तथा फूट के कारण कभी न कभी हम अवश्य ही पूरे देश पर अपना वर्चस्व उसी प्रकार स्थापित करने में समर्थ होंगे, जैसे कि एक हजार वर्ष पूर्व इस्लाम के अनुयायियों ने इस देश पर किया था। पाकिस्तान से सहानुभूति रखने वालों की भी संख्या यहाँ कम नहीं है। कुछ ऐसे भी दल हैं, जोकि रूस अथवा चीन से आदेश प्राप्त करते हैं। अंग्रेजी भाषा और संस्कृति एवं

अंग्रेजियत के साथ अमेरिकन पद्धति का अनुकरण करने वालों का एक बड़ा वर्ग यहाँ अभी भी कार्यरत है। यह है देश की आज आशंकाओं से भरी भयावह परिस्थिति। विघटनकारी प्रवृत्तियाँ तीव्रता से कार्यरत हैं। हमारी दृष्टि में आज की दूषित राजनीति में इसका कोई समाधान नहीं मिल सकता। इस समस्या के समाधान के लिये हमें सांस्कृतिक धरातल पर ही आगे बढ़ना होगा।

हिन्दु, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि धर्म तो इसी धरा की उपज हैं। ईसामसीह की मृत्यु के बाद प्राचीन यहूदी-धर्म के अनुयायियों ने यहाँ शरण ली थी। वैदिक धर्म के सहोदर जरथुष्ट्र धर्म के अनुयायी इस्लाम से प्रताड़ित होकर यहाँ शरण लेने आये। पारसियों का बहुत बड़ा समुदाय आज भी उसी प्रकार अपने धर्म और संस्कृति का पालन करता आ रहा है, जैसे कि कभी वह अपने मूल देश ईरान में करता था। आज ईरान इस्लामी धर्म से पूरी तरह आक्रान्त है, किन्तु भारत में वहाँ का प्राचीन धर्म, साहित्य और उसके अनुयायी पूरी तरह सुरक्षित हैं। यूरोपियन आक्रान्ताओं के साथ ख्रीष्ट धर्म यहाँ आया, यह तो हाल की बात है। शताब्दियों पूर्व भी विजातीय व्यक्तियों से प्रताड़ित होकर ख्रीष्ट मत यहाँ आया था और केरल में आज भी उस सम्प्रदाय के अनुयायी शान्तिपूर्वक निवास कर रहे हैं। चीनी तानाशाहों से पराभूत होकर तिब्बती जन और वहाँ की संस्कृति यहाँ स्वतन्त्र रूप से फल-फूल रही है, यह घटना तो अभी हाल की ही है। इनके अतिरिक्त विजेता के धर्म के रूप में कभी यहाँ इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म का प्रवेश हुआ था। इस प्रकार यह पूरा देश विविध धर्मों और संस्कृतियों का एक अजायबघर सा हो गया है। इतिहास के आरम्भ काल से ही यह राष्ट्र सही अर्थों में 'सेक्युलर' रहा है। इसीलिये यहाँ विभिन्न विचारधाराओं का समय-समय पर संरक्षण और संगमन होता रहा। इसके मूल में कौन-सी सत्प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं, इस पर हमको गंभीरता से विचार करना चाहिये। इसी में आज की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक समस्याओं का समाधान खोजा जा सकता है।

हमारे मत से यह राष्ट्र त्याग, तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय के चार मजबूत पायों पर इतिहास के आरम्भिक काल से ही खड़ा हो गया था। यदि आज भारत राष्ट्र और भारतीय संस्कृति को जीवित रखना है, तो इन्हीं मूल मान्यताओं के आधार पर नवीन स्थापनाएँ करनी होगी। पुरातन और नूतन के युक्तियुक्त समन्वय से ही हम आज की समस्याओं का समाधान कर सकते हैं, एक सर्वांगपूर्ण भारतीय संस्कृति की नींव डाल सकते हैं।

भारत को एक सुदृढ़ और सबल राष्ट्र बनाने के लिये आज इसमें बसने वाले धर्मों और वर्गों के अनुयायियों में सहिष्णुता और समन्वय की भावना की नितान्त आवश्यकता है। हिन्दु जाति में ये गुण जन्म-जात हैं। किन्तु आजकल धर्मों और वर्गों में असहिष्णुता बढ़ रही है। समन्वय के स्थान पर अलग-अलग धर्म और वर्ग अपनी वरीयता स्थापित करने में लगे हैं। तथाकथित प्रगतिशील वर्ग और बौद्ध धर्म के अनुयायी समन्वय के आधार

पर स्थापित हो सकने वाली भारतीय संस्कृति का मखोल उड़ाते हैं। उनके मत से बौद्ध धर्म के आधार पर ही नवीन भारतीय संस्कृति का निर्माण हो सकता है। इसके लिये वे कार्यरत भी हैं। इस प्रकार के लोगों को भारतीय संस्कृति से अधिक विश्व-संस्कृति की चिन्ता है।

विश्व-संस्कृति और एक ही दुनियाँ की भावना अच्छी है। अमेरिका के स्वर्गीय राष्ट्रपति रुजवेल्ट के भ्रमणशील दूत 'वेंडेल विल्की' ने एक पुस्तक लिखी थी 'वन वर्ल्ड' (एक ही दुनियाँ)। संयुक्त राष्ट्रसंघ भी वर्षों से इस ओर कार्यरत है। भारतीय शास्त्र भी कहते हैं— ''वसुधैव कुटुम्बकम्''। किन्तु आज की दुनियाँ के लिये ये कोरे आदर्श-वाक्य हैं। आज पूरा विश्व विभिन्न गुटों में बँटा हुआ है। एक गुट दूसरे को निगल जाना चाहता है। ऐसी परिस्थिति में अन्तरराष्ट्रीयता का व्यामोह क्या हमें मिटा नहीं देगा?

सभी छोटे बड़े राष्ट्रों में आज राष्ट्रीयता का जोर है। बड़े सबल राष्ट्र छोटे निर्बल राष्ट्रों को निगल जाना चाहते हैं। रूस, चीन और अमेरिका आज अपनी-अपनी पद्धति से पूरी दुनियाँ को अपने अधीन करने में लगे हैं। इस संघर्षशील विश्व में यदि एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में हमें जीवित रहना है, तो एक राष्ट्रीयता और संस्कृति का विकास करना ही होगा। बाहरी राष्ट्रों से ही नहीं, इसके अभाव में हमें भीतरी संघर्ष का भय भी बना रहेगा।

आज विभिन्न वर्ग और समुदाय अपना संख्याबल बढ़ाने में संलग्न हैं। संतति-नियमन के कार्यक्रम को एक वर्ग अपने धर्म के विरुद्ध समझता है। असम, बिहार, मध्यप्रदेश आदि राज्यों की जनजातियों में सेवाकार्य के बहाने ईसाई मिशनरियाँ धर्म परिवर्तन में लगी हुई हैं। 'नागालैण्ड' नाम आज हमको किस दिशा की ओर संकेत कर रहा है? ईसाई मिशनरियों के समान ही कभी भारतीय प्रबुद्ध वर्ग भारतीय संस्कृति, धर्म और सभ्यता के शान्तिपूर्ण प्रसार के लिये बाहर निकला था। आज वह अपने में ही सिमट रहा है। हिन्दु धर्म से निकलने के लिये आज अनेक मार्ग हैं, किन्तु उसमें प्रवेश के सभी द्वार बन्द कर दिये गये हैं।

जो भी हिन्दुस्तान का नागरिक हो और इस देश के प्रति मातृ-भूमि जैसी निष्ठा रखता हो, वह हिन्दु है, अथवा जो कोई मनुष्य सच्चे हृदय से अपने को हिन्दु मानता हो, वह अपने ढंग से हिन्दु समाज में रह सकता है, यह एक समयानुकूल उचित दृष्टिकोण है। इसके साथ ही हमें यह सोचना है कि हिन्दु-समाज का ही अंग, असवर्ण नाम से कहा जाने वाला वर्ग आज हमारे साथ क्यों नहीं रहना चाहता? पारसियों के धर्म-ग्रन्थ 'जेन्दावेस्ता' की इस गाथा को आप देखिये —

हाबनिम् आ रतुम् आ हओमो उपैत् जरथुश्ट्रम् ।
आत्रम् पइरि-यओजदधन्तम् गाथास् च स्रावयन्तम् ।।
आ दिम् परसत् (जरथुश्ट्रो) को नर अहि ।
यिम् अज्ञम् वोस्पहे अन्धमुस् अस्त्वतो स्त्रारशम् दादरस ।।

थोड़े से वर्णों में नियमबद्ध परिवर्तन कर देने से इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार बनती है —

सवनिम् आ ऋतुम् आ सोम उपैत् जरथुष्ट्रम् ।
अत्रिं परि-योस्-दधन्तं गाथाश्च श्रावयन्तम् ।।
आ तं पृच्छत् (जरथुष्ट्रः) को नर असि ।
यमहं विश्वस्य असोः अस्थिवतः श्रेष्ठं ददर्श ।।

इसकी ऋग्वेद की भाषा से आप तुलना कीजिये। हमारी सहोदर संस्कृति के अनुयायी ये पारसीक जन आज यहाँ पर हमारी अपेक्षा, जिन्होंने कि इनके धर्म और संस्कृति को आज तक सुरक्षित रहने दिया, इस्लाम के साथ, जिनके अनुयायियों ने इनके धर्म और संस्कृति को मूलदेश से निष्कासित कर दिया, क्यों नजदीकीपन का अनुभव कर रहे हैं? हममें से बहुत से लोग तो इनको मुसलमानों का एक वर्गविशेष ही मानते हैं। भारत और पाकिस्तान के मुसलमानों में भी हमारे पुरखों का ही तो रक्त प्रवाहित हो रहा है। आज भाई-भाई का मिलन क्यों नहीं हो रहा है। हिन्दु धर्म से बाहर गया कोई भी व्यक्ति आज वापस आने को तैयार नहीं है। प्रत्युत स्वतन्त्र भारत में भी निकलने अथवा निकाल ले जाने के इस दुश्चक्र पर कोई अंकुश नहीं लगाया जा सका। ऐसा क्यों? हमको सच्चे मन से आत्म-निरीक्षण करना होगा। इस सम्बन्ध में दूसरे को दोष देना आत्म-प्रवंचना मात्र होगी। उपनिषद् में ठीक ही कहा है — "अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः"। आत्म-प्रवंचना एक प्रकार की आत्महत्या ही है।

हिन्दु शब्द की उक्त परिभाषा की चरितार्थता के लिये हिन्दु धर्म को अपनी संकीर्णता का त्याग करना पड़ेगा, ऋषि-मुनियों के प्राचीन त्याग और तपस्या के मार्ग का एक बार फिर पूरी सच्चाई के साथ वरण करना पड़ेगा।

हिन्दु धर्म की शौच, आचार, खान-पान की जटिल पद्धति का पालन कर पाना साधारण जन के लिये कठिन होता जा रहा है। एक तरफ वह अन्य धर्मों के धार्मिक क्रियाकाण्ड की सरलता को देखता है, तो दूसरी ओर अपने धर्माचार्यों को देखता है कि उनकी कथनी और करनो में अन्तर है। दिग्भ्रान्त हो वह भटक जाता है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" अथवा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" आज केवल पोथी की वस्तु रह गयी है। "कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव" इस आभाणक के रचयिता ने एक कटु-सत्य का उन्मीलन किया है। आज अपने गले में नोटों की माला पड़ी देख संन्यासी पुलकित हो उठता है। पद-यात्रा और दो या तीन दिन से अधिक एक स्थान पर टिक कर न रहने के नियम का पालन अल्पमात्रा में आज केवल जैन मुनियों में ही देखने को मिलता है। मठाधीश, मन्दिराधीश, मण्डलेश्वर और महामण्डलेश्वरों का वैभव संन्यासी शब्द का उपहास करता प्रतीत होता है। संन्यासी के सामने आज "पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्यं चरन्ति"

यह उपनिषत् का आदर्श कहाँ है? वित्तैषणा और लोकैषणा तो आज गृहस्थ से अधिक संन्यासी के मन में पैठ गयी है।

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ।।

मनुस्मृति के इस उपदेश के अनुसार पाशुपताचार्यों ने अपमान का आह्वान करने के लिए क्राथन, स्पन्दन, मन्दन और शृंगारण का विधान किया था, आज लोकैषणा और वित्तैषणा की पूर्ति के लिये ही सब कुछ किया जा रहा है। ब्राह्मण और संन्यासी बिना पैसा लिये आज न तो प्रवचन ही करना चाहता है और न कुछ लिखना ही चाहता है, जो कभी उसके कर्तव्यकोटि में आते थे। त्याग और तपस्यामय जीवन की जिनसे सबसे अधिक आशा की जाती है, आज उससे वे बहुत दूर होते जा रहे हैं। आत्म-निरीक्षण की भावना मर गयी है। किसी सूक्तिकार ने ठीक ही कहा है— "अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः"। जब तक हममें निजी दोष-दर्शन अथवा दोष-श्रवण की भावना न आवेगी, तब तक नवीन मान्यताओं की स्थापना कैसे संभव होगी?

यह प्रसन्नता की बात है कि भारत साधु समाज का गठन धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में न होकर समाज-सेवा के संस्थान के रूप में हो रहा है। समाजसेवा के लिये आज हमें नागाप्रदेश जैसे सीमावर्ती दुर्गम स्थलों में और भारतवर्ष भर में बिखरी हुई विदेशियों के द्वारा पथभ्रष्ट की जा रही जन-जातियों में जल्दी-से-जल्दी जाने की जरूरत है। उनमें भारतीय सभ्यता और संस्कृति का गौरव भरने का यही समय है। राजनीति का एक ही झोंका सवर्ण और असवर्ण की शब्दावली से विभक्त किये गये हिन्दु-समाज की नाजुक कड़ियों को कभी भी तोड़ सकता है। हमको अब उन्हें भी गले लगाना है, जो कि परिस्थिति अथवा बाध्यतावश हमसे बिछुड़ गये हैं। सभी धर्मों में विचार के धरातल पर समानताएँ हैं। उनका सूक्ष्म निरीक्षण करके हमें एक समान जीवन-पद्धति का उसी प्रकार विकास करना पड़ेगा, जैसा कि भगवान् शंकराचार्य ने स्मार्त-धर्म के रूप में वैदिक और अवैदिक धर्मों का समन्वय किया था।

लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय मावलंकर ने काशी की एक जनसभा में कहा था कि काशी विश्वनाथ के ज्ञानवापी के कूप में कूद पड़ने की कल्पना परतन्त्रताकाल की ही उपज हो सकती है। ज्योतिर्लिंग में से अथवा चन्द्रमण्डल से व्यक्तिविशेष के स्पर्शमात्र से देवत्व के निकल जाने की कल्पना उसी मनोवृत्ति की ओर इंगित करती है। यह प्रसन्नता की बात है कि आज का साधारण भारतीय नागरिक इसको मानने को तैयार नहीं है। स्वयं जो इन आस्थाओं से अभिभूत हैं, वे भी उससे आर्थिक लाभ तो उठाते हैं, किन्तु त्याग या कष्ट सहन की जब घड़ियाँ आती हैं, तो वे पीछे के दरवाजे से निकल भागते हैं।

कुछ त्यागी जन आज की समस्याओं का समाधान राजनीति में खोजते हैं, किन्तु वर्षों के कटु अनुभवों ने उनको बता दिया होगा कि इस मार्ग के उनके सच्चे अनुयायियों

की संख्या अत्यन्त ही सीमित है। चन्द्र-सूर्य-ग्रहण, कुम्भ आदि पर्वों पर लाखों की संख्या में एकत्र होने वाली और धार्मिक प्रवचनों में हजारों की संख्या में जुटने वाली श्रद्धालु जनता आज राजनीति में धर्माचार्यों का साथ क्यों नहीं दे रही है? इसका कारण उनको जनता में न खोजकर अपने में ही खोजना चाहिये।

हमारे मत से यदि हमको हिन्दु-धर्म के प्राचीन स्वरूप को भी बचाना है, तो व्यक्तिगत धर्म और सामूहिक धर्म के बीच स्पष्ट सीमा-रेखा खींचनी होगी। सामूहिक धर्म के लिये, आज की परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में नवीन मान्यताओं की स्थापना करनी पड़ेगी। धर्मों के बीच सहिष्णुता और समन्वय के माध्यम से यह हो सकता है। हिन्दु-धर्माचार्य लोकैषणा और वित्तैषणा से दूर त्याग और तपस्या के सार्वभौम सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए सांस्कृतिक धरातल पर नवीन सार्वभौम मान्यताओं की स्थापना का त्वरित यत्न नहीं करेंगे, तो हिन्दु जाति और भारतीय राष्ट्र का भविष्य अन्धकारमय हो जायगा। समन्वयाचार्य भगवान् श्रीकृष्ण समय रहते हममें नूतन आशा और कल्पना-शक्ति का संचार करें ।।

●

हिन्दूकरण नहीं, भारतीयकरण

संस्कृत में एक आभाणक प्रसिद्ध है — ''विप्राः पश्चिमबुद्धयः''। इसका सीधा सादा अर्थ है कि ब्राह्मणों को किसी समस्या का समाधान तब सूझता है, जबकि उस समाधान की कोई उपयोगिता ही नहीं रह जाती। हिन्दूकरण की आवाज जब कश्मीर अथवा मेव क्षेत्र से उठी थी, तो काशी के पण्डितों ने उसका विरोध किया और आज जब इस प्रकार की कोई समस्या नहीं है, तो उसके समाधान की चर्चा उठ रही है। आज वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था में बंधे हुए हिन्दु समाज का वह अमृतरससिंचक स्रोत सूख गया है, जिससे कि अनुप्राणित होकर पूर्व काल के अनेक मानव वंश इसमें समाविष्ट हुए थे। समता और भ्रातृत्व के इस युग में हिन्दु धर्माचार्यों के द्वारा प्रतिपादित हिन्दूकरण प्रक्रिया में अन्य धर्मावलम्बी आज क्यों आना चाहेंगे। अस्पृश्यता की शास्त्रानुमोदितता का विवाद उठाकर हिन्दु धर्माचार्य आज उनको भी बाहर ढकेल ले जाने के लिये तथाकथित राजनीतिज्ञों को अवसर दे रहे हैं। भारतीय संस्कृति की सन्तधारा से प्रभावित होकर ही ये अभी तक हिन्दु समाज के अंग बने हुए हैं। हिन्दु समाज के इस अंग को काटकर अलग कर देने के अंग्रेजों के निकृष्ट प्रयत्न को निष्फल कर देने के लिये महात्मा गांधी को अपने प्राणों की बाजी लगानी पड़ी, किन्तु आज उनके तथाकथित अनुयायी अस्पृश्यता का विवाद खड़ा होने पर सवर्णों को धमकी देते हैं। उस धमकी का सीधा अर्थ है कि उनकी मंशा हरिजन समुदाय को बौद्ध बना देने की है।

इस प्रकार का दुष्प्रयत्न स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद एक बार किया गया था, किन्तु तत्कालीन गृहमन्त्री पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त के दृढ़ निश्चय से उसको समय रहते रोका जा सका। हरिजन समस्या का समाधान उनके बौद्ध बना देने मात्र से नहीं हो जायगा। इस धर्मनिरपेक्ष राज्य में सशक्त राजनीतिज्ञ किसी एक धर्म की ओर यदि अधिक आग्रहशील हो जायेंगे, तो उससे नवीन जटिल समस्याएँ उठ खड़ी होंगी।

भारतीय संस्कृति के अन्दर हिन्दूकरण की प्रक्रिया सफल नहीं हो सकती, ऐसी कोई बात नहीं है। भारतीय संस्कृति की तान्त्रिक धारा एवं तदनुप्राणित सन्त धारा में मानवमात्र को समान अधिकार प्राप्त है। इस धारा में बाह्य और आन्तर भेद से विकसित योग-प्रधान और कर्मकाण्ड-प्रधान उपासनाविधि का शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध और जैन धर्म में समान विकास हुआ है। उपास्य के भेद से इस उपासना पद्धति का और भी विकास किया जा सकता है। ऋषि-मुनियों की त्याग और तपस्या की उत्कृष्ट उपासना पद्धति से लेकर आजकल के हिप्पियों को भी आकृष्ट करने वाली विधि का मानव के मानसिक स्तर के अनुसार इसमें विकास हुआ है। ये सभी पद्धतियाँ आत्मप्रवण हैं। किन्तु प्रतीत होता है कि हिन्दु धर्माचार्यों की मन:स्थिति इसके लिये अभी तैयार नहीं है। जिस स्थिति के लिये वे तैयार हैं, उसमें हिन्दूकरण की नहीं, भारतीयकरण की प्रक्रिया सम्पन्न हो सकती है। भारतीय प्रजातन्त्र और विश्वशान्ति के विकास के लिये भी हिन्दूकरण की अपेक्षा भारतीयकरण की प्रक्रिया अधिक श्रेयस्कर है।

भारतीयकरण की प्रक्रिया के लिये इतना ही पर्याप्त है कि यहाँ रहने वाले सभी धर्मों, वर्गों और जनजातियों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति परस्पर सहिष्णु बन जाँय, एक दूसरे को निगल जाने की चेष्टा न करें। इस प्रक्रिया को सम्पन्न कर सकने में हिन्दु धर्माचार्य सबसे आगे हैं। जीओ और जीने दो के सिद्धान्त के आधार पर वे अपना संकीर्ण घेरा बनाकर उसमें सुख से रह रहे हैं। उनकी मनोवृत्ति है — हम किसी को नहीं छेड़ते, हमको भी कोई न छेड़े। सहिष्णुता इनका स्वाभाविक गुण है। "त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचरा:" अर्थात् वेदों की रचना भाड़ों, धूर्तों और राक्षसों ने मिलकर की है, कहने वाले चार्वाक दर्शन को वे देवगुरु बृहस्पति द्वारा प्रणीत मानते हैं और भारतीय दर्शनशास्त्र में इसका भी अध्ययन अब तक चालू है। *क्या भारत में विद्यमान अन्य धर्मों के अनुयायियों में तथा आजकल के प्रगतिशील कहे जाने वाले राजनीतिज्ञों में भी इस भावना का विकास हुआ है? नहीं में इसका उत्तर मिलेगा।* अन्य सम्प्रदायों में जब तक इस सहिष्णुता की भावना का विकास नहीं होता, तब तक हिन्दु धर्माचार्यों के बनाये घेरे को भी तोड़ने का प्रयत्न न किया जाय तो श्रेयस्कर होगा। विगत एक हजार वर्षों के परतन्त्रता काल में भारतीय संस्कृति की उत्कृष्ट निधियों का संरक्षण इसी घेरे ने अपने प्राणों की भी आहुति चढ़ाकर किया है। इस अतिकष्टदायिनी लम्बी यात्रा से थके इस सम्प्रदाय को थोड़ा विश्राम कर लेने का अवसर मिलना चाहिये।

ब्रह्मसूत्रकार आचार्य बादरायण ने तर्क के अप्रतिष्ठित होने के कारण शास्त्र, अर्थात् शब्द-प्रमाण की शरण लेने का उपदेश दिया है। आज के साम्यवादी समुदाय में भी तर्क की अपेक्षा कम्युनिस्ट साहित्य (शब्द) में गहरी श्रद्धा देखने को मिलती है। प्राय: सम्पूर्ण मानवता पर प्रत्यक्ष और अनुमान की अपेक्षा शब्द (शास्त्र) का अधिक गहरा प्रभाव है, किन्तु भारत में तर्कमूल प्रज्ञा के विकास में शब्द कभी बाधक नहीं बना। इन्द्र, वरुण, नासत्य आदि वैदिक देवताओं का स्थान आज की हिन्दु उपासनापद्धति में गौण हो गया है। उपनिषदों में यज्ञों की कमजोर, जीर्ण-शीर्ण नाव से तुलना की गयी है। तर्क के समान ही भारतीय शब्दप्रमाण भी सदा गतिशील रहा है। धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों में भी सदा तर्क का सहारा लिया गया है। बौद्ध धर्म की संगीतियों तथा नैमिषारण्य के द्वादश वार्षिक सत्रों में धर्म के नवीन स्वरूप की परिकल्पना साकार होती रही है। प्रज्ञा का यह प्रवाह आज श्रद्धा के हिमश्रथ (ग्लेशियर) से अवरुद्ध हो गया है। इसका कारण हमें इसीमें खोजना है।

भारत में त्याग और तपस्या का महत्त्व सदा सर्वोपरि रहा है। यहाँ के गृहस्थ के लिये भी धर्मशास्त्रों में उञ्छशिल और अयाचित वृत्ति का विधान है। कालान्तर में यहाँ मठीय संस्था का विकास हुआ। यह हिन्दु धर्म को बौद्ध संस्कृति की देन है। प्रारम्भ में इस संस्था ने कला और दर्शन के क्षेत्र में आश्चर्यजनक कार्य किया, किन्तु कालान्तर में इसमें जिन दोषों ने प्रवेश किया, वे ही हिन्दु मठ-संस्था को विरासत में मिले।

इसी के कारण भारतीय भक्तिधारा में शृंगार का अत्यधिक प्रवेश हुआ। गुजरात के सम्प्रदाय- विशेष में नववधू को प्रारम्भ में आचार्य को समर्पित करने की प्रथा अभी हाल तक प्रचलित रही। भक्तिधारा की यह चरम दुष्परिणति थी। त्याग और तपस्या के मार्ग को छोड़कर मठीय ऐश्वर्य के मायाजाल में पड़ जाने पर और हो भी क्या सकता था?

हिन्दु धर्माचार्य आज भगवान् श्रीकृष्ण के गोकुल-वृन्दावन के रूप पर मुग्ध हैं। रामायण के मर्यादा पुरुषोत्तम और महाभारत के राजनायक श्रीकृष्ण को ये लोग भूल गये हैं। रामभक्ति के रसिक सम्प्रदाय ने जगज्जननी सीता और मर्यादा पुरुषोत्तम राम को भी रसिक शिरोमणि राधा-कृष्ण की कोटि में ला बैठाया है। वास्तव में इसके माध्यम से हिन्दु धर्म में भी उन्हीं तत्त्वों का विकास हुआ है, जो कि बौद्ध धर्म के पतन के कारण हुए। भक्तिधारा में इस शाखा का अधिकारी विशिष्ट गुणसम्पन्न व्यक्तिविशेष ही माना गया है, साधारण जन नहीं। आज हिन्दु धर्म में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के लोकमंगलकारी और लोकनायक कृष्ण के जटिल समस्याओं के समाधान में संलग्न नेतृत्व के गुणों के विकास की आवश्यकता है।

हिन्दु धर्माचार्य त्याग और तपस्या के मार्ग का पुन: अवलम्बन कर जब मर्यादा पुरुषोत्तम राम और लोकनायक श्रीकृष्ण के चरित से प्रेरणा प्राप्त करने लगेंगे और भारतीयकरण की प्रक्रिया की सम्पूर्ण क्रियान्विति में भारतीय राजनीतिज्ञ बाधक न बनकर इसका कंटकाकीर्ण पथ प्रशस्त करने में लग जायेंगे, तो कभी वह समय भी आ सकता है कि हिन्दूकरण की

प्रक्रिया के द्वार भी सबके लिये खुल जाँय। किसी को जोर-जबरदस्ती खींचकर ले आने का तो यहाँ प्रश्न ही नहीं है, यहाँ इतना अवश्य अपेक्षित है कि यदि कोई स्वेच्छया इसमें आना चाहे, तो उसको यहाँ पर संमानपूर्ण स्थान प्राप्त हो।

हिन्दूकरण की प्रक्रिया में किसी को प्रवेश की प्रेरणा तभी मिल सकती है, जब कि इसके सभी अंग इसी में रहते हुए ससंमान जीवन व्यतीत कर सकें। इस प्रकार की भावना जनता में जग गयी है। सम्पूर्ण भारतीय जनता की तो बात दूर, हिन्दु जनता भी हिन्दु धर्माचार्यों से दूर होती जा रही है। चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, कुम्भ आदि पर्वों के अवसर पर लाखों की संख्या में जुटने वाली हिन्दू जनता ने आज धर्माचार्यों का अनुसरण करना छोड़ दिया है। धर्माचार्य आगे नहीं आ रहे हैं, इसलिये वह स्वयं नवीन धर्म, अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण में जुट गई हैं। इसके बहक जाने की आशंका है। प्रबुद्ध धर्माचार्यों को आगे आकर नवीन भारतीय धर्म और संस्कृति के निर्माण में जनता का पथ-प्रदर्शन करना चाहिये ॥

●

यह भारतीयकरण क्या है ?

भारतीयकरण विशुद्ध सांस्कृतिक प्रश्न है। यह देश का दुर्भाग्य ही समझा जायगा कि स्वतन्त्रता प्राप्ति की लम्बी अवधि बीत जाने पर भी हम आज तक न तो भारतीय राष्ट्रीयता का ही विकास कर पाये हैं और न एक भारतीय संस्कृति का ही। देश का नवनिर्माण गांधीवाद के विपरीत भौतिकवादी पाश्चात्त्य संस्कृति के आधार पर हो रहा है। मानसिक संस्कार पर बिना ध्यान दिये देश भौतिक उपलब्धियों की मृगतृष्णा के पीछे अन्धाधुन्ध दौड़ रहा है। देश की जनता की मानसिक संस्कार की प्राथमिक आवश्यकता को छोड़ हम आज रोजी-रोटी के संघर्ष में पड़े हैं। गांधी के देश में गांधीवाद को तिरस्कृत कर मार्क्सवाद अपनाया जा रहा है। एक ओर भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक उपलब्धियों को हम भूलते जा रहे हैं, दूसरी ओर पाश्चात्त्य संस्कृति में स्थापित नैतिक मूल्यों को भी ग्रहण नहीं कर पाये हैं। *हम भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था को तो कोसते हैं, किन्तु उसके स्थान पर व्यक्तिवाद, जातिवाद, वर्गवाद, राज्यवाद और भाषावाद आदि की न मालूम कितनी घृणित व्याधियों से घिरते जा रहे हैं।* प्रसिद्ध भारतीय विचारक मनीषिप्रवर स्वर्गीय सम्पूर्णानन्द जी ने देश में भावात्मक एकता के लिये जोर दिया था, किन्तु उनकी आवाज़ अनसुनी कर दी गयी और आज प्रकारान्तर से कही गई भारतीयकरण की प्रक्रिया पर आक्रोश प्रकट किया जा रहा है। भारतीयकरण प्रक्रिया का अन्तिम लक्ष्य भारतीय जनमानस में भावात्मक एकता की स्थापना ही हो सकता है। इसमें विरोध की गुंजाइश ही कहाँ है।

संस्कृत में एक सुभाषित है —"बालादपि सुभाषितम्"। अर्थात् अच्छी बात बालक की भी माननी चाहिये। इसके विपरीत भारतीय राजनीति में हम आज देख रहे हैं कि बिना किसी की अच्छाई-बुराई का विचार किये विभिन्न राजनीतिक दल आँख मूँदकर दूसरे दल के कार्यक्रम और विचारों का विरोध करने मात्र में जनतन्त्र की सफलता समझ रहे हैं। भारतीय राजनीति की यह रिक्तता तब और भी खलती है, जबकि आज का बुद्धिजीवी वर्ग भी इस या उस दल से सम्बद्ध होकर उनका सर्वात्मना अनुगामी बन जाता है और अपने दल की कार्यपद्धति का समर्थन करने में रीतिकालीन कवियों की भाँति बुद्धि की कसरत करने लगता है। काँग्रेस के दो गुटों का संघर्ष हो या सनातनियों और आर्यसमाजियों का संघर्ष अथवा किसी प्रकार की और समस्या। बुद्धिजीवी वर्ग ही नहीं,समाचारपत्र भी गुणदोष का विचार न कर इस या उस पक्ष की ओर झुक जाते हैं। दलीय समाचारपत्रों से तो निष्पक्षता की कोई आशा ही नहीं रखी जा सकती, निर्दलीय कहे जाने वाले समाचार पत्र भी अपनी ढुलमुल नीति के कारण निर्भीकता से सही विचार व्यक्त करने में कतराते हैं। इनका साधारण पाठक यह निश्चय नहीं कर पाता कि क्या सही है और क्या गलत। *भारतीय राजनीतिज्ञों के साथ ही समाचारपत्रों से भी सत्यनिष्ठ स्पष्टवादिता मिटती जा रही है।*

भारतीयकरण प्रक्रिया से केवल मुसलमान, कम्युनिस्ट अथवा पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित व्यक्तियों को ही नहीं, हम सबको गुजरना है। इस प्रक्रिया में से उनको भी गुजरना है, जो कि अन्तराष्ट्रीयता के व्यामोह में पड़ भगवान् बुद्ध के प्रथम उपदेश-वाक्यों से पवित्र हुए स्थल सारनाथ में परमपावन दलाई लामा की अध्यक्षता में इकट्ठे हुए तथा मार्क्सवाद के चीनी संस्करण के द्वारा क्रूरतापूर्वक अपने मूल देश से निकाले गये तिब्बती जनों को, बौद्ध दर्शन की मार्क्सवाद से तुलना कर, भ्रम में डालना चाहते हैं। यह एक निर्माणाधीन व्यवस्था है, जिसकी ओर कि सभी राजनीतिक दलों, धार्मिक प्रतिनिधियों और बुद्धिजीवियों के संमिलित प्रयास से आगे बढ़ा जा सकता है। भारतीय जनमानस में भावात्मक एकता की स्थापना राजनीतिक विवाद से ऊपर उठकर की जानी चाहिये। भावात्मक एकता के पुराने आधार आज सूखी माला के फूलों के समान बिखर गये हैं। ताजा फूलों की नयी माला गूँथने का कार्य अब होना चाहिये। इसके लिये सबसे पहली आवश्यकता है कि देश में ईसाईकरण, इस्लामीकरण या हिन्दूकरण आदि की बात और क्रियाकलाप बन्द हों और भारतीय जनता के लिये भारतीयकरण प्रक्रिया के सर्वमान्य सिद्धान्त स्थिर किये जाँय। इस पवित्र कार्य में भी देश की आन्तरिक राजनीति अथवा बाह्य निहित स्वार्थी वर्ग बाधक बनता है, तो यह देश का दुर्भाग्य ही समझा जायगा।

भावात्मक एकता की उपलब्धि के लिये भारतीयकरण की प्रक्रिया का मार्ग प्रशस्त करने का पहला काम हमारी दृष्टि में यह होना चाहिये कि हम दूसरे की आलोचना करना छोड़ दें और आत्मनिरीक्षण में लग जाँय। पुराणों और सन्त साहित्य के माध्यम से हमारे

पूर्वजों ने पूरे देश में भावात्मक एकता की स्थापना की थी। गांधीवाद हमको पुन: भावात्मक एकता की ओर ले जाता है। गांधीवाद की आध्यात्मिक उपलब्धियों के आधार पर यदि हम भारतीयकरण की प्रक्रिया को सम्पन्न करें, तो इसके माध्यम से पूरे देश में सांस्कृतिक एकता स्थापित हो सकती है ॥

वर्णाश्रम धर्म, दलित जातियाँ और धर्मपरिवर्तन

वैदिक काल में वैदिक धर्म का ढाँचा चार वर्ण और चार आश्रम की दृढ़ नींव पर खड़ा था। अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह (दाल लेना) का एकमात्र अधिकार ब्राह्मण को था। अध्ययन, यजन और दान क्षत्रिय और वैश्य भी कर सकते थे। स्त्री और शूद्र को यह अधिकार भी नहीं दिया गया था। कुछ वैदिक सूक्तों के द्रष्टा के रूप में अथवा ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् साहित्य में भूले-भटके स्त्री और शूद्र का भी उपदेष्टा अथवा द्रष्टा के रूप में उल्लेख मिल जाता है, किन्तु वह केवल अपवाद मात्र रहा है। कहा जा सकता है कि उस काल में पूरे समाज पर ब्राह्मण वर्ग का अप्रतिहत नियन्त्रण था और इस व्यवस्था के विरुद्ध किसी को कोई एतराज भी नहीं था।

चार वर्णों की भाँति चार आश्रम भी सामाजिक व्यवस्था के अभिन्न अंग थे और संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् इन चारों आश्रमों के नियामक ग्रन्थ थे। मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानकर प्रत्येक आश्रम की कालावधि २५ वर्ष की मानी गयी थी। उस काल की यह आदर्श सामाजिक व्यवस्था रही है और वाल्मीकि के ऐतिहासिक काव्य रामायण में इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। इसके विरोध अथवा आलोचना में वहाँ एक भी वाक्य नहीं मिलता।

इस व्यवस्था में विकृति आयी। हिंसाप्रधान वैदिक कर्मकाण्ड के माध्यम से समाज पर ब्राह्मण वर्ग के प्रभुत्व के विरोध में बुद्ध और महावीर ने तो आवाज बुलन्द की ही, इस कार्य को प्रशस्त किया उपनिषत्, सांख्य और योग-दर्शन ने, पांचरात्र तथा पाशुपत धर्म ने, जिनको कि आजकल वैष्णव और शैव धर्म के नाम से जाना जाता है। यद्यपि बौद्ध पालि-वाङ्मय तथा जैन प्राकृत-वाङ्मय में ब्राह्मण जाति की अपेक्षा क्षत्रिय जाति का वर्चस्व स्थापित करने का प्रयत्न हुआ है, तथापि बुद्ध का प्रधान शिष्य उपालि नापित था, जिसको कि बुद्ध के विनय संबन्धी उपदेशों को लिपिबद्ध कराने का श्रेय प्राप्त है। बौद्ध संघ में प्रवेश करने के बाद भिक्षु की ज्येष्ठता का आधार जाति या आयु न होकर संघ में प्रवेश का क्रम था। वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोध में यह पहला क्रान्तिकारी कदम था। इसके दूरगामी परिणाम निकले और वर्णाश्रम व्यवस्था की नींव हिल उठी।

चार वर्ण और चार आश्रमों के स्थान पर बौद्ध धर्म में 'भिक्षु' और 'श्रामणेर' तथा जैन धर्म में 'मुनि' और 'श्रावक' ये दो ही विभाग रह गये। वैष्णव और शैव धर्म ने भी इसी व्यवस्था को स्वीकार किया। इन धर्मों में दीक्षित हो जाने पर व्यक्ति की बौद्ध, जैन, वैष्णव या शैव एक ही जाति रह जाती थी। दीक्षित हो जाने पर पूर्व जाति का आग्रह या स्मरण करना भी पाप समझा जाता था। वैष्णव और शैव आगम तथा बौद्ध, शैव और शाक्त तन्त्र-ग्रन्थों में समान रूप से जाति के आग्रह को 'पाश' माना है। तन्त्रशास्त्र और अलंकार शास्त्र के प्रसिद्ध कश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में मुकुटसंहिता को स्मरण किया है। तन्त्रालोक की टीका में उद्धृत इस संहिता के इन दो श्लोकों को आप देखें —

द्विजोऽपि मायी त्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमायकः।
स प्रियस्तु महेशस्य चतुर्वेदो न दाम्भिकः ॥
ब्राह्मणेन कृतं पापं शूद्रेण सुकृतं कृतम् ।
किं तत्र कारणं जातिर्धर्माधर्मेषु शस्यते॥

भारतीय जातिवाद अथवा ब्राह्मणवाद की समालोचना में पाश्चात्त्य विद्वान्, मार्क्सवादी अथवा समाजवादी राजनेतागण और आधुनिक नव बौद्धों से बहुत पहले महेश्वरानन्द की महार्थमंजरी में तथा अन्य तन्त्र-ग्रन्थों में ही नहीं, महाभारत जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थ में भी बहुत कुछ लिखा गया है। परिणामस्वरूप समाज का नेतृत्व ब्राह्मणों से हट कर उक्त धर्मों के आचार्यों के हाथ में चला गया।

वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था में वृद्धावस्था में ही संन्यास का विधान था और पूरी सामाजिक व्यवस्था धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष— इस पुरुषार्थ-चतुष्टय की अवाप्ति के उद्देश्य से पूर्ण नियन्त्रित थी। उपनिषत्, रामायण, महाभारत तथा पुराण वाङ्मय ने उक्त व्यवस्था को बनाये रखने पर जोर दिया, जबकि इसके विपरीत उक्त सभी धर्मों ने संन्यासाश्रम की वय की सीमा को अमान्य कर दिया। "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" यह वाक्य बतलाता है कि उस समय तक वैदिक संस्कृति पर भी उक्त धार्मिक संस्कृति का वर्चस्व स्थापित हो चुका था। इस व्यवस्था ने आग में घी डालने का काम किया। मनुस्मृति की यह उक्ति गलत नहीं है — "घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्"। बौद्ध संघ तथा अन्यत्र भी स्त्रियों के अव्याहत प्रवेश के कारण ऐसे शास्त्र का आविर्भाव हुआ, जो कि भोग और मोक्ष दोनों का एक साथ विधान करता था। स्मृति काल में ब्रह्मचर्य की परिभाषा थी अष्टविध मैथुन का त्याग, अब "ओष्ठ्यान्त्यत्रितयासेवी" ब्रह्मचारी कहलाने लगा। इस अव्यवस्था को रोकने का प्रथम बार प्रयत्न किया आचार्य शंकर ने।

प्रस्थानत्रयी—उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र और गीता — के भाष्यों के माध्यम से प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था की पुनः प्रतिष्ठा का उन्होंने प्रयत्न किया सही, किन्तु वे भी समाज का

नेतृत्व उपनिषत् काल के त्यागी और तपस्वी गृहस्थ ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय को न सौंप सके। फलतः युवावस्था में संन्यासी बनने से जो विकृतियाँ अन्यत्र आयी थीं, उनका प्रवेश यहाँ भी रुक न सका। आचार्य शंकर की अपशूद्राधिकरण की व्याख्या इतिहास के क्रम को उलटने वाली शोचनीय घटना मानी जायगी। यहीं से भारत का सामाजिक इतिहास दो भागों में बँट जाता है।

यद्यपि सम्राट् अशोक के बाद शुंग काल में ब्राह्मणवाद की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयत्न हुआ था, तथापि इसके साथ ही मनुस्मृति के माध्यम से अनेक संकर जातियों को वर्णव्यवस्था के अन्तराल में समेटने के स्तुत्य प्रयत्न में कोई बाधा नहीं उपस्थित हुई और सम्राट् हर्षवर्धन या उसके कुछ समय बाद तक बाह्य संस्कृतियों अथवा समुदायों को आत्मसात् करने का कार्य निर्बाध निरन्तर चलता रहा। आचार्य शंकर के समय में स्थिति बदल रही थी। समता और भ्रातृभाव के सहारे विश्वबन्धुत्व का उद्घोष करने वाले इस्लाम धर्म का उदय तब हो चुका था और भारत के पश्चिमी प्रान्त भागों में यत्र-तत्र उसके आक्रमण भी होने लगे थे। उस समय समाज में ब्राह्मण वर्ग को नहीं; बौद्ध, जैन, शैव अथवा वैष्णव धर्माचार्यों को सर्वोच्च सम्मान प्राप्त था और यही स्थिति आज भी विद्यमान है, किन्तु इसके अतिरिक्त इन सभी धर्मों के गृहस्थ अनुयायियों की विशाल संख्या थी और आज की ही भाँति शूद्र वर्ण के अन्तराल में पनप रही दलित जातियाँ थीं। उस समय इनके साथ आज का सा व्यवहार किया जाता था या उससे भिन्न, इसको जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है।

बादरायण के ब्रह्मसूत्र ने और उनके भाष्यकार आचार्य शंकर ने बौद्ध और जैन धर्म के साथ सांख्य, योग, पाशुपत और पांचरात्र धर्म को भी अवैदिक सिद्ध किया है, यद्यपि महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में, पुराणों में और पुष्पदन्त के शिवमहिम्नस्तव में अन्तिम चारों सिद्धान्तों का वेद के समान ही प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। परवर्ती वैष्णव आचार्यों ने ही नहीं, वैष्णव पुराणों ने भी यद्यपि शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध बताया है, किन्तु अपने धर्म को वैदिक सिद्ध करने की धुन में उन्होंने अपशूद्राधिकरण की व्याख्या के प्रसंग में आगम ग्रन्थों की लचीली व्यवस्था को न मान वर्णव्यवस्था की रूढ़ धारणा को ही पुष्ट किया है। न केवल भारतीय संस्कृति का, संस्कृत भाषा के भी ह्रास का युग यहीं से प्रारम्भ हो जाता है। भास्करराय तक आते आते आगम और तन्त्रशास्त्र भी वैदिकीकरण-प्रक्रिया में समा जाते हैं। तुलसी के रामचरितमानस पर भी स्त्री और शूद्र के प्रसंग में यह प्रभाव देखा जा सकता है।

बुद्ध और महावीर ने, वैष्णव आलवार और शैव नायनारों ने ; सिद्ध, नाथ और सन्तों ने अपने उपदेशों का माध्यम लोकभाषा को बनाया था। इस परम्परा ने प्रत्येक धर्म की उदात्त भावनाओं को अपनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। इस्लाम के आक्रमण के पूर्व तक संस्कृत भाषा के माध्यम से भी यह कार्य हुआ, किन्तु इसके बाद लोकभाषाओं ने यह काम संभाल

लिया। छान्दोग्योपनिषद् ने सत्यकाम जाबाल के उपाख्यान में आचरण की महत्ता प्रतिपादित की थी। भारतीय जनमानस ने परतन्त्रता काल में भी सन्त कबीर, रैदास और भीखा साहब को ही नहीं, हाल में गांधीजी को महात्मा की उपाधि से विभूषित कर यह सिद्ध कर दिया है कि औपनिषद उपदेशों की परम्परा यहाँ अक्षुण्ण चली आ रही है। वर्णाश्रम व्यवस्था इसमें कभी बाधक नहीं बनी।

यह आश्चर्य की बात है कि उत्कृष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों, उदात्त भावनाओं, सहिष्णुता, समन्वय और ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' का उद्घोष करने वाली यह संस्कृति आज आचरण के मामले में बहुत दयनीय स्थिति में है। ''शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'' इस गीता वाक्य का जब हम यह अर्थ करने चलते हैं कि पण्डित समदर्शी तो है, किन्तु शास्त्र सबके साथ समान आचरण की अनुमति नहीं देता, तो हमें ''मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् ...'' वाला नीतिवाक्य स्मरण आ जाता है। आज पूरा हिन्दु समाज इस व्याधि से ग्रस्त है। दलित वर्ग से भी आये किसी एक विशिष्ट व्यक्ति का सम्मान करना तो हमने सीखा है, किन्तु पूरे समाज को समानता हमने कभी नहीं दी। वर्णव्यवस्था के भीतर ही पूरे समाज को बाँधने के उद्देश्य से अनेक जातियों और उपजातियों का अम्बार लग गया। समाज को बुद्धिजीवी, सैनिक, व्यापारी और श्रमिक वर्ग में बाँटना कोई अनुचित बात नहीं थी, अनुचित प्रवेश किया इसमें ऊँच-नीच की भावना ने। हिन्दु समाज में आज यह रोग इतना फैला हुआ है कि शूद्र से वैश्य, वैश्य से क्षत्रिय और क्षत्रिय से ब्राह्मण अपने को ऊँचा मानने में होड़ लगाये बैठे हैं और इसी तरह शूद्रों में ही नहीं दलित, अछूत हरिजन कहीं जाने वाली जातियों में भी एक जाति से दूसरी जाति को हीन मानने वाली दुर्भावना विद्यमान है। आज का साधु-समाज भी अब इस भावना से वंचित नहीं है। इनमें भी इसी ऊँच-नीच की भावना के आधार पर विभिन्न वर्ग बन गये हैं।आज ''दीक्षित हो जाने के उपरान्त पूर्व जाति का स्मरण करना पाप है'', इस सिद्धान्त को भी भुला दिया गया है। चिन्तन और आचरण का यह वैषम्य ही आज हिन्दु समाज के बिखराव का सबसे बड़ा कारण है।

इस विषम आचरण के बावजूद भारत में इस्लाम के प्रवेश के पूर्व इससे समाज को कोई विशेष खतरा नहीं था, किन्तु एक हाथ में पवित्र कुरान के भाई-चारे को और दूसरे हाथ में तलवार को लेकर जब इस्लाम ने अपनी विजययात्रा प्रारम्भ की, तो भारतीय समाज-व्यवस्था चरमरा उठी। भारतीय समाज-व्यवस्था का पिछले एक हजार वर्ष का इतिहास आत्मसमर्पण का रहा है। प्राचीन काल में अपनी शरण में आये यहूदी, ईसाई अथवा पारसीक धर्म के अनुयायी अथवा अभी हाल में आये तिब्बती बौद्धों के धार्मिक अथवा सामाजिक जीवन में हमने कोई हस्तक्षेप नहीं किया, किन्तु अपनी यह विशेषता अन्य धर्मावलम्बियों के गले उतार पाने में हम आज भी असमर्थ हैं। पहले इस्लाम के, बाद में ईसाइयों और अब नव बौद्धों के द्वारा अपनी समाज-व्यवस्था और धर्म में किये जा रहे हस्तक्षेप को हम

अपनी ही कमजोरी के कारण नहीं रोक पा रहे हैं। आज हिन्दु धर्म में प्रवेश के सभी मार्ग बन्द हैं और निकलने के सभी दरवाजे खुले हुए हैं। क्या यह निष्क्रमण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहेगी?

भारतीय समाज के इस्लामीकरण और ईसाईकरण की प्रक्रिया देश के स्वतन्त्र होने के बाद कुछ थमी थी, किन्तु अब बौद्ध दीक्षा पुन: अपना इतिहास दुहराने जा रही है। इन सभी का प्रधान कार्यक्षेत्र दलित तथा वन्य जातियाँ हैं, जिनके साथ कि सवर्ण हिन्दु पशु से भी बदतर व्यवहार करता है। इस विषम स्थिति से उबरने का एक ही उपाय हो सकता कि हिन्दु समाज के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जाय। यदि यह नहीं होता, तो इस धर्मपरिवर्तन की बाढ़ को रोक पाना सम्भव नहीं होगा।

भारत आज बहुधर्मी राष्ट्र है। जब बौद्ध, जैन और सिख धर्म के अनुयायी इसी धरती की उपज होते हुए भी हिन्दु धर्म के साथ बेगानापन का अनुभव करते हैं, तो बाहर से आये पारसी, मुसलमान और ईसाई कैसे इसको अपना सकेंगे? यद्यपि आज इन बाहरी धर्मों के अनुयायी भी प्राय: भारतभूमि के ही पुत्र हैं। राष्ट्र को सबल बनाने के लिये इनमें एकराष्ट्रीयता की भावना आवश्यक है। पारसियों ने इस राष्ट्र के साथ अपना शत-प्रतिशत तादात्म्य स्थापित कर लिया है। धर्म-परिवर्तन यदि सोच समझ कर किया जाता है, दलित एवं जन-जातियों की सामाजिक तथा आर्थिक समस्या को यदि यह सुलझा देता है और राष्ट्र की एकता में यदि यह बाधक नहीं बनता, तो हो सकता है कि उसको उदारचेता भारतीय बुद्धिजीवियों का समर्थन प्राप्त हो जाय; किन्तु यदि घृणा, द्वेष, वर्गवाद और हिन्दु धर्म की कल्पित बुराइयों को उभाड़ कर यह किया जाता है, तो अवश्य ही राष्ट्रद्रोह का कार्य होगा।

मुसलमान धर्म-प्रचारक हो या ईसाई अथवा बौद्ध सभी हिन्दु धर्म की कुछ त्रुटियों को बढ़ा-चढ़ाकर निरीह जनता के सामने रखते हैं और एकमात्र धर्म-परिवर्तन को उनके सभी दु:ख-दर्दों की दवा बताते हैं। किन्तु द्वेष, घृणा, संकीर्णता और असहिष्णुता से भरे इस धर्मपरिवर्तन के बाद उनकी क्या दशा होती है? गरीब मुसलमानों अथवा नव बौद्धों की भी धर्म-परिवर्तन से आर्थिक ही नहीं, सामाजिक दशा में भी कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है और न ही होने वाला है। जोर-जबरदस्ती अथवा छल-छद्म से धर्म-परिवर्तन की प्रवृत्ति बौद्ध धर्म में नहीं थी। अब बाह्य प्रभाव से यह प्रवृत्ति उसमें भी पनप रही है।

आज भारत का नव बौद्ध मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के चरित्र की ही भाँति गांधीवाद से भी चिढ़ता है। उनकी दृष्टि में आज के युग के लिये बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद ये ही दो आर्यसत्य हैं। आज का हिन्दु समाज मनुस्मृति से नहीं, डाक्टर अम्बेडकर के बनाये हिन्दू-कोड बिल से संचालित है, यह जानते हुए भी बौद्ध भिक्षु सभामंच से मनुस्मृति का भूत खड़ा करने से बाज नहीं आते।

इस बहुधर्मी राष्ट्र की सामाजिक समस्याओं का समाधान धर्म नहीं, संस्कृति के माध्यम से होना चाहिये, जिसमें कि सभी धर्मों की अच्छाइयाँ विद्यमान हों और किसी भी धर्म की बुराई प्रवेश न कर सके। इसके लिये आवश्यक है कि यहाँ पर वैदिक और औपनिषद आध्यात्मिक मूल्यों तथा गार्हस्थ्य धर्म की पुन: प्रतिष्ठा तो हो, किन्तु वर्णाश्रम धर्म की ऊँच-नीच की भावना को तिलांजलि दी जाय। बौद्ध और जैन धर्म की अहिंसा, करुणा, प्रज्ञा और दु:खी जीवों की सहायता करने की सामाजिक भावना का समावेश तो हो, किन्तु अल्प वय में भिक्षु, मुनि या संन्यासी बनने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जाय, जिसके कारण कि न केवल बौद्ध धर्म, किन्तु परवर्ती हिन्दु और ईसाई धर्म में भी रहस्यवादी प्रवृत्तियों ने जन्म लिया। इस अस्वाभाविक प्रव्रज्या से इस्लाम ने अपने को बचाकर बड़ी बुद्धिमानी का परिचय दिया है। साथ ही उसका भ्रातृभाव तथा समतादृष्टि का संदेश भी सभी धर्मों के लिये अनुकरणीय है, यदि इसमें से संकीर्णता और अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णुता को हटा दिया जाय।

ईसाई मिशनरियों की सेवाभावना कभी बौद्ध भिक्षुओं में भी विद्यमान थी, किन्तु आज का हिन्दु मठाधीश, महन्त, धर्मगुरु और भिक्षु स्वयं समाज की सेवा न कर, समाज से अपनी ही सेवा लेता है। आज पूरे भारत में दुर्गम स्थलों पर भी केवल ईसाई मिशनरियाँ ही अपनी सेवाभावना के सहारे टिकी हुई हैं। भारतीय साधु-समाज को जब तक समाज तिरस्कृत नहीं कर देता, उससे पहले ही उसमें यह सेवाभावना जागनी चाहिये।

आवाप और उद्वाप, संग्रह और त्याग की इस प्रक्रिया को फिलहाल कोई धर्म नहीं स्वीकार कर सकता। संस्कृति के माध्यम से ही यह सम्भव हो सकता है। सहिष्णुता और समन्वय के अपने विशिष्ट गुणों के माध्यम से भारतीय संस्कृति सदा इस ओर अग्रसर रही है और आज भी यह महात्मा गांधी के बताये मार्ग मानवतावाद के आधार पर इस कार्य को करने में समर्थ है।

हिन्दु समाज की दुर्दशा का कारण इसमें विद्यमान अगणित जातियों और उपजातियों को बताया जाता है और कहा जाता है कि बिना इनको तोड़े इसका सुधार नहीं हो सकता। यह रोग का एक गलत निदान है। *हिन्दु समाज की असली बीमारी है ऊँच-नीच की भावना और उसके आधार पर छूआछूत का व्यवहार।* "सम: सर्वेषु भूतेषु" गीता का यह उपदेश जब तक केवल पोथी की शोभा बढ़ायेगा, तब तक हिन्दु समाज से निष्क्रमण की प्रक्रिया कभी बन्द नहीं होगी और अन्तत: स्वर्गीय श्रीप्रकाश जी के शब्दों में एक दिन हिन्दु जाति भी मिस्र और बेबिलोनिया आदि की प्राचीन जातियों के समान केवल नाम-शेष रह जायगी।

हमें आशा और विश्वास है कि ऐसा नहीं होगा। हिन्दु समाज ने परतन्त्रता के एक हजार वर्षों में विपरीत परिस्थितियों का दृढ़ता के साथ सामना किया है और समय के साथ समझौता करते समय उसने अपने मूल सिद्धान्तों को कभी नहीं छोड़ा। देश अब स्वतन्त्र

हो चुका है। हमें आशा है कि धर्म-परिवर्तन की इन चुनौतियों का सामना करने का सामर्थ्य अब उसमें अवश्य उद्बुद्ध होगा और देश का सामाजिक वातावरण इस प्रकार का बनेगा कि उसमें धर्म-परिवर्तन की किसी को कोई आवश्यकता ही न प्रतीत हो।

कश्मीरी साहित्यिकों ने रस-निष्पत्ति के प्रसंग में साधारणीकरण व्यापार की उद्भावना की है। अखण्ड भारतीय संस्कृति की निष्पत्ति में भी इस व्यापार की सत्ता आँकी जा सकती है। पर्वों और उत्सवों के अवसर पर हजारों और लाखों की संख्या में जुटने वाली धार्मिक जनता आज राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं, मन्दिर-प्रवेश जैसे धार्मिक मामलों में भी अपने धर्माचार्यों का अन्धानुकरण नहीं करती। धर्माचार्यों के स्पष्ट आदेश के बावजूद विश्वनाथ मन्दिर में जनमानस की श्रद्धा न तो कम हुई है और न वह अमेरिकी नागरिकों के चन्द्रमा पर पहुँच जाने पर वहाँ से देवत्व के पलायन की बात को ही मानती है। यही वह साधारणीकरण व्यापार है, जिसके माध्यम से अखण्ड भारतीय संस्कृति की निष्पत्ति होने जा रही है। इस व्यापार के विपरीत छल-कटप पूर्ण कोई क्रिया, प्रतिक्रिया को ही जन्म देगी। भारत के प्रबुद्ध बुद्धिजीवी वर्ग को इस ओर से सचेत रहना चाहिये कि इस भारतीय संस्कृति के स्वाभाविक पावन प्रवाह को रोकने अथवा उसको गलत दिशा देने का कोई दुष्प्रयत्न सफल न होने पावे।

बौद्ध विचारक धर्मकीर्ति ने आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व स्नान करने में भी धर्म की भावना को जड़ता का लक्षण माना था। इस सस्ती धर्म-भावना ने ही हिन्दु धर्म में दम्भ को अनावश्यक प्रवेश दिया और संसार के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ गीता को गृहस्थों की नहीं, संन्यासियों की आचार-संहिता बना दिया है। *हमें आशा है कि राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, कबीर और गांधी का यह देश न केवल जेन्दावेस्ता (पारसी धर्मग्रन्थ), जो कि ऋग्वेद का सहोदर साहित्य है और न केवल सिख गुरुओं के ग्रन्थ साहब, जो कि भारतीय सन्त-परम्परा की ही एक उत्कृष्ट देन है, अपितु बाइबिल और कुरान से भी, ईसाई सन्तों और सूफी फकीरों के उपदेशों से भी तादात्म्य स्थापित कर न केवल अखण्ड भारतीय संस्कृति, अपितु विश्व संस्कृति का भी निर्माण कर कलह और कटुता के वातावरण से विश्व को त्राण दिला पाने में समर्थ हो सकेगा ।।*

बौद्ध दीक्षा : एक समीक्षा

समझ-बूझ कर स्वेच्छा से कोई व्यक्ति या समुदाय धर्मपरिवर्तन करता है, तो वहाँ संख्या का भले ही कोई महत्त्व न हो, किन्तु यदि सामाजिक अन्याय से पीड़ित होकर व्यक्ति या समुदाय स्वयं अपनी इच्छा से अथवा किसी अन्य से प्रेरित होकर यह करता है, तो

इस परिस्थिति में छोटी से छोटी संख्या का भी महत्त्व आँका जाना चाहिये। इस प्रसंग में अखण्ड भारतीय संस्कृति और एक राष्ट्रीयता के अनुरागियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे अपने को केवल दूसरों की आलोचना तक ही सीमित न रखें, किन्तु समाज के द्वारा किये जा रहे विषम व्यवहारों के निराकरण के लिये पूरी तत्परता से सन्नद्ध हो जाँय।

सारनाथ में हुए धर्मपरिवर्तन की घटना के लिये हम अब भी दीक्षा शब्द का ही प्रयोग करना चाहते हैं। साथ ही आशा करते हैं कि आयोजक इस पवित्र शब्द की भावना का आदर करेंगे और भारतीय संस्कृति के प्रतीक राम-कृष्ण और विष्णु-शिव के प्रति नव दीक्षितों में द्वेष और घृणा की प्रवृत्ति को न पनपने देंगे।

यह दुर्भाग्य का विषय है कि सारनाथ की बौद्ध दीक्षा के प्रति हमारा जितना ध्यान आकृष्ट हुआ, उसका शतांश भी हम नागालैण्ड में इसी अवधि में सम्पन्न हुई जनजातियों के ईसाई धर्म में दीक्षित होने की घटना पर केन्द्रित न कर सके। क्या इन घटनाओं से भी हममें आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति न जागेगी? इस अवस्था में भी मात्र दूसरों को दोष देकर शान्त हो जाना क्या हमारा तन्द्रावस्था का प्रलाप नहीं माना जायगा? इतना कर देने मात्र से क्या धर्मपरिवर्तन की यह दुरभिसन्धिपूर्ण प्रक्रिया रुकने वाली है? क्या हरिजनों को बौद्ध धर्म का, जनजातियों को ईसाई धर्म का चरागाह बनते देखकर भी हमारा आत्मबोध न जागेगा?

इस देश के धर्माचार्यों और संस्कृत के विद्वानों का इन प्रश्नों की ओर सबसे पहले ध्यान आकृष्ट होना चाहिये था, क्योंकि इस देश की संस्कृति, सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान की थाती को वे आज तक संजोये चले आ रहे हैं। वे तो कुम्भकर्णी निद्रा में पड़े हुए हैं। बौद्ध दीक्षा के ढोल-नगाड़े जब बज रहे थे, तो मात्र ४८ घंटे पहले उनकी तन्द्रा टूटी और शास्त्रार्थ का निमन्त्रण देकर वे फिर सो गये। भगवान् ने पानी बरसा कर तो उनका मनोरथ पूरा कर दिया। शास्त्रार्थ की घोषणा के स्थान पर यदि पण्डित समाज की ओर से व्यक्तिगत और सामूहिक धर्म की व्याख्या की जाती और सामूहिक धर्म के क्षेत्र से छूआछूत और ऊँच-नीच के भेद को मिटा देने की बात कही गई होती, तो परिस्थिति कुछ दूसरी ही होती। आगमशास्त्र, तन्त्रशास्त्र, महाभारत और पौराणिक वाङ्मय से इस प्रकार की व्यवस्था खोज निकालना कोई कठिन कार्य नहीं था।

हमारे धर्माचार्यगण, मन्दिरों और मठों के अधिपतिगण एवं साधुसन्तगण आज न तो अपने शास्त्र और संस्कृति से ही और न ईसाई मिशनरियों की सेवा-भावना से ही कोई प्रेरणा ले रहे हैं। यह पूरा समुदाय अपने पूर्वजों की संचित निधि का मात्र उपभोक्ता बन बैठा है। इसकी अपनी कुछ कमाई नहीं है। यह स्थिति भारतीय राष्ट्र, समाज और संस्कृति को कहाँ ले जायगी? उक्त समुदाय की नई पीढ़ी, नया रक्त भी क्या देश की इस दुर्दशाग्रस्त परिस्थिति पर विचार करने को नहीं जागेगा? इस पवित्र धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यक्षेत्र में भी क्या अब राजनीतिज्ञों को ही आना पड़ेगा।

सारनाथ की बौद्ध दीक्षा की घटना के पीछे दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ कार्य करती नजर आती हैं। पहली प्रवृत्ति का कहना है कि विष्णु के चौबीस ही नहीं, दस अवतारों में भी भगवान् बुद्ध परिगणित हैं। इसलिये बुद्ध की शरण में जाना धर्म-परिवर्तन नहीं, अपितु उसी प्रकार का एक धार्मिक कृत्य है, जैसा कि शैव अथवा वैष्णव दीक्षा ग्रहण करते समय किया जाता है। इसके विपरीत दूसरी प्रवृत्ति इसको शुद्ध धर्म-परिवर्तन मानती है और यही प्रवृत्ति नव दीक्षित बौद्धों से यह प्रतिज्ञा कराती है कि अब हम राम और कृष्ण, विष्णु और शिव को अपने देवता नहीं मानेंगे। ढाई हजार वर्ष पहले का ब्राह्मणवाद का भूत आज भी उसका पीछा नहीं छोड़ रहा है। औपनिषद ज्ञान, शैव और वैष्णव आचार्यों के आन्दोलन, सिद्ध, नाथ और सन्तों के अमृतमय उपदेश इनको आकृष्ट नहीं कर पाते। इनकी दृष्टि में मात्र बौद्ध धर्म ही भारतीय संस्कृति है। इसके अतिरिक्त सब कुछ बकवास है, तुच्छ है, हेय है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद धर्मचक्र, अशोक स्तम्भ, पंचशील, धर्मनिरपेक्ष राजनीति सब कुछ बौद्ध संस्कृति से ही तो लिया गया है। इस देश की जनता जानती है कि चीन के द्वारा तिब्बत की सहधर्मी प्रजा के क्रूर दमन के साथ ही इस नाटक पर दु:खान्त पटाक्षेप पड़ चुका है। चीन का आक्रमण हो या पाकिस्तान का, चीन की धमकी हो या अमेरिका की, भारत की परेशानी हो या बंगला देश की, सभी अवसरों पर धर्मचक्र और पंचशील की छत्रछाया में पल रहे समस्त बौद्ध देशों की प्रज्ञा और करुणा की परीक्षा हो चुकी है।

भगवान् पतंजलि ने योगसूत्र में पाँच प्रकार की चित्त-वृत्तियों का वर्णन किया है। उनमें से एक है विकल्प। विकल्प वह वृत्ति है, जिसमें कि वस्तु का अस्तित्व न रहने पर भी शब्दों के द्वारा उसकी काल्पनिक सत्ता का महल खड़ा कर दिया जाता है — "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः"। वर्तमान युग में इस वृत्ति का बड़ा प्राबल्य है। प्राय: सभी राजनीतिक दल इसी का सहारा लेते हैं। वे विपक्षी दलों के किये-कराये सभी कार्यों को शब्दजाल से झुठला देते हैं और अपने दल के कार्यों का शाब्दिक महल खड़ा करते रहते हैं। बौद्ध दीक्षा के प्रसंग में भी इस विकल्प वृत्ति का अद्भुत व्यापार देखा जा सकता है, जबकि इसके आयोजक कहने लगते हैं— "राजा राममोहन राय से लेकर महात्मा गांधी तक का सामाजिक समता, न्याय और संमान का सुधारवादी आन्दोलन इस देश में पूर्णत: विफल हो चुका है। इतना ही नहीं, भारतीय संविधान भी इस प्रसंग में अकर्मण्य सिद्ध हुआ है। ऐसी स्थिति में सामाजिक घुटन से ऊब कर दलित और पीड़ित बहुसंख्यक जनता ने भारतीय संस्कृति की उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण बौद्ध धर्म को स्वीकार करने का निर्णय ले लिया है"। इससे अच्छा विकल्प का उदाहरण और कहाँ मिल सकता है। सभी जानते हैं कि राजा राममोहन राय से लेकर महात्मा गांधी तक के सामाजिक समता के सुधारवादी आन्दोलन व्यर्थ नहीं गये हैं। इन्हीं के कारण आज नगरों से यह विषमता लगभग समाप्त हो रही है और भारतीय संविधान देहातों से भी इस विषम स्थिति का अन्त करने में लगा हुआ है। हम यह भी जानते

हैं कि जनता ने अपनी ओर से कोई निर्णय नहीं लिया, किन्तु उनके अज्ञान और दरिद्रता का नाजायज फायदा उठाकर उनको भरमाया गया है।

वस्तुत: दलित जातियों की मूल समस्या अशिक्षा और विपन्नता की है। *किसी विद्वान् की यह उक्ति ठीक ही है कि धर्म से संस्कृति का निर्माण होता है और अर्थ से सभ्यता का।* जब दलित जातियों में भी शिक्षा का पर्याप्त प्रसार होगा, उनके लिये रोजगार के सभी दरवाजे खोल दिये जायेंगे, तो स्वभावत: नवीन सभ्यता का जन्म होगा और तभी वस्तुत: इनकी समस्याओं का समाधान हो सकेगा। कोरे धर्मपरिवर्तन से इनमें परस्पर घृणा और द्वेष का प्रसार ही नहीं होगा, किन्तु मूल समस्या के समाधान में, अशिक्षा और विपन्नता को दूर करने में, सम्भव है इससे बाधा भी पड़े और विलम्ब भी हो।

कहा जाता है कि भारत में बुद्धदेव को भुला दिया गया है, बौद्ध तत्त्वज्ञान को यहाँ से देश निकाला मिल चुका है। यह उक्ति भी मात्र विकल्प का व्यापार ही है। प्रत्येक हिन्दु परिवार नित्य, नैमित्तिक अथवा काम्य कर्म को आरम्भ करते समय अपने संकल्प वाक्य में प्रतिदिन बुद्धदेव का स्मरण करता है। स्वर्गीय म० म० पण्डित विधुशेखर भट्टाचार्य ने अपने ग्रन्थों में यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि गौडपाद की माण्डूक्यकारिका एवं भगवत्पाद शंकराचार्य के ग्रन्थों में बौद्ध शून्यवाद ने ब्रह्मवाद का नया कलेवर धारण किया है। यह छिपा नहीं है कि योगवासिष्ठ और कश्मीर के शैवदर्शन में विज्ञानवादी बौद्ध दर्शन ने नया स्वरूप लिया है। भारत में बौद्ध धर्म की संकीर्णता और हठवादिता ही निकाली गई थी, उसका तत्त्वज्ञान नहीं।

उपनिषत्, सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और प्राचीन आजीवक तत्त्वज्ञान की ऊर्वरा भूमि में ही बौद्ध तत्त्वज्ञान का विकास हुआ था और परवर्ती शैव, वैष्णव, नाथ, सिद्ध और सन्तों का साहित्य भी इन सभी धाराओं से आप्यायित रहा है, केवल बौद्ध धारा से नहीं। यूरोपीय विद्वानों के द्वारा नये सिरे से भारतीय विद्या का अनुसन्धान प्रस्तुत करने के साथ यहाँ पर बौद्ध तत्त्वज्ञान का अध्ययन सांस्कृतिक आधार पर पुन: प्रतिष्ठित हुआ, धार्मिक आधार पर नहीं। आचार्य नरेन्द्रदेव इस शृंखला की मजबूत कड़ी थे।

वैदिक कर्मकाण्ड की दलदल से निकला बुद्धिवादी तत्त्वज्ञान वज्रयान के रहस्यवाद में डूब नहीं जायगा। भारत में पिछले एक हजार वर्ष का धर्म-परिवर्तन का इतिहास भय, छल-छद्म और प्रलोभनों से भरा है। भावात्मक एकता और अखण्ड भारतीय संस्कृति का निर्माण और रक्षा केवल बुद्ध की शरण में जाने से नहीं, अपितु —

यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ।

गीता के इस वचन के अनुसार प्रभु ईसामसीह तथा पैगम्बर मुहम्मद साहब को भी भगवान् का स्वरूप मानकर, राम-कृष्ण, शिव-विष्णु, बुद्ध-महावीर, ईसामसीह-मुहम्मद, सन्त-

गुरु — इन सबकी शरण में जाने से होगा। *स्वतन्त्र भारत में धर्म-परिवर्तन की घटना कथाशेष रह जानी चाहिये और भारत में बस रही पूरी जनता का इस देश के पूरे इतिहास के साथ तादात्म्यबोध जाग्रत् होना चाहिये।*

डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री जी की इस उक्ति से हम पूरी तरह सहमत हैं कि इस देश को यदि बचाना है तो ऊँच-नीच की व्यवस्था हटानी पड़ेगी। *विशिष्ट गुण और आचरण की गरिमा के बिना केवल तथाकथित उच्च जाति, वंश या वर्ण में पैदा होने मात्र से अथवा किसी धर्म या सम्प्रदाय का आचार्य होने मात्र से व्यक्ति को जब तक प्रतिष्ठा मिलती रहेगी, तब तक इस देश का ही नहीं, संसार का भी भला होने वाला नहीं है ।।*

क्या धर्मपरिवर्तन की गति थमेगी ?

धर्म-परिवर्तन की अच्छाई-बुराई अथवा भूतकाल में किन अच्छे-बुरे तौर-तरीकों का इस्तेमाल कर इसको चरितार्थ किया गया, इन सब बातों पर विचार करने का यह समय नहीं है। अभी तो आत्म-निरीक्षण के रूप में हमें यही देखना है कि वर्णाश्रम व्यवस्था की किन-किन रूढ़ भावनाओं में आहत होकर अथवा हिन्दु धर्म के विरुद्ध फैलायी गई भ्रान्तियों में पड़कर दलित जातियाँ धर्म-परिवर्तन करती हैं।

व्यवस्था के दोष

हमें यह मान लेना पड़ेगा कि वर्णाश्रम की व्यवस्था में कुछ खामियाँ हैं। इसका विरोध पहले भी हुआ था और अब भी हो रहा है। इस निरन्तर गतिशील विरोध के कारण आश्रम-व्यवस्था तो छिन्न-भिन्न हो ही गई, वर्णाश्रम का शास्त्रीय पक्ष भी व्यवहार से कोसों दूर चला गया है। आज हिन्दु धर्म का स्वरूप दो प्रकार की भ्रान्तियों के बीच अधर में लटका हुआ है। कुछ भ्रान्तियों को तो हिन्दु धर्म ने स्वयं पाल रखा है और दूसरे प्रकार की भ्रान्तियाँ आज के वैज्ञानिक युग की देन हैं। वैज्ञानिक युग की चुनौतियों का सामना करने में हिन्दु धर्म पूरी तरह से समर्थ है। काश, वह स्वयं कुछ भ्रान्तियों के कुहासे से बाहर निकल पाता।

हिन्दु-धर्म की एक लम्बी परम्परा है। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के नियामक ग्रन्थ रहे हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित यज्ञीय कर्मकाण्ड की बुद्ध और महावीर ने ही समालोचना नहीं की, उपनिषदों ने भी उसको कमजोर नाव बताया (प्लवा एते ह्यदृढा यज्ञरूपाः) और कहा कि अकृत (नित्य) मोक्ष की प्राप्ति कृत (कर्मकाण्ड) से नहीं हो सकती (परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन)। ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड अब नामशेष रह

गया है। उसी के साथ ब्राह्मण वर्ण का वह वर्चस्व भी कभी का समाप्त हो चुका है। बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव और तान्त्रिक धर्मों ने क्रमश: क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण को भी ऊपर उठाने का पूरा प्रयत्न किया है। रामायण, महाभारत और पुराणों ने भी इस ओर कदम उठाया है। तन्त्रशास्त्र ने ''दीक्षयेत् श्वपचानपि'' कह कर चाण्डाल को भी मोक्ष का अधिकारी माना है। इस पूरी प्रक्रिया के विकास में विद्वान्, तपस्वी ब्राह्मण सदा सबसे आगे रहा है। इस बात को देखते हुए भी हम नहीं देख पा रहे हैं। *यह हमारी पहली भ्रान्ति है और इसी के वशीभूत होकर आज सारी विपत्तियों की जड़ ब्राह्मण जाति को मान लिया गया* है।

भगवान् वेदव्यास ने महाभारत में सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत मत और वेद को समान कोटि का शास्त्र माना है और भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में इन सभी शास्त्रों में समन्वय स्थापित किया था। इसके विपरीत बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में न्याय-वैशेषिक, बौद्ध और जैन मतों के साथ सांख्य-योग, पांचरात्र और पाशुपत मत को भी अवैदिक घोषित कर दिया। ब्रह्मसूत्र के व्याख्याता शंकर, रामानुज आदि आचार्यों ने इसी मत को स्वीकार किया है। कुछ आचार्यों ने अपने-अपने मत को वेदानुवर्ती सिद्ध करने का अवश्य प्रयत्न किया, किन्तु अन्य सभी शास्त्रों का स्वतन्त्र प्रामाण्य लुप्त सा हो गया और अपशूद्राधिकरण की व्याख्या ने तो सारी विकास-परम्परा को ही अवरुद्ध सा कर दिया। *शंकराचार्य पर किसी ने यह आक्षेप किया है कि इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद साहब और उनका आविर्भाव काल प्राय: आस-पास है। इस्लाम ने जब अपनी विश्वविजय यात्रा पूरी की, शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म अपने देश में भी सिमटता गया।* इस तथ्य को कौन अस्वीकार कर सकता है?

शंकराचार्य का एक दूसरा भी स्वरूप है कि उन्होंने प्रपंचसार के माध्यम से स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा की। भगवद्गीता के बाद समन्वय का यह दूसरा प्रयास था। प्रपंचसार में वैष्णव, शैव, शाक्त और गाणपत्य मतों के आधार पर स्मार्त पंचायतन पूजा का विधान है। यह स्मार्त पूजापद्धति ही आज के हिन्दु धर्म का प्रमुख आधार है। वैष्णवों ने अपनी अलग पहचान अवश्य बनाये रखी। इस वैष्णव धर्म को ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्य शंकर अवैदिक मानते हैं और वैष्णव आचार्य शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं। ये दोनों ही आक्षेप आंशिक सत्य से दूर नहीं हैं और इसके कारण भारतीय समाज का बड़ा अहित हुआ है।

मठीय संस्कृति

शंकराचार्य के आक्षेप से बचने के लिये वैष्णव आचार्यों ने धीरे-धीरे वैष्णव आगमों से नाता तोड़कर वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था से अपने को सम्बद्ध कर लिया। शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध हैं या नहीं, इस प्रश्न पर शताब्दियों से विचार चल रहा है, किन्तु मठीय संस्कृति

स्पष्टत: बौद्ध धर्म की देन है। प्राचीन भारत में गृहस्थ ऋषि को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी, किन्तु बाद में स्थिति बदल गयी। गृहस्थ ऋषि का स्थान भिक्षु, मुनि और संन्यासी ने ले लिया। ऋषि गृहस्थ रहते हुए भी सभी एषणाओं से मुक्त था, किन्तु भिक्षुओं, मुनियों और संन्यासियों के इर्द-गिर्द मठों और मन्दिरों के रूप में सभी एषणाओं का एक रहस्यात्मक ताना-बाना बुना जाने लगा और इसी पृष्ठभूमि में रहस्यात्मक शास्त्रों का भी आविर्भाव हो गया। आचार्य शंकर ने भारतवर्ष में बौद्ध धर्म को नेस्तनाबूद कर दिया अथवा बौद्ध धर्म को भारत से बाहर ढकेल दिया, यह हमारी दूसरी बड़ी भ्रान्ति है। अपनी सभी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ वह हमारे बीच आज भी विद्यमान है। आज भारतीय समाज का अगुआ ब्राह्मण नहीं, किन्तु मठाधीश और धर्माचार्य है। *अपनी चिरसंचित बुद्धि-चातुरी अथवा धूर्तता के कारण वह सब जगह अपना अग्रणी स्थान बना लेता है, यह बात दूसरी है।*

वैष्णव आचार्यों ने वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था को वरीयता देने का प्रयास अवश्य किया, किन्तु वैष्णव आलवारों सन्तों, सिद्धों और नाथों ने लौकिक भाषाओं के माध्यम से तथा स्मार्त धर्म के प्रतिष्ठापक आचार्यों और निबन्धकारों ने संस्कृत भाषा के माध्यम से उक्त सभी शास्त्रों की प्रामाणिकता अक्षुण्ण बनाये रखी। श्रीमद्भागवत में जैन तीर्थंकर ऋषभदेव और भगवान् बुद्ध की भी २४ अवतारों में गणना की गई है। तन्त्रशास्त्र में षड्दर्शन के अन्तर्गत बौद्ध और जैन दर्शन का भी समावेश है। इस पूरे वाङ्मय में वर्ण, आश्रम और लिंग को नहीं, आचरण की शुद्धता को वरीयता दी गई है। इस पूरी परम्परा के साथ हम सन्त कबीर और महात्मा गांधी का सम्बन्ध नहीं जोड़ पाये हैं। कबीर की उलटवांसियों और गांधी के सर्वधर्मसमभाव को हम उनकी अपनी झक मान लेते हैं, जिसके साथ कि परम्परावादी अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते। वस्तुत: योग और तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में, समन्वयवादी भारतीय परम्परा में तथा 'वैष्णव जन' के गायक नरसी मेहता जैसे सन्तों की वाणी में कबीर और गांधी की सारी मान्यताएँ मुखरित हुई मिलती हैं।

अपनी क्रोधाग्नि से चिड़िया को भस्म कर देने वाला महाभारत का तपस्वी ब्राह्मण पतिसेवा परायणा स्त्री और माता-पिता की सेवा में लगे हुए धर्मव्याध (कसाई) के सामने नतमस्तक हो उनसे उपदेश ग्रहण करता है, किन्तु आज हमें रामायण के मर्यादा पुरुषोत्तम राम और महाभारत के लोकनायक श्रीकृष्ण की अपेक्षा भगवान् श्रीकृष्ण का चोरजारशिरोमणि स्वरूप अधिक प्रिय है। हमने रामभक्ति में भी रसिक सम्प्रदाय चला दिया है। जब हमारा इष्टदेव ही चोरों और जारों का शिरोमणि है, तब हम मन्दिरों से मूर्तियों और अलंकरणों की चोरी को, मठों और मन्दिरों में फैले कदाचार तथा देश में फैले भ्रष्टाचार को कैसे रोक पावेंगे। आज का हिन्दु धर्म एक तरफ वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की अनपेक्षित ऊँच-नीच की भावना से और दूसरी तरफ तान्त्रिक रहस्यवाद से घिरा हुआ है। उसका गला दुहरे फंदे में फँसा हुआ है।

धर्मशास्त्र के कलिवर्ज्य प्रकरण में अनेक वैदिक मान्यताएँ स्थगित कर दी गई हैं। ऐसे स्थलों पर श्रुति की अपेक्षा स्मृति का ही प्रामाण्य प्रबल माना गया है। महर्षि यास्क के निरुक्त में वर्णित है कि ऋषि परम्परा को समाप्त होती देख मनुष्य देवताओं के पास पहुँचे और उनसे पूछा कि अब हमारा क्या होगा? देवताओं ने उनको तर्कशक्ति दी। शाक्त तान्त्रिक तर्क को योग के अंगों में श्रेष्ठ मानते हैं। शास्त्र समर्थित तर्क को धर्मशास्त्र में भी मान्यता प्राप्त है। देवताओं की दी गई इस तर्क शक्ति के सहारे हम श्रुति, स्मृति, दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण, आगम और तन्त्रशास्त्र का आलोडन कर हिन्दु धर्म की समयानुकूल नूतन व्याख्या प्रस्तुत कर सकते हैं, सामाजिक अस्पृश्यता जैसी बुराइयों को दूर कर सकते हैं, किन्तु हम तो इस भ्रान्ति में पड़े हुए हैं कि नूतन उद्भावना करने का हमें कोई अधिकार नहीं है।

आज के वेदान्ती की टकटकी जनक की सभा में सोने की सीगों से मढ़ी हुई गायों की ओर लगी हुई है। वह याज्ञवल्क्य ऋषि की पत्नी मैत्रेयी के उन वचनों को नहीं सुन पाता कि इस भौतिक सम्पत्ति से यदि मैं अमरता प्राप्त नहीं कर सकती, तो इसका मैं क्या करूँगी? सारे विश्व को हम आर्य बनाना चाहते हैं। मनु के वचन को सुनकर हम जगद्गुरु बनना चाहते हैं। कितने बड़े भ्रमजाल से हम घिरे हुए हैं।

भारतीय समाज की दृष्टि स्वर्ग की ओर केन्द्रित है, जो कि विषमताओं से भरा हुआ है। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने स्नान करने से धर्म की प्राप्ति की इच्छा को जड़ता की निशानी बताया था। आज हम 'गङ्गा गङ्गेति' जैसे अर्थवाद वाक्यों को विधि मानकर गंगा स्नान के उपरान्त अपने पूरे जीवन पर प्रश्नचिह्न लगा देते हैं। परम पुरुषार्थ मोक्ष की तरफ मुड़ने पर ही हमें उपनिषत्, भगवद्गीता और तान्त्रिक दर्शन की समता दृष्टि प्राप्त हो सकती है, किन्तु हमने तो साधारण मनुष्य को मोक्ष का अधिकारी माना ही नहीं। जब तक भारतीय समाज में उक्त समता दृष्टि का विकास नहीं होता, प्रत्येक मनुष्य को जब तक मोक्ष का अधिकारी नहीं माना जाता, तब तक हिन्दुधर्म वर्ग-संघर्ष पर आधारित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अथवा इतर धर्मों के आक्रमण से अपने को नहीं बचा सकेगा ! नहीं बचा सकेगा !!

गति कैसे थमे?

तब यह धर्मपरिवर्तन की गति कैसे थमेगी? तान्त्रिक भोगवाद की मृगतृष्णा में पड़ा आज का भारतीय राजनीतिज्ञ ही नहीं, प्रबुद्ध वर्ग भी तान्त्रिक बाबाओं और माताओं के इर्द-गिर्द चक्कर काटते दिखायी देता है। यह परम्परा आज से एक हजार वर्ष पहले यहाँ अधिक सबल रूप में विद्यमान थी। उस समय वह दिव्य शक्ति देश को पराधीन होने से न बचा सकी, तो अब उसका सहारा लेना एक मायाजाल ही सिद्ध होगा। तान्त्रिक रहस्यवाद का आश्रयदाता तिब्बत आज पराधीन है। दलित मानसिकता को ऊपर उठाने के लिये जिस

शास्त्र का आविर्भाव हुआ था, आज ऊँची मानसिकता वाला भारतीय प्रबुद्ध वर्ग उसी हीन ग्रन्थि से ग्रस्त है, तो भी वह अपनी अहंमन्यता को छोड़ नहीं पा रहा है। *आज हम वैदिक और तान्त्रिक दोनों धर्मों की अच्छाइयों को भुला बैठे हैं और कालक्रम से प्रविष्ट उनकी बुराइयों से चिपके हुए हैं।*

कबीर और रविदास जैसे सन्त महात्मा जिस समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं, अनेक सिद्धों, सन्तों, नाथों और गुरुओं ने जिसमें जन्म लिया है और हिन्दु धर्म को विश्वजनीन बनाने में जिसका सराहनीय सहयोग रहा है, वह समाज आज परमुखापेक्षी क्यों है? आज की राजनीति नाना प्रकार के संरक्षणों का प्रलोभन देकर उसमें अर्थलोलुपता बढ़ा रही है। बिना पूरी योग्यता अर्जित किये पदप्राप्ति की इच्छा एक नया भ्रमजाल ही सिद्ध होगी। आज दलित जातियों का उद्धार तभी हो सकता है, जबकि भारत की सारी कृषियोग्य भूमि का स्वामित्व वंश, जाति या यान्त्रिक शक्ति से हटकर शारीरिक श्रमशक्ति के साथ जुड़े। आज जमीन का मालिक जिन लोगों के शारीरिक श्रम से अपना और अपने परिवार का पेट पालता है, वही उनको अस्पृश्य भी मानता है। यह कितनी बड़ी कृतघ्नता है।

काश, पूरा हिन्दु समाज उक्त भ्रमजालों से अपने को निकाल पाता और इस धर्मपरिवर्तन की गति को भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट धर्मचक्रप्रवर्तन में बदल देता— बहुजनहिताय नहीं, सर्वमानवमङ्गलाय। समन्वयवादी सनातन धर्म अब भी इसको करने में समर्थ है ॥

●

धर्मनिरपेक्षता एक अवांछनीय शब्द

भारतीय मनीषियों की धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की अवधारणा अतिप्राचीन होते हुए भी चिरनवीन है, किन्तु धर्मनिरपेक्ष भारतीय शासन ने इनमें से प्रथम पुरुषार्थ (धर्म) को तिलांजलि दे दी है और अध्यात्म के ठेकेदारों ने मोक्ष को केवल उत्कृष्ट ज्ञानियों और महायोगियों के लिये ही सुरक्षित कर दिया है। दसवीं सदी के बाद भारतीय चिन्तन की मौलिकता तो समाप्त होती ही चली गई, हमारे अनुवाद में भी कितना भौंड़ापन आ गया, इसका उत्कृष्ट उदाहरण यह धर्मनिरपेक्षता शब्द है। 'सेक्युलर स्टेट' का अनुवाद जिन्होंने धर्मनिरपेक्ष राज्य किया है, लगता है धर्म शब्द की भारतीय आत्मा को पहचानने की उनकी शक्ति को पाश्चात्त्य प्रभाव ने कुंठित कर दिया था। धर्म और संप्रदाय ये दोनों भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के अत्यन्त पवित्र शब्द हैं। इनको देश और काल के प्रभाव से अछूता रख 'सेक्युलर' शब्द के अनुवाद के रूप में नये शब्द की खोज होनी चाहिये।

महाभारत के महान् यशस्वी पात्र विदुर ने धर्म के आठ अंग बताये हैं — इज्या (यज्ञ-याग, पूजा आदि), अध्ययन, दान, तप, सत्य, दया, क्षमा और अलोभ। उनका कहना

है कि इनमें से प्रथम चार अंगों का आचरण मात्र दिखावे के लिये भी हो सकता है, किन्तु अन्तिम चार अंगों का आचरण करने वाला महान् आत्मा बन जाता है। आगम-तन्त्रशास्त्र में पूजा के आन्तर और बाह्य दो प्रकार बताये गये हैं और बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तर (मन) शुद्धि पर अधिक जोर दिया है। हमें मानव मन की शुद्धि के लिये बाह्य आडम्बरों को छोड़ कर धर्म के इस आन्तर स्वरूप पर अधिक जोर देना चाहिये, जिसके आचरण से प्रत्येक मानव मोक्ष का भी अधिकारी बन सकता है। योगभाष्यकार (२.१५) का कहना है कि चिकित्साशास्त्र के समान योगशास्त्र भी चतुर्व्यूह है। जैसे चिकित्साशास्त्र रोग के स्वरूप और उसके कारणों की परीक्षा कर मनुष्य के शरीर को स्वस्थ करता है, उसी तरह से योगशास्त्र भी दुःख के स्वरूप और उसके कारणों की समीक्षा कर मानव मन को उससे छुटकारा दिलाता है। महात्मा बुद्ध ने इस तथ्य का साक्षात्कार चार आर्यसत्य के रूप में किया था और तीर्थंकर महावीर ने हमें अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों की शिक्षा दी थी। महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को नये आयाम दिये हैं।

इन महापुरुषों के द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलने पर ही मानवजाति दुःखों से छुटकारा पा सकती है। महाकरुणा से प्रेरित बुद्धदेव ने निर्वाण मार्ग का परित्याग कर दिया था। स्वामी करपात्री जी महाराज रन्तिदेव की एक उक्ति का उदाहरण दिया करते थे कि मुझे पृथ्वी का राज्य नहीं चाहिये, न मुझे स्वर्ग चाहिये और न मैं मोक्ष की ही कामना करता हूँ। मैं तो मात्र यह चाहता हूँ कि सभी दुःखी प्राणियों का दुःख दूर हो जाय। योगी अरविन्द की कामना है कि मानव मन एक न एक दिन इस स्थिति को अवश्य प्राप्त कर लेगा। श्रद्धेय श्री श्री गोपीनाथ कविराज अखण्ड महायोग को इस ओर बढ़ने के उपाय के रूप में प्रस्तुत करते हैं। मानवजाति आज धर्म, भाषा, राज्य, राष्ट्र आदि के नाम पर अनेक टुकड़ों में बँटी हुई है। कर्मकाण्ड के आधार पर हमने भारतीय ज्ञान को भी वैदिक, बौद्ध, जैन, तान्त्रिक, पौराणिक जैसे टुकड़ों में बाँट दिया है। ''वसुधैव कुटुम्बकम्, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अनलहक'' जैसे वाक्य शास्त्रों की शोभा अवश्य बढ़ा रहे हैं, किन्तु हमारे जीवन पर इनका रंचमात्र भी प्रभाव नहीं है। जब तक इन टुकड़ों से हम अपना पिण्ड नहीं छुड़ा लेते, तब तक यह प्रभाव हमारे ऊपर पड़ने वाला भी नहीं है।

गुरुशिष्यपरम्परा के द्वारा निरन्तर प्रवाहित हो रही ज्ञान की धारा को शास्त्रों में सम्प्रदाय शब्द से कहा गया है। नाम और रूप का भेद होते हुए भी इन सबका गन्तव्य एक ही है। अपनी रुचि के अनुसार किसी एक मार्ग का अनुसरण कर व्यक्ति अपनी यात्रा आरंभ कर सकता है, किन्तु ज्ञान की यह धारा बाह्य आडम्बरों से आई रेती के कारण सूखती नजर आ रही है। इसका कारण है पाश्चात्त्य भौतिकवादी संस्कृति का अन्धानुकरण। भगवद्गीता का कहना है — ''नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते''। यह सही है कि इस पवित्र ज्ञान को कहीं से भी प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु इसको प्राप्त करने से पहले बहुत सावधानी

से हमें देखना होगा कि कहीं हम मृगमरीचिका के पीछे तो नहीं दौड़ रहे हैं। इसके लिये यह बहुत जरूरी है कि इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने से पहले हम ग्यारहवीं सदी की उन परिस्थितियों का सिंहावलोकन कर लें, जिनके चलते यह देश लम्बे समय के लिये पराधीनता की बेड़ी से जकड़ दिया गया।

तान्त्रिक धर्म ने वर्ण, जाति और लिंग के भेद को अस्वीकार कर पूरी मानव जाति को मोक्ष का अधिकारी माना था तथा धर्म के आन्तरिक स्वरूप पर अधिक जोर दिया था। अवतारों के माध्यम से विभिन्न मतवादों में समन्वय का भी प्रयत्न किया गया, किन्तु दसवीं सदी के साहित्य, दर्शन और आगम-तन्त्रशास्त्र के महान् कश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त के बाद यह दृष्टि शिथिल होने लगी और बुद्ध एवं महावीर के साथ जब भारतीय मन एकरस न हो सका, तो कबीर, रविदास, नानक, दादूदयाल जैसे सन्तों की तो बात ही कहाँ उठती है। हाँ, हमने सबके नाम से अपने-अपने घरौंदे अवश्य बना लिये हैं। इसी संकीर्णता के कारण देश तीन टुकड़ों में बँट चुका है और आगे फिर बँटने की तैयारी चल रही है। यूरोप अनेक छोटे-मोटे टुकड़ों में बँटा हुआ है। वह दूसरे देशों को भी इसी शक्ल में देखना चाहता है। हमें अपनी धार्मिक विशालता के अनुरूप एक एकताबद्ध विश्व की कल्पना को साकार करने का प्रयत्न करना चाहिये।

यह तभी सम्भव है, जब हम अपने साहित्य को ग्यारहवीं सदी के साथ जोड़ कर मौलिक रूप से उसे आगे बढ़ावें। महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल ने यह प्रयास किया था। इस प्रयास की अन्तिम कड़ी विश्वनाथप्रसाद मिश्र थे। आज जिस भाषा को हम राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं, उसका प्राचीनता से सम्बन्ध टूट चुका है, जब कि अन्य भारतीय भाषाओं ने ऐसा नहीं होने दिया। पाश्चात्त्य अन्धानुकरण ही हिन्दी भाषा की दुर्दशा का बहुत बड़ा कारण है। साहित्य की ही तरह हमारे दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद के क्षेत्र की भी लगभग यही स्थिति है। साहित्य और दर्शन आदि की अपेक्षा संगीत, नृत्य और चित्रकला के क्षेत्र में हमने अपनी मौलिकता बहुत कुछ बनाये रखी थी, किन्तु अब उधर भी खतरा नजर आ रहा है। ज्योतिष और आयुर्वेद शुद्ध वैज्ञानिक विषय हैं। इन क्षेत्रों में आधुनिक विज्ञान ने जो उन्नति की, उसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। किन्तु ग्यारहवीं सदी तक विकसित भारतीय ज्योतिष और आयुर्वेद की अपनी कुछ मौलिकताएँ हैं। उनके विकास का प्रयत्न होना चाहिये और उनकी रक्षा करते हुए ही हमें आधुनिक चिन्तन के ग्राह्य पक्षों का संग्रह करना चाहिये।

दसवीं-ग्यारहवीं सदी के महान् नैयायिक आचार्य उदयन ने अनेक उदाहरणों के सहारे ह्रासवाद का समर्थन किया था। कलि-काल के दारुण वर्णनों से भयभीत भारतीय मानसिकता

इस विचार से आज भी पूरी तरह से छुटकारा नहीं पा सकी है, जबकि विकासवाद के उद्भावक पाश्चात्त्य जगत् ने विविध क्षेत्रों में असीम उन्नति कर ली है। नेत्रतन्त्र (मृत्युञ्जयभट्टारक) का कहना है कि भगवान् शिव के साम्राज्य में कृत, त्रेता आदि युगों की प्रवृत्ति नहीं होती। इस शास्त्रीय वचन के आधार पर हमें कलिकाल की अर्गला से अवरुद्ध अपनी मानसिकता के विकास को नया आयाम देना चाहिये। तभी हम आध्यात्मिक उन्नति की ओर आगे बढ़ सकेंगे।

जातिवाद और ब्राह्मणवाद के खिलाफ आवाज बुलन्द करने वाली आज की वोट-बटोरू राजनीति मुसलमान, सवर्ण और असवर्ण आदि भेदों को बढ़ावा दे रही है। मानवतावादी दृष्टिकोण के विकास की बात तो दूर, एक अखण्ड भारतीयता को भी विकसित नहीं होने दिया जा रहा है। विद्या के पवित्र मन्दिरों में अपने पालतू गुर्गों को बैठा कर ये वहाँ के वातावरण में भी जहर घोल रहे हैं। इन तथाकथित राजनेताओं के ही चलते अनेक तान्त्रिक योगी पनपने लगे हैं। कुछ पत्रकार भी इन तान्त्रिक गुरुओं को बढ़ावा देने में पीछे नहीं हैं। वैदिक कर्मकाण्ड को तो हम भुला बैठे हैं, किन्तु तान्त्रिक कर्मकाण्ड की बड़ी चाव से चर्चा की जाती है। हमें इस बात को पूरी तरह से याद रखना चाहिये कि ग्यारहवीं सदी के आरम्भ में आज की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और कर्मठ तान्त्रिक इस देश में विद्यमान थे, किन्तु उनके देखते ही देखते यह देश पराधीन हो गया। तान्त्रिक कर्मकाण्ड हमको पाँच हजार वर्ष पीछे ले जायगा और वह हमको सामान्य मानवीय मूल्यों से भी वंचित कर देगा। घृणा, द्वेष और क्रूरता किसी देश या जाति को आगे नहीं बढ़ा सकती।

यदि हमें ईमानदारी से धर्म के आन्तरिक स्वरूप को समझना है, तो सभी मतों के विरोधी कर्मकाण्डों को छोड़कर राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, जरथुष्ट्र, ईसामसीह, हजरत मुहम्मद तथा सन्तों और गुरुओं के उन उपदेशों का सार संगृहीत करना होगा, जो मानव मन का विस्तार कर मनुष्य को मनुष्य बना सकते हैं। तभी हम स्वयं भी शान्ति से रह सकेंगे और पूरी मानवता को भी शान्ति का संदेश सुना पावेंगे।

जैसा कि ऊपर बताया गया, भारतीय दर्शन और संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों को स्वीकारा गया है। इसमें धर्म का पहला स्थान है। धर्म के बिना अर्थ और काम अनियन्त्रित हो जाते हैं, जैसा कि आजकल हो रहा है। सिनेमा और टेलीविजन इसमें घी की आहुति दे रहे हैं। इन माध्यमों से समाज को सुसंस्कृत किया जा सकता है, किन्तु धर्मनिरपेक्षता हमें ऐसा नहीं करने दे रही। स्मृतिकारों ने धर्म के लक्षण में सन्तोष, दया, क्षमा, सत्य, अस्तेय आदि उत्कृष्ट नैतिक मूल्यों का समावेश किया है। 'धर्म' शब्द 'मजहब' का वाचक न होकर उन्हीं मानवीय गुणों को अपने में समेटता है। आजकल की नैतिकता से हम इसकी कुछ मानों में तुलना कर सकते हैं, किन्तु नैतिक मूल्यों की सत्ता वर्तमान जीवन तक ही सीमित है, जब कि धर्म का सम्बन्ध इस लोक के साथ परलोक

से भी है। *निश्चित रूप से धर्मनिरपेक्षता समाज और व्यक्ति को उच्छृंखल बनाने के सिवाय और कुछ न कर सकेगी।*

अंग्रेजी के 'सेक्युलर स्टेट' के पर्याय के रूप में यह शब्द गढ़ा गया है। क्या भारतीय भाषाएँ इतनी कमजोर हो गई हैं कि एक 'सेक्युलर' शब्द के लिये 'धर्म-निरपेक्ष' जैसे दो शब्द गढ़े जाँय और ये शब्द भी ऐसे, जो भारतीय संस्कृति को ही पंगु बना दें। अंग्रेजी चश्मे से भारतीय संस्कृति को देखने वालों से हम और आशा भी क्या रख सकते हैं? जहाँ तक अंग्रेजी के 'सेक्युलर स्टेट' शब्द की मूल मंशा है, उसका अभिप्राय यह है कि ऐसा राज्य जो व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के परलोक सम्बन्धी विचारों में किसी तरह का दखल दिये बिना केवल उसके वर्तमान जीवन की सुख-सुविधा की चिन्ता करे। *इस अभिप्राय को व्यक्त करने में 'लोकराज्य' शब्द अधिक सशक्त है।*

चार्वाक दर्शन स्वर्ग, नरक, आत्मा, ईश्वर आदि की सत्ता नहीं मानता। वह प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण को भी स्वीकार नहीं करता। आज भी न्यायालय में चश्मदीद गवाह को ही मान्यता प्राप्त है। न्यायाधीश अनुमान के सहारे कोई निर्णय नहीं कर सकता। इस दर्शन की पृष्ठभूमि में 'लोकराज्य' का अर्थ वही होगा, जो 'सेक्युलर स्टेट' से निकलता है। यह लोकराज्य वास्तव में जनता का होगा, नेताओं का नहीं। आज तो धर्मनिरपेक्षता अल्पसंख्यकों के धर्म तक सीमित है, बहुसंख्यकों के धर्म के साथ तो यह निरन्तर छेड़-छाड़ किया करती है। *राष्ट्र के कल्याण के लिये यह आवश्यक है कि जितनी जल्दी हो सके हम इस शब्द से अपना पिण्ड छुड़ा लें और 'लोकराज्य' में पूरी भारतीय प्रजा के ऐहलौकिक कल्याण के लिये बिना किसी भेदभाव के समान नियमावली बना लें ।।*

●

भारतीय संस्कृति : साधक-बाधक तत्त्व

भारतीय संस्कृति का स्वरूप क्या है? इसकी अपेक्षा हमारे सामने अहम सवाल यह है कि इसका स्वरूप कैसा होना चाहिये? भारतीय संस्कृति के विशाल कालव्यापी स्वरूप के प्रखर व्याख्याता डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने भारतीय संस्कृति की सात धाराओं की चर्चा की थी। उन्होंने उनके नाम इस प्रकार दिये थे —— १. वैदिक, २. औपनिषद, ३. जैन, ४. बौद्ध, ५. पौराणिक, ६. सन्तधारा और ७. इस्लाम-ईसाइयत आदि। प्रथम दो धाराओं पर उनके विचार दो ग्रन्थों के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे पौराणिक धारा पर लिख रहे थे। हमारा दुर्भाग्य है कि उनके ये विचार हमारे सामने पुस्तक के रूप में न आ सके। उनके इस अध्ययन का हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अभिनव भारतीय संस्कृति के निर्माण में इन सभी धाराओं का समन्वय उन्हें अभीष्ट था।

भारत में दो परस्पर विरोधी विचारधाराएँ एक साथ पनपती रही हैं। प्रथम रूढ़िवादी विचारधारा के अनुसार वेद के सिवाय बाकी सारा वाङ्मय अप्रामाणिक माना गया है, जब कि दूसरी उदारवादी विचारधारा के अनुसार वेद के साथ सांख्य, योग, पांचरात्र (वैष्णव) और पाशुपत (शैव) मतों का ही नहीं, बौद्ध और जैन दर्शनों का भी समावेश छः दर्शनों में किया गया है। आगम, तन्त्रशास्त्र और पुराण साहित्य का विकास इसी दृष्टिकोण के आधार पर हुआ है। इसीलिये सन्त तुलसीदास ने अपने महनीय ग्रन्थ रामचरितमानस को नानापुराणनिगमागम-संमत माना है। भारतीय संस्कृति की सन्तधारा में हमें इन सब धर्मों और मत-मतान्तरों का समन्वित स्वरूप देखने को मिलता है।

किन्तु इससे हमें यह समझने की गलती नहीं कर बैठना चाहिये कि पूरे भारतीय समाज को यह स्वरूप मान्य हो गया था। वैदिक वर्णाश्रमव्यवस्था आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। रामायण, महाभारत आदि में इसको नकारा नहीं गया है। अन्यथा सिक्ख सम्प्रदाय के आविर्भाव की कोई आवश्यकता ही न रह जाती। श्रमण और ब्राह्मण के विद्वेष को हवा देने वालों की आज भी कोई कमी नहीं है। विगत १००-१५० वर्षों का सुधारवादी आन्दोलन भी वैदिक संस्कृति के संकीर्ण उपादानों का पोषक रहा है। कुछ अपवाद अवश्य हो सकते हैं। शैव और वैष्णव धर्म के समान जैन और बौद्ध धर्म के साथ हम पूरी तरह से समरस नहीं हो सके। अब तो सिक्ख धर्म को भी अलग से मान्यता मिल चुकी है। इस पृष्ठभूमि में जब हम इस्लाम और ईसाई धर्म की बात सोचते हैं, तो हमारी आँखों के सामने अंधेरा छा जाता है कि क्या आज की परिस्थिति में हम एक अखण्ड भारतीय संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं?

सहिष्णुता और समन्वय भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। इस विशेषता का विकास यदि हम पूरी ईमानदारी के साथ सारी भारतीय प्रजा में कर सकें, तो यह संभव है, ऐसा हमारा विचार है। धर्म की भिन्नता हमारे लिये कोई समस्या नहीं है, समस्या है विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में व्याप्त आपसी घृणा। इस घृणा को हटाने के लिये हमें भारतीय संस्कृति के साधक और बाधक तत्त्वों की समीक्षा करनी होगी। हमारी समझ में बाधक तत्त्वों की समीक्षा के बाद साधक तत्त्वों को उपस्थापित करना ठीक रहेगा।

बाधक तत्त्व

१. जैन और बौद्ध परम्परा पर उपनिषदों एवं सांख्य-योग दर्शन के तथा भागवतों और पाशुपतों की प्राचीन परम्परा के प्रभाव का तथा महाभारत और पुराण साहित्य पर शैव और वैष्णव मतों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन मतों के प्रभाव का अभी तक सही मूल्यांकन नहीं हो पाया है। बौद्ध मत के साथ तान्त्रिक दर्शन की पूरी उपेक्षा भारतीय संस्कृति का पहला बाधक तत्त्व है।

२. धर्मान्तरण और धार्मिक हठवादिता को प्रोत्साहन संस्कृति का दूसरा बाधक तत्त्व है। प्रो० मुकुटबिहारीलाल ने किसी मुस्लिम राजनेता को उद्धृत करते हुए लिखा था कि *मुट्ठी भर पारसी सैकड़ों वर्षों से यहाँ शान्ति से रह रहे हैं। उनके सामने कोई खतरा नहीं आया, तो करोड़ों की संख्या में फैले मुसलमानों के सामने खतरा कहाँ से आने वाला है?* यह सोचने की बात है। वास्तव में इस्लाम के सामने कोई खतरा नहीं है, किन्तु इस्लाम धर्म की मध्यकालीन सर्वक्षार प्रवृत्ति उसका पिण्ड नहीं छोड़ रही है। वह अब भी पूरे संसार पर छा जाने का सपना देख रही है। इस प्रवृत्ति के रहते एक भारतीय संस्कृति केवल स्वप्नविलास है।

३. यूरोप अपने तो अनेक टुकड़ों में बँटा ही है, यहाँ भी उसने आर्य-द्रविड़ सरीखे अनेक विवादों को जन्म देकर अलगाव के बीज बो दिये हैं। रही-सही कमी की पूर्ति पूरे भारत में फैली ईसाई मिशनरियाँ कर रही हैं। प्राचीन भारत की बौद्ध भिक्षुओं की निःस्वार्थ सेवाभावना से ये कोसों दूर हैं। कम्युनिस्टों का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वर्गविद्वेष और हिंसा की आग को हवा दे रहा है। कम्युनिज्म से प्रभावित भारतीय रचनाकार प्राचीन भारतीय साहित्य से पिण्ड छुड़ाकर यूरोप और अमेरिका की दौड़ में शामिल हो गये हैं। हिन्दीभाषी क्षेत्र इनमें सबसे आगे है। कबीर इनकी दृष्टि में स्वयंस्फूर्त प्रतिभा है। इस तरह का निराधार अध्ययन संस्कृति का तीसरा बाधक तत्त्व है।

४. बाबरी मस्जिद-रामजन्म भूमि विवाद ऐसे साहित्यकारों की दृष्टि में धार्मिक प्रश्न है और धर्म को तो कम्युनिस्ट अफीम मानते ही हैं। वास्तव में यह धार्मिक प्रश्न न होकर नैतिक प्रश्न है। अन्धी धार्मिकता के नाम पर किये गये इस प्रकार के अतिक्रमणों को जब तक हटाया नहीं जायगा, तब तक हठवादिता को ही प्रश्रय मिलता जायगा और बची-खुची सहिष्णुता और समन्वय के स्रोत भी सूखते चले जायेंगे। इस्लाम की हठवादिता को घटाने तथा उसके भाई-चारे के क्षेत्र को बढ़ाने का एक मात्र उपाय है — इन सब पुराने अतिक्रमणों को समाप्त करना। इस्लाम का भाई-चारा क्या अपने घरौंदे तक ही सीमित रहेगा? इस तरह की समस्याओं का समाधान न हो पाना संस्कृति का चौथा बाधक तत्त्व है। वोट बटोरने वाली क्षुद्र राजनीति इस शुभ कार्य को नहीं होने दे रही है।

इन बाधक तत्त्वों से निजात पाने के लिये हमें ऐसे साधक तत्त्वों की खोज करनी होगी, जो पूरे भारतीय समाज को एक सुदृढ़ आधार दे सकें, उसे एकता के धागे में पिरो सकें।

साधक तत्त्व

१. हम देखते हैं कि संगीत, नृत्य, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं के क्षेत्र में पूरा राष्ट्र एकरस हो चुका है। जब बहादुरशाह 'जफर' कहता है कि मुझे दफन होने के लिये दो गज जमीन अपने वतन में न मिली, तो पूरा राष्ट्र अपने बहते हुए आँसुओं को रोक नहीं पाता।

अकबर और दाराशिकोह के दिखाये मार्ग से हम इस तरह की एकता की ओर आगे डग भर सकते हैं।

२. पूरे भारत में फैले पवित्र तीर्थों, नदियों, पर्वतों और सुन्दरतम प्राकृतिक दृश्यों से भरपूर इस महान् देश के साथ हम पूरी तन्मयता के साथ अपनी ममता को अनायास मोड़ सकते हैं। आधुनिक इतिहास के समान हम यहाँ के मध्यकालीन और प्राचीन इतिहास के साथ भी अपना नाता जोड़ सकते हैं? वैदिक वाङ्मय और संस्कृत भाषा आज प्राचीनतम साहित्य और भाषा के रूप में पूरे विश्व में मान्य हो चुके हैं। सभी भारतीय भाषाओं में आज भी संस्कृत भाषा सर्वाधिक मान्य और व्यवहार्य है। इसका आदर करना तो हम सीख ही सकते हैं।

३. गीता कहती है कि सभी महान् विभूतियाँ और तेजस्वी व्यक्तित्व भगवान् के ही अंश हैं। इस संसार के सभी धर्म-प्रवर्तकों, आचार्यों और अवतारों के प्रति अपना आदरभाव प्रकट कर सकते हैं।

४. कुछ पूर्वाग्रहों को छोड़कर यदि हम पर्वों को मनावें, झगड़ा करने की मंशा के बिना उत्सवों का आयोजन करें, तो इन अवसरों पर कटुता और हिंसा का वातावरण स्वत: धीरे-धीरे समाप्त हो सकता है। मस्जिदों के पास बाजे बजाना, कुर्बानी के लिये गाय को चुनना, एक-दूसरे के खिलाफ नारेबाजी करना जैसे दुराग्रहों को हम अनायास छोड़ सकते हैं।

५. यहाँ रह रहे समुदायों में परस्पर के प्रति कुछ निराधार अथवा साधार आशंकाएँ घर कर बैठी हैं। पाकिस्तान के बनने से वे और गहरा गई हैं। पाकिस्तान के और पाकिस्तानी मनोवृत्ति के रहते हुए भी हम इन आशंकाओं के निराकरण का रास्ता खोज सकें, तो अवश्य ही एक भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकता है ।।

●

एक राष्ट्र, एक संस्कृति, एक भाषा

धर्म और संस्कृति के आधार पर भारत का और फिर भाषा के आधार पर पाकिस्तान का विभाजन हो जाने के बाद भी भारत में एक संस्कृति और एक भाषा के विषय में सोचने को कोई तैयार नहीं हो रहा है। भारतीय जनता पार्टी दबी जबान से एक संस्कृति की चर्चा अवश्य करती है, किन्तु भाषा के विषय में वह भी चुनावी माहौल के इर्द-गिर्द ही घूम रही है। यह देश एक हजार वर्ष पहले की अपनी चिन्तनधारा से अभी भी जुड़ नहीं पा रहा है और भारतीय संस्कृति पर अरब और पाश्चात्य देशों से हो रहे हमलों से बेखबर है। हमारे ऊपर नेहरू संस्कृति का जो नशा चढ़ा हुआ है और राम-भक्तों को हिन्दु आतंकवादी बताने

वाला ब्रिटिश प्रचार-तन्त्र उस नशे को न उतरने देने के लिये जी-जान से जुटा हुआ है। भारतीय पत्रकारिता भी इसके चंगुल से अपने को बचा नहीं सकी है।

भारतीय संस्कृति में शब्द की अपार महिमा गाई गई है। भूः, भुवः और स्वः शब्द से ही पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की सृष्टि हुई, ऐसी मान्यता उपनिषदों की है। हमारे कम्युनिस्ट भाई तो यह भी नहीं जानते होंगे कि यह उपनिषत् क्या बला है? उसके विपरीत पूरा चिन्तनशील विश्व आज भी यह मानता है कि उपनिषदों का आध्यात्मिक ज्ञान मानवीय उत्कृष्ट विचारों का अद्भुत खजाना है। करुणा रस को उत्कृष्टतम कोटि में पहुँचा देने वाले महाकवि भवभूति का इस प्रसंग में कहना है कि सामान्य मनुष्य की वाणी अर्थ का अनुसरण करती है, किन्तु वही अर्थ ऋषियों-मुनियों की वाणी का अनुगमन करता है, अर्थात् जैसा ये लोग कहते हैं, वैसा ही बाद में घटित हो जाता है। शब्द की इस महिमा के प्रसंग में आजकल के धर्मनिरपेक्ष शब्द को हम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

न मालूम किस बुरी घड़ी में 'सेक्युलर' शब्द का यह असांस्कृतिक अनुवाद किया गया, जिसने भारतीय संस्कृति की जड़ों में मट्ठा पिलाना शुरू कर दिया। चार वर्ण, चार आश्रम और चार पुरुषार्थों की व्यवस्था केवल भारतीय प्रजा के लिये ही नहीं, पूरे विश्व में सुख और शान्ति की स्थापना के लिये उपयोगी है, इस बात को पूरे आत्मविश्वास और निर्भीकता के साथ प्रचारित किया जाना था, किन्तु एक हजार वर्ष की परतन्त्रता और बाह्य अपसंस्कृतियों की चकाचौंध के कारण *भारतीय राजनीतिज्ञों में हीनभावना पूरी तरह से पैठ चुकी है और उन्होंने चार पुरुषार्थों में प्रथम धर्म को ही देश से निकाल बाहर करने में सारी ताकत लगा दी है तथा देश को अर्थ की अन्धी दौड़ में फँसा दिया है।*

धर्म शब्द भारतीय धर्मशास्त्रों के अनुसार आधुनिक सारे नैतिक गुणों का एक पुंजीभूत स्वरूप हैं। इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष का अर्थ होता है नैतिकताविहीन समाज, अर्थ का दास समाज। यह 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का ही प्रभाव है कि इस शब्द की दुहाई देने वाले राजनीतिज्ञ नैतिकताविहीन होते चले जा रहे हैं। राष्ट्र की इनको चिन्ता नहीं है, सत्ता में आने के साथ इनको यह चिन्ता सताने लगती है कि यह कुर्सी हमारे ही पास किस तरह से बनी रहे। हमने अभी-अभी इस तरह की दो राजनीतिक पार्टियों को देखा है। अपनी पूरी जोर-जबरदस्ती और अहंमन्यता के बावजूद अब ये सत्ताच्युत कर दी गई हैं। किन्तु इतने मात्र से भारत राष्ट्र की समस्याओं का तब तक कोई समाधान नहीं हो सकता, जब तक कि इस राष्ट्र को एक संस्कृति और एक भाषा के ठोस धरातल पर खड़ा नहीं किया जाता।

इधर कुछ राजनीतिक दल विकृत धर्मनिरपेक्षता को हटाने की बात करने लगे हैं, किन्तु यह सोचने की बात है कि धर्मनिरपेक्षता तो सदा विकृत ही होती है, वह अविकृत कभी हो ही नहीं सकती। इस देश का जब तक इस शब्द से पिण्ड नहीं छूटेगा, तब तक

एक संस्कृति की बात करना बेकार है। यह प्रसन्नता की बात है कि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में यह शब्द प्रयुक्त नहीं होता। वहाँ 'सेक्युलर' शब्द का अनुवाद 'बिन सम्प्रदाय' किया गया है। यदि हमें भारत में एक संस्कृति की स्थापना करनी है, तो सबसे पहले हमें इस 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द से पूरे प्रचारतन्त्र को मुक्त करना होगा और 'सेक्युलर' शब्द का पर्यायवाची कोई एक नया शब्द तलाशना होगा। हमने 'सेक्युलर स्टेट' के लिये 'लोकराज्य' शब्द का सुझाव दिया है (पृ. १५२)।

भारतीय राजनीतिज्ञों की धर्मनिरपेक्षता ने सारी पुरानी मान्यताओं को तहस-नहस कर दिया है। नये आधारों की खोज हम नहीं कर पाये हैं और आयातित विचारों ने भाँति-भाँति के 'स्तानों' और 'लैण्डों' के नाम से देश को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँट देने के लिये हमें आमादा कर दिया है। एक भाषा के रूप में हिन्दी को कभी की मान्यता मिल जानी चाहिये थी, किन्तु पाश्चात्त्य विद्वानों के द्वारा कल्पित आर्य और द्रविड़ विवाद ने इस कार्य को अभी तक पूरा नहीं होने दिया है। मान लिया जाय कि कभी यह विवाद हुआ था, किन्तु आज उसका क्या प्रसंग है? आज की भारतीय संस्कृति के तो प्रवक्ता शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ जैसे दक्षिण के द्रविड़ाचार्य ही हैं। दक्षिण के आलवार और नायनार, वैष्णव और शैव सन्तों के द्वारा प्रचारित उस भक्ति सम्प्रदाय का ही तो सारे भारत में विस्तार हुआ है, जिसमें कि लिंग और वर्ण का भेदभाव किये बिना ''हरि को भजे सो हरि को होई'' जैसे उदात्त सिद्धान्तों की स्थापना हो सकी और जिसने हमें रामानन्द, कबीर, रैदास, मुक्ताबाई, मीराबाई, रहीम, दादूदयाल जैसे भक्त-सन्तों को दिया। सूफी सन्तों और गुरु नानकदेव की परम्परा भी इससे भिन्न नहीं है। मोहनदास करमचन्द गांधी को महात्मा कहा गया और डॉ० भीमराव अम्बेडकर को आधुनिक मनु का खिताब दिया गया, यह भी तो इसी परम्परा की देन है। तब क्यों हम पाश्चात्त्य विचारों से अभिभूत हो आज अपनी मातृभूमि को ही टुकड़ों-टुकड़ों में बाँट देने के लिये उतावले हो उठे हैं?

प्रश्न आस्था का है। एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक भाषा की हमारी आस्था डगमगा गई है। हम अपनी अपार अनोखी सांस्कृतिक धरोहर को भुला बैठे हैं। आधुनिक प्रचारतन्त्र ने हमारी वही गति कर दी है, जो कि पंचतन्त्र के उस ब्राह्मण की हुई थी, जिसे गाय के बछड़े को बकरी का बच्चा बता कर ठग लिया गया था। आज भी ब्राह्मणवाद का भूत दिखा कर भारतीय प्रजा को ठगा जा रहा है। आर्य और द्रविड़ विवाद तो कल्पना पर भी आधारित हो सकता है, किन्तु ब्राह्मणवाद और श्रमणवाद का सचमुच कभी यहाँ बोलबाला था। इसको हम नकार नहीं सकते कि ब्राह्मण और श्रमण (प्रधानत: जैन और बौद्ध) विचारधारा में एक लंबा संघर्ष छिड़ा, किन्तु साथ ही इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि यह संघर्ष विचारों का था और इसने अनेक उत्कृष्ट भारतीय मनीषियों को जन्म दिया। ये सभी, भले ही वे ब्राह्मण हों, जैन हों या बौद्ध, हमारे पूर्व पुरुष हैं, वन्दनीय हैं, श्लाघनीय हैं और

उन्हीं के कारण यह भारत देश आज भी विचारों के क्षेत्र में उदारता, सहिष्णुता और समन्वय की प्रक्रिया में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस प्रक्रिया को भी आज के राजनीतिज्ञ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अभिभूत हो नष्ट कर देना चाहते हैं और सर्वत्र संघर्ष के बीज बोते चले जा रहे हैं।

भारतीय संस्कृति की आगम और पुराण धारा ने इस तथाकथित ब्राह्मण और श्रमण के झगड़े को कभी का समाप्त कर दिया है और एक स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा की है, जिसमें कि जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि उस समय भारत में प्रचलित सभी सम्प्रदायों के उदात्त तत्त्वों का समावेश किया गया है। शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन की एवं बौद्ध विज्ञानवाद की प्रत्यभिज्ञा दर्शन के रूप में नई व्याख्या प्रस्तुत की गई है और आज का सूफीवाद भी उससे प्रभावित है। यहाँ जातिवाद को, उसमें घुसी ऊँच-नीच की दृष्टि को पूरी तरह से नकार दिया गया है।

इतना सब होते हुए भी आज का प्रचारतन्त्र ब्राह्मणवाद के भूत को प्रचारित करता चला आ रहा है। भारतीय जनता पार्टी ने बाबरी मसजिद को स्थानान्तरित करने की बात कही थी, गिराने की बात कभी नहीं कही। उसका हिन्दु राष्ट्र का सिद्धान्त भी केवल शब्द का झगड़ा है, उसका अभिप्राय भारत को एक राष्ट्र की मान्यता दिलाना मात्र है। इस सत्य को नकार कर इस पार्टी पर भाँति-भाँति के मिथ्या आरोप लगा कर राजनीति के क्षेत्र में इस दल को अछूत सिद्ध करने के लिये केवल विदेशी प्रचार-माध्यम और भारतीय राजनीतिज्ञ ही नहीं, भारतीय पत्रकारिता भी पूरी तरह से जुटी हुई है। स्वर्ण मन्दिर में सेना का प्रवेश श्रीमती इन्दिरा गांधी का एक सही निर्णय था और उनकी निर्मम हत्या के बाद हुए दंगे मानवीय भावनाओं का सही उबाल, किन्तु इस प्रसंग में भारतीय पत्रकारिता का बड़ा अजीब रूप सामने आया। आज भारतीय पत्रकारिता पंजाब की समस्या के लिये भारतीय राजनीतिज्ञों को दोषी ठहराने के लिये जी-जान से जुटी हुई है। काश, थोड़ा वे अपने अन्तर को भी टटोलते कि सिख भावना के आहत होने की और मरहम पट्टी की बात का प्रचार कर उन्होंने राष्ट्र की एकता को तोड़ने में कितना बड़ा योगदान किया है। भारतीय पत्र-व्यवसाय किसी न किसी तथाकथित धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक दल या विचारधारा के हाथों बिका हुआ है। उसमें स्वतन्त्र चेतना की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस अन्धेरगर्दी में बेचारा बुद्धिजीवी किस खेत की मूली है, वह भी तो इन्हीं के हाथों की कठपुतली है।

भारत की आज की समस्याओं का समाधान करने के लिये हमें एक हजार वर्ष पहले की भारतीय चिन्तनधारा से जुड़ना होगा और कल्पित अथवा अकल्पित आर्य-द्रविड़, ब्राह्मण-श्रमण जैसे विवादों से हमें दूर रहना होगा। तभी हम आज की हिन्दु-मुस्लिम समस्या का समाधान कर पावेंगे, अन्यथा नहीं। एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक भाषा की समस्या का समाधान भी हम तभी कर सकेंगे ।।

धर्म और संस्कृति का अन्तर पहिचानिये

धर्म शब्द का प्रयोग यहाँ अंग्रेजी के 'रिलीजन' के अर्थ में किया गया है। यों हम सब जानते हैं कि भारतीय 'धर्म' शब्द में समस्त नैतिक मूल्यों का ही नहीं; धृति, क्षमा आदि उत्कृष्ट मानवीय आध्यात्मिक गुणों का भी समावेश माना जाता है। उस धर्म की चर्चा हम छोड़ देते हैं और तथाकथित राजनेताओं द्वारा बहु प्रचारित 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द में प्रयुक्त होने वाले 'धर्म' की मात्र यहाँ चर्चा करना चाहते हैं, क्योंकि धर्मनिरपेक्ष ताकतों को एकजुट होने के लिये राजनीतिक नेताओं का ही नहीं, बुद्धजीवियों का भी आह्वान किया जाता है और इस तरह से अधिसंख्य भारतीय प्रजा को बरगलाने का, उसको पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न भारतीय धर्म को ही नहीं, भारतीय संस्कृति को भी नष्ट कर देने के लिये किया जा रहा है।

हम मानते हैं कि उक्त परिभाषा के अनुसार आज भारत अनेक धर्मों का देश है। विविध धर्मों और सम्प्रदायों का अनुवर्तन करने वाली प्रजा यहाँ निवास करती है। पर प्रश्न यह है कि क्या भारत में यह स्थिति आज ही पैदा हुई है? वस्तुतः भारत तो बहुत पहले से अनेक धर्मों और दर्शनों का देश रहा है। इनके पारस्परिक विग्रह और फिर एकजुट हो जाने के प्रयोगों को भी हमने देखा है।

ऐसा पहला महान् प्रयोग महाभारत काल में हुआ था। केवल वेदों को ही प्रमाण मानकर बाकी सभी मत-मतान्तरों (सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध-जैन, पांचरात्र-पाशुपत) को अवैदिक, अत एव अप्रमाण मान लिया गया था, किन्तु महाभारतकार ने केवल वेदों को ही नहीं, उनके स्थान पर कृतान्तपंचक (सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेद) को समान रूप से प्रमाण माना। दूसरा प्रयोग आचार्य शंकर ने किया। प्रपंचसार के माध्यम से शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित कर इन्होंने स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा की और उनकी दी हुई यह व्यवस्था आज भी कायम है।

आज भारत को पुनः उसी तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। भारत में उपजे धर्मों के अतिरिक्त बाहर से आये धर्मों में आज उसी तरह की अथवा उससे भी निकृष्ट कोटि के संघर्ष की स्थिति है। क्या इनमें सहिष्णुता के आधार पर पुनः समन्वय स्थापित करने की हमारी सामर्थ्य चुक गई है? वास्तव में ऐसा है नहीं, किन्तु ऐसा करने से पहले हमें धर्म और संस्कृति का अन्तर पहिचानना होगा। ऊपर बताये गये सभी धर्म या सम्प्रदाय यहाँ किसी न किसी रूप में अब भी स्थित हैं और सहिष्णुता के आधार पर समन्वय की ओर अग्रसर उदार विचारधारा भी। पहली परम्परावादिनी विचारधारा को धर्म के नाम से और दूसरी उदारवादी प्रवृत्ति को हम संस्कृति के नाम से पहिचान सकते हैं। हमने आज धर्म और संस्कृति को एक मान कर संस्कृति की पहिचान को ही समाप्त कर दिया है।

ऊपर के अर्थ में धर्म एक स्थिर तत्त्व है, जब कि संस्कृति में स्थिरता (निरन्तरता) के साथ परिवर्तनशीलता भी जुड़ी हुई है। इस तत्त्व को भारतीय संस्कृति में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। महाकवि कालिदास का कहना है कि पुराना सब कुछ अच्छा ही है और नया सब कुछ खराब ही है, ये दोनों ही बातें गलत हैं। समझदारी इसमें है कि हमें पुराने और नये विचारों को कसौटी पर कसना चाहिये। भगवान् बुद्ध का कथन है कि जैसे सुवर्ण के खरे-खौटेपन को कसौटी पर कस कर पहचाना जाता है, उसी तरह से मेरी बातों को भी परीक्षा के उपरान्त ही ग्रहण किया जाय। भारतीय संस्कृति के इस तत्त्व को हमें हृदयंगम करना चाहिये। समाजवादी आन्दोलन के महान् चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति के इसी स्वरूप को उजागर किया था। संस्कृति के इस उदात्त तत्त्व के आधार पर ही आज हम पुन: वर्तमान काल में भारत में प्रवृत्त धर्मों में सामंजस्य बिठा सकते हैं। अधिसंख्य भारतीय प्रजा इसी दृष्टिकोण का अनुवर्तन करती है।

इस पवित्र कार्य को आज के राजनेतागण नहीं होने दे रहे हैं। पाश्चात्त्य संस्कृति, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, नेहरूवाद और लोहियावाद से प्रभावित ये राजनेता अपनी बोट-बटोरू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भारतीय संस्कृति को ही नहीं, सामान्य नैतिकता को भी तिलांजलि देकर अल्पसंख्यकों, दलितों और अधिसंख्य भारतीय प्रजा को भीषण संघर्ष की आग में झोंक देना चाहते हैं, किन्तु यह निश्चित है कि सन्तों, नाथों, सिद्धों, गुरुओं और सूफियों के उपदेशों से प्रभावित भारतीय प्रजा इनके चंगुल में नहीं फँसने वाली है। एक न एक दिन यह प्रबुद्ध भारतीय प्रजा ही इन पथभ्रष्ट नेताओं को सही रास्ते पर ले आवेगी। प्रत्येक चुनाव में यह इन तथाकथित राजनेताओं को एक झटका देती है, किन्तु ''फिसल पड़े तो हर गंगा'' कह कर ये फिर अपनी फन फैला कर उठ खड़े होते हैं।

लोकसभा में धर्मस्थल-विधेयक को पारित कराना और अगले ही दिन दिल्ली में वोट क्लब पर दलितों के आरक्षण के नाम पर भारतीय समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को वर्गविद्वेष की आग में झोंक देने का प्रयत्न क्या धर्मनिरपेक्षता के नाम पर भारतीय संस्कृति का हनन नहीं है? क्या हम वोट बटोरने के लिये इतने अन्धे हो गये हैं कि देश के भविष्य के विषय में सोचना ही बन्द कर दिया है? इन तथाकथित नेताओं के चलते धर्मनिरपेक्षता से हमारा पिण्ड जल्दी से छूटने वाला नहीं है। एक प्रकार से यह भारतीय संस्कृति पर बाह्य अपसंस्कृतियों का आक्रमण है। सभी तथाकथित धर्मनिरपेक्ष ताकतें भारतीय धर्मों को ही नहीं, भारतीय संस्कृति को भी जड़-मूल से उखाड़ फैंकने के लिये एक जुट हो गई हैं। उनको भारत के बहुसंख्यकों का धर्म दुनिया भर की सबसे निकृष्ट सभ्यता का प्रतीक प्रतीत होता है।

प्राचीन भारत की वेद को प्रमाण मानने वाली और न मानने वाली दो तरह की परम्पराओं की तरह आजकल धर्मपरिवर्तन में विश्वास करने वाली और न विश्वास करने वाली दो तरह

की विचारधाराएँ स्पष्ट परिलक्षित हो रहीं हैं। तथाकथित भारतीय राजनीतिज्ञ बिना सोचे-समझे, केवल अपनी स्वार्थपूर्ण राजनीति को चलाने के लिये, जो भारतीय धर्मों और सम्प्रदायों की समालो़चना करते हैं, उससे इन प्रतिगामी धर्मपरिवर्तनवादिनी ताकतों को ही बल मिलता है, जो कि प्रच्छन्न रूप से भारतीय संस्कृति को उखाड़ फैंकने में लगी हैं। फलत: मध्यकालीन बर्बरता और अर्थलोलुपता को बढ़ाने वाले संस्कार तीव्र गति से भारतीय प्रजा में पनपने लगे हैं।

जैसी कि अभी हमने ऊपर चर्चा की, एक अल्पसंख्यक समुदाय को सन्तुष्ट करने के लिये धर्मस्थल-विधेयक को कानून का जामा पहनाने का प्रयत्न किया गया है। यह कार्य भी धर्मनिरपेक्षता के नाम पर ही किया जा रहा है, जब कि इससे बढ़ कर धर्मसापेक्ष कार्य कोई हो ही नहीं सकता। मध्यकालीन बर्बरता के अनुयायी आक्रमणकारियों ने धर्म के नाम पर असंख्य धर्मस्थलों को विकृत कर दिया। उस विकृत मानसिकता के प्रतीक इन स्थलों की सुरक्षा के नाम पर क्या हम मानवीय उदात्त गुणों की अपेक्षा धार्मिक बर्बरता को प्रश्रय नहीं दे रहे हैं? क्या हम इस प्रकार से भारतीय संस्कृति के सहिष्णुता, समन्वय जैसे मूल उपादानों पर ही कुठाराघात नहीं कर रहे हैं?

चीनी विस्तारवाद और इस्लामिक हठवाद एवं बन्दर-घुड़की का एक न एक दिन पूरी दुनिया को सामना करने पड़ेगा। अभी-अभी हम सबने ईरान के खोमेनी और ईराक के सद्दाम की क्रूरता को, इनके हठवाद को और बन्दर-घुड़कियों को देखा-सुना है। ईरान के खोमेनी ने सलमान रुश्दी की मौत का फतवा निकाल कर विश्वव्यापी विचार-स्वातन्त्र्य पर कुठाराघात ही नहीं किया, एक पूरे समुदाय को मध्यकालीन बर्बरता की ओर ढ़केलने का दुष्कृत्य भी किया है। खोमेनी की मौत के बाद भी उस काले बदनाम फतवे को अभीतक वापस नहीं लिया गया है। ऐसे ही फतवे निकालने वालों की भारत में भी कोई कमी नहीं है। अपने पड़ोसी देश कुवैत पर ईराक का दु:साहसिक हमला इस्लामी हठवाद का ही एक नमूना है। उसके बहुप्रचारित फौजी दस्तों के आतंग से एक लम्बे समय तक अमेरिका जमीनी हमले से बचता रहा और जब आक्रमण हुआ, तो वे बहुप्रचारित फौजी दस्ते २-४ दिन भी नहीं टिक सके। यह इस्लामिक बन्दर-घुड़की का एक अच्छा नमूना है। अमेरिका ने तो इस बन्दर-घुड़की का सामना किया और अपने जन्म के समय से ही इसरांइल भी इसका जबाब दे रहा है, किन्तु भारतीय राजनीति इस इस्लामिक बन्दर-घुड़की से सदा आतंकित रही है। कश्मीर से पूरा हिन्दु-समुदाय निकाल बाहर कर दिया गया, उनके लिये आँसू बहाने वाला एक भी राजनीतिज्ञ दूरबीन से खोजने पर भी नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु १०-२० आतंकवादी

जब एक साथ पकड़ लिये जाते हैं, या मुठभेड़ में मारे जाते हैं, तो इन राजनेताओं की नींद हराम हो जाती है। देश की रक्षा के एक स्तंभ के रूप में अपने को प्रस्तुत करने वाले अखबारों का शोरगुल भी पाठकों को आश्चर्य में डाले बिना नहीं रहता। धर्म के नाम पर भारतीय संस्कृति का यह पराभव देश को कहाँ ले जायगा ? क्या हम इसी तरह विदेशी प्रचार-तन्त्र का अन्धानुकरण करते रहेंगे ?

आधुनिक राजनेताओं की धर्मनिरपेक्षता की परिभाषा के अनुसार तो, जैसा कि ऊपर बताया गया, यह देश सदा से ही धर्मनिरपेक्ष रहा है, किन्तु *एक हजार वर्ष तक साथ-साथ रहने के उपरान्त भी हम इस्लाम को धर्मनिरपेक्षता, सहिष्णुता और समन्वय का पाठ नहीं पढ़ा सके। अभी भी हमने मानव जाति के मध्यकालीन बर्बरता के इतिहास में जी रही अधिसंख्य प्रजा को इमामों, मुल्ला-मौलवियों और बन्दरघुड़की-प्रवीण राजनेताओं के खूनी पंजों में सौंप रखा है। क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि वैचारिक दृष्टि से सबसे पिछड़ी हुई भारतीय प्रजा के एक अंश को सुशिक्षित किया जाय, वैचारिक संकीर्णता से उसको बाहर निकाला जाय। यह कार्य कुछ गिने-चुने धार्मिक नेताओं और राजनीतिज्ञों के साथ बैठकर चाय पीने से नहीं होगा। इसके लिये तो हमें उस समाज में अपने प्रति विश्वास जगाना होगा।*

भारतीय धर्म और संस्कृति पर आज चतुर्दिक् प्रहार किये जा रहे हैं। यह सारा बखेड़ा धर्म और संस्कृति में घोलमाल कर देने से उठ खड़ा हुआ है। भारत के सभी राज्यों में अपनी-अपनी भाषा में भक्तों, सन्तों और सूफियों का विशाल साहित्य उदारवादी भारतीय संस्कृति को उजागर करता रहा है। रामानन्द, कबीर, रैदास, ज्ञानेश्वर, नानकदेव, मीरा बाई, नरसी मेहता आदि उस मानवतावादी भक्तिप्रधान साहित्य के प्रतिनिधि पुरोधा हैं, किन्तु इस बात को हम भूल बैठे हैं कि इन सबकी पृष्ठभूमि में आगम, पुराण, तन्त्रशास्त्र आदि का एक विशाल उदारवादी गंभीर साहित्य-समुद्र हिलौरे ले रहा है, जिसने वैदिक और अवैदिक मतवादों में समन्वय स्थापित करने का महनीय प्रयत्न किया था। इस प्रवृत्ति ने सभी भारतीय मतवादों और धर्मों में सहिष्णुता और समन्वय को ही जन्म नहीं दिया, पूरी मानव जाति को मुक्ति का अधिकार भी दिया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी उसी उदारवादिनी भारतीय संस्कृति प्रतीक थे। आज तो हम उन्हें भी भूल बैठे हैं।

अपनी समालोचना के बिना यह लेख अधूरा रह जायगा। तन्त्रशास्त्र के ''भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव'' इस सिद्धान्त को तो हमने स्वीकार कर लिया, किन्तु वहीं जब जाति की अपेक्षा चरित्र को महत्त्व दिया जाता है, तो उसकी यह बात हमारे गले तले नहीं उतरती। २०वीं शताब्दी के रजनीश भी एक जैन आचार्य हैं और तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति भी। एक संभोग से समाधि का उपदेश देते हैं, तो दूसरे सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग मानते हैं। 'सत्' की उमास्वाति की परिभाषा (उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्) भारतीय दर्शन में अन्यत्र शायद दुर्लभ है। ''बहुजनसुखाय'' के भगवान् बुद्ध के उपदेश

के बाद भी भारतीय दर्शन और उपासना पद्धति में से हम व्यक्तिवाद को हटा नहीं पाये हैं। उनकी संसार के सारे प्राणियों को दुःख से मुक्त कराने की अभिलाषा योगी अरविन्द, परमपावन दलाई लामा, म. म. पं. गोपीनाथ कविराज जैसे कुछ गिने-चुने व्यक्तियों तक ही सिमट कर रह गई है। वैदिक कर्मकाण्ड को तो हम भुला चुके हैं, किन्तु तान्त्रिक कर्मकाण्ड को आग्रहपूर्वक स्मरण किया जाता है। यह बात सही है कि कुछ यौगिक तथा तान्त्रिक विधियों का प्रायोगिक अध्ययन अपेक्षित हैं, किन्तु इस प्रसंग में हमें विचार यह करना होगा कि क्या ये विधियाँ मूल रूप में आजतक सुरक्षित हैं या वैदिक विधियों के समान ही इनमें से अधिकांश परम्पराएँ लुप्त ही नहीं हुई, जो कुछ बची हैं; उनमें से बहुत सी अब कालातीत भी हो चुकी हैं।

सिद्धियों और चमत्कारों से दूर रहने के भगवान् बुद्ध के उपदेश को हम भुला बैठे हैं। योगसूत्रकार महामुनि पतंजलि ने भी सिद्धियों को समाधि के लिये अन्तराय (विघ्न) माना है। फिर ये सिद्धियाँ सामान्य जन की सम्पत्ति कभी नहीं बन पाई हैं। श्रद्धेय कविराज जी के गुरुदेव के पास जो सिद्धियाँ थीं, वे उनमें संक्रान्त न हो सकीं। वे बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते थे कि मुझे दीक्षा देने का अधिकार नहीं मिला है। उनकी यह स्पष्टोक्ति, उनका यह निर्मल-निश्छल भाव ही हमारी समझ में भारतीय संस्कृति का निचोड़ है। उनका अखण्ड महायोग अखिल विश्व के साथ तन्मयता का, निर्विकार प्रेमभाव का उद्भावक है। हम तन्त्रशास्त्र की पद्धति से अखण्ड संस्कृति के माध्यम से इसको पा सकते हैं। तन्त्रशास्त्र की शैव, शाक्त और बौद्ध धाराओं में शास्त्र और गुरु की अपेक्षा प्रातिभ ज्ञान को वरीयता दी गई है। विविध कर्मकाण्डों की अपेक्षा उसमें चित्त की प्रभास्वरता (निर्मलता) पर अधिक जोर दिया है। आज हम सभी धर्मों की अच्छाइयों को भूल बैठे हैं और कुछ रूढ़िवादी तत्त्वों से चिपके हुए हैं। अखण्ड भारतीय संस्कृति ही अब हमारा उद्धार कर सकती है।

इसके लिये हमें पं. नेहरू और लोहिया का अधकचरा मार्ग छोड़ कर काशी के डॉ. भगवान्दास, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ. सम्पूर्णानन्द, डॉ. मंगलदेव शास्त्री, प्रोफेसर मुकुटबिहारीलाल और प्रो. राजाराम शास्त्री द्वारा की गई भारतीय संस्कृति की व्याख्या का अनुसरण करना होगा। सबसे पहले हमें धर्मनिरपेक्ष शब्द से अपना पिण्ड छुड़ाना होगा। इसके स्थान पर हम सम्प्रदाय-निरपेक्ष शब्द का प्रयोग करें, तो यह अपेक्षाकृत कुछ सही होगा। दूरदर्शन ने अभी एक मान्य जैन मुनि को इस शब्द का प्रयोग करने की छूट दी। इसके लिये हम उसके शुक्रगुजार हैं। वास्तव में गुजरात और महाराष्ट्र के अखबारों में सम्प्रदाय-निरपेक्ष शब्द ही प्रयुक्त होता है, धर्मनिरपेक्ष नहीं। धर्मनिरपेक्ष शब्द का तो अब मात्र इतना अभिप्राय रह गया है कि यह सरकार भारत के सभी प्राचीन धर्मों और संस्कृति से निरपेक्ष है और मात्र कुछ आक्रमणशील धर्मों से ही इस देश का उद्धार हो सकता है, ऐसा मान बैठी है। धर्मनिरपेक्ष शब्द पर अल्पसंख्यक समुदाय का तथाकथित बुद्धिजीवी

वर्ग क्यों फिदा है, इसका रहस्य भी इसी में छिपा है। अब तो इनकी बन्दर-घुड़कियों में आकर सरकार ने धर्मनिरपेक्ष सुरक्षा दल के संगठन का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया है। *हमारा यह निश्चित मत है कि जब तक इस देश के राजनेतागण धर्म और संस्कृति के अन्तर को सही रूप से नहीं पहचानेंगे, तब तक हम पंजाब, कश्मीर, असम और तमिलनाडु की विलगाववादी प्रवृत्तियों का और भारत की अन्य समस्याओं का सही निदान और उनका उपचार करने में पूरी तरह से असफल होंगे ॥*

❋ ❋ ❋

उपसंहार

यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ।।

बहवो यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः ।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद्व्यक्तमवसीदति ।।

आयुष्यः क्षण एकोऽपि न लभ्यः स्वर्णकोटिभिः।
स चेन्निरर्थकं नीतः का नु हानिस्ततोऽधिका ।।

उपसंहार

मनुस्मृति का कहना है कि धर्म के तत्त्व को वही जान सकता है, जो कि तर्क की कसौटी पर उसको कसने की कोशिश करता है। निरुक्तकार यास्क कहते हैं कि ऋषि-परम्परा के समाप्त हो जाने पर मनुष्यों की प्रार्थना पर देवताओं ने उनको तर्कशक्ति प्रदान की कि अब ऋषियों के अभाव में इसी के सहारे मनुष्य अपना योगक्षेम निर्धारित करे। कश्मीर के प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का कहना है कि योग के छ: अंगों में तर्क सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् बुद्ध का कहना है कि मेरी बात को परीक्षा कर के ही ग्रहण करो। पुराण भी तर्कशक्ति के अव्याहत प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं। इस तर्कशक्ति की पृष्ठभूमि में ही यहाँ भारतीय संस्कृति के परिवर्तनशील स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

भारतीय संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था की यह विशेषता रही है कि रूढिवादी विचारधारा के रहते हुए भी उसमें गतिशीलता निरन्तर वर्तमान रही है। बहुत पहले महाकवि कालिदास ने कहा था कि पुराना सब कुछ अच्छा है और नया सब कुछ बुरा है, ये दोनों दृष्टियाँ सही नहीं हैं। सज्जन पुरुष परीक्षा के उपरान्त ही किसी एक को ग्रहण करते हैं। वैदिक, जैन, बौद्ध, आगम-तन्त्रशास्त्र, इतिहास-पुराण और सन्त साहित्य का भारतीय सामाजिक व्यवस्था के विकास में उचित अवदान रहा है तथा अन्तत: "जात पात पूछे नहि कोई, हरि को भजे सो हरि को होई" जैसे सिद्धान्त की स्थापना हो सकी है। विशाल भारतीय वाङ्मय में से एक आधुनिक भाषाओं के प्राचीन साहित्य में इसी दृष्टि का चूडान्त उत्कर्ष हुआ है। विद्या, कुल और धन की अपेक्षा चरित्र को वरीयता दी गई है। इसी दृष्टि को मान्यता देते हुए अब हम इस ग्रन्थ के उपसंहार को लिखने में प्रवृत्त हैं, जिससे कि भारतीय संस्कृति के नये आयामों की प्राचीन और नवीन दृष्टि से समीक्षा की जा सके।

समय-समय पर विस्तार प्राप्त प्रभावी भारतीय दृष्टियों में समन्वय स्थापित करने के दो प्रयत्न यहाँ पहले हो चुके हैं। उसी तरह का वर्तमान विश्व की विभिन्न दृष्टियों को एकसूत्र में बाँधने का एक प्रयत्न अभी हाल में हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ परिच्छेदों में हमने क्रमश: इन्हीं को समीक्षात्मक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। पंचम परिच्छेद में हमने अपनी दृष्टि से अखण्ड भारतीय संस्कृति के साधक-बाधक तत्त्वों के रूप में प्राचीन और अर्वाचीन समस्याओं की समीक्षा की है। जैन और बौद्ध धर्म ने अपने अपने धर्म के प्रचार के लिये तत्कालीन लोकभाषाओं का वरण किया था, किन्तु साहित्यिक और दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिये उन्हें भी संस्कृत भाषा को ही स्वीकार करना पड़ा।

इस संस्कृत भाषा की समस्याओं का विवेचन हमने प्रथम परिच्छेद में किया है। अब उपसंहार में हम सभी विषयों पर एक विहंगम दृष्टि डालना चाहते हैं।

दुनिया की सबसे पुरानी भाषा संस्कृत और सबसे नई जुबान उर्दू को अंग्रेजी शासक एक ही तराजू के दो पलड़ों पर रख बन्दरबाँट किया करते थे। उन्होंने घोषित कर दिया था कि संस्कृत पंडितों की भाषा और उर्दू मुल्ला-मौलवियों की जुबान है। जाने-अनजाने आज भी पंडित, मुल्ला-मौलवी और भारतीय प्रशासन उसी ढर्रे पर चल रहे हैं। दुनिया का प्राचीनतम साहित्य संस्कृत में सुरक्षित है। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के अंग्रेजी अनुवाद के साथ इसने नई विश्वयात्रा आरम्भ की और आज पूरे विश्व में इसने अपना संमानित स्थान बना लिया है।

भाषाविज्ञान, देवतावाद, मानव वंशवाद जैसे नये ज्ञान-विज्ञान को पनपाने में इसने अहम भूमिका अदा की है। दुनिया का ऐसा कोई देश नहीं होगा, जहाँ संस्कृत न पढ़ाई जाती हो अथवा उस पर अनुसन्धान न हो रहा हो। खोमैनी का ईरान भी उनमें से एक है। प्राचीन ईरान के जरथुष्ट्र धर्म के आदिग्रन्थ जेन्दावेस्ता की भाषा के थोड़े से हरफों को बदल देने पर वह ऋग्वेद की भाषा बन जाती है। अपने अनुयायियों के साथ इस धर्मग्रन्थ को भारत में शरण लेनी पड़ी और शताब्दियों से यह दूध में चीनी की मिठास घोलता हुआ यहाँ शान्ति से रह रहा है, फल-फूल रहा है। संस्कृत दुनिया को एकता के सूत्र में पिरोने वाली भाषा है।

इसके विपरीत उर्दू को अपनी जुबान मानने वालों ने इस देश को ही बँटवा दिया, जहाँ यह पैदा हुई थी। इसी कारण पाकिस्तान के भी दो टुकड़े हो गये। आगे पाकिस्तान के कितने टुकड़े होंगे, यह भविष्य के गर्भ में है। उर्दूभाषी पाकिस्तानी मुजाहिदीन तो अपने किये पर पछता रहे होंगे, लेकिन आखिर में उर्दू को अपनी जन्मभूमि भारत में ही शरण लेनी पड़ेगी। दोष भाषा का नहीं, संस्कृति का है। वेदों को "भांडों, धूर्तों और राक्षसों की रचना बताने वाले चार्वाक दर्शन के प्रवक्ता देवगुरु बृहस्पति माने जाते हैं, दूसरी वह भी संस्कृति ही है, जो अपने खिलाफ आवाज उठाने वालों के लिये मौत का फतवा जारी कर देती है। इस्लाम का भाईचारे का घेरा क्या अपने तक ही सीमित नहीं है ?

एक हजार वर्ष की विपरीत परिस्थितियाँ जिस भाषा को मिटा न सकीं, उस भाषा को जीवित रखने के लिये आज किसी का मुहताज होने की जरूरत नहीं है, वह अपने बलबूते और गुणवत्ता के कारण वैदिक वाङ्मय के साथ अनन्त काल तक सुरक्षित रहेगी। अपना पेट पालने के लिये कुछ लोग इसका झंडा फहरायें,तो यह उस अमरवाणी के साथ भद्दे मजाक के सिवाय और क्या हो सकता है? इधर केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय के निर्माण की चर्चा होने लगी है। यह कोरा राजनीतिक नारा है या इसमें कुछ वास्तविकता भी है, इसको तो समय ही बतावेगा। आज इन तथाकथित संस्कृत संरक्षकों की अपेक्षा विदेशी विद्वान्

अधिक मनोयोग से संस्कृत की सेवा कर रहे हैं। संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति की रक्षा का दंभ भरने वाले संस्कृतज्ञों को पहले अपने को प्रादेशिकता पिशाची से मुक्त करना होगा तथा भारतीय बुद्धिजीवियों और राजनेताओं को भी भारतीय संस्कृति के इस मूल तत्त्व को संस्कृति के नये आयामों में प्रथम स्थान देना होगा।

संस्कृत और उर्दू को एक ही तराजू में तौलने की और संस्कृत को केवल पंडितों की भाषा मानने की मानसिकता अब खत्म होगी चाहिये। यों देखा जाय तो संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति की संरक्षा का सर्वाधिक श्रेय पंडित समाज को ही दिया जाना चाहिये। विरोधी अपसंस्कृतियाँ इस बात से पूरी तरह से वाकिफ हैं। इसीलिये मूल पर ही आघात करने के लिये उन्होंने जान-बूझ कर पंडितों के प्रति घृणा फैलाने का अभियान चला रखा है। हमने इसी ग्रन्थ में एक जगह लिखा है कि बड़े से बड़े धर्मनिरपेक्षतावादी की मानसिकता स्वामी करपात्रीजी महाराज के सद्विचारों और सहिष्णुता को छू तक नहीं सकी है।

संभवत: संस्कृत भाषा का ज्ञान न होने के कारण ही श्री अरुण शौरी जैसे सुलझे निर्भीक पत्रकार को भी केवल दरवेशों और सूफी-सन्तों की ही शरण में जाना पड़ा है। इन सबके प्रेरणा-स्रोत उपनिषत्, बुद्ध और महावीर के उपदेशों से वे वंचित रह गये हैं। रामायण, महाभारत, पुराण और संस्कृत महाकाव्यों में राजा अथवा युवराज के अभिषेक के अवसर पर राजपुरुषोचित आचरण का उपदेश संगृहीत है। सम्राट् हर्षवर्धन के राजकवि महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी में उपदिष्ट शुकनासोपदेश को हम इस प्रसंग में स्मरण कर सकते हैं। काश, इसका सभी भारतीय भाषाओं में अनुवाद कर विधानसभा और लोकसभा के सदस्यों को इससे अवगत कराया जा सकता।

आज बहुसंख्यकों को उपदेश देने से वे भी बाज नहीं आते, जिनकी जड़े भारत में हैं ही नहीं। आचार्य नरेन्द्रदेव, संत विनोबा भावे और लोकनायक जयप्रकाश नारायण की सांस्कृतिक विरासत से दूर युवा तुर्कों की देन हैं — शहाबुद्दीन जैसे दुराग्रही मुसलमान। अंग्रेजों की 'फूट डालो' नीति और कांग्रेसियों की 'तुष्टीकरण' नीति ने देश का विभाजन करा दिया। कांग्रेस की तुष्टीकरण नीति और अल्पसंख्यकों की हठवादिता के कारण आई बहुसंख्यकों की हठवादिता का सही निदान नहीं हो पा रहा है। शाहबानों की घटना हो या सलमान रुश्दी की किताब या तसलीमा नसरीन का देशनिकाला, अल्पसंख्यकों को किसी भी कीमत पर 'खुश' करने की नीति बरकरार है। नेताओं को भेड़ों की जो दरकार है।

मन्दिरों को तोड़कर बनाई गयी मस्जिदें मध्यकालीन मानव की बर्बरता की निशानियाँ हैं। इस बर्बरता ने केवल बिहार के ही नहीं, मिस्र और मेसोपोटामिया के समृद्ध पुस्तकालयों को भी आग में झोंक दिया था। यह समृद्ध साहित्य तो अब वापस आ नहीं सकता, किन्तु अब भी किसी न किसी रूप में चली आ रही इस मध्यकालीन बर्बरता को दूर करने का एक ही उपाय है कि इसकी निशानियों को, चाहे वह एक हो या अनेक, दूर कर दिया जाय।

सौभाग्य से हमारे बीच नकवी जैसे समझदार आदमी हैं। ऐसे लोगों के बोलने की स्वतन्त्रता पर रोक लगाने की मांग किस ओर इंगित करती है?

महात्मा गांधी की नकल पर उतारु कुछ कांग्रेसी नेता पाकिस्तान और कई एक लैंडों को बना देने के बाद अब क्या करना चाहते हैं? बहुसंख्यकों की एक ही कमजोरी है, उनकी छुआछूत की दृष्टि, ऊँच-नीच की भावना। यह दृष्टि, यह भावना जब तक दूर नहीं होगी, पेट्रो-डालर और अमेरिकन-डालर को देश में आने से हम रोक नहीं सकेंगे और जब तक यह रुकता नहीं है, हम एकताबद्ध भी न हो सकेंगे। *गणतन्त्र किस तरह से विनष्ट हो जाते हैं, एक प्राचीन श्लोक में यह वर्णित है। इसमें बताया गया है कि अपने को ही सबसे बढ़कर मानने वाले ढेर सारे नेता जब अपना-अपना महत्त्व बढ़ाने में ही लग जाते हैं, तो वह समुदाय अवश्य ही नष्ट हो जाता है। प्रधानमंत्री पद की होड़ को इसी प्रसंग में देखा जा सकता है।*

राजनीतिक दल बहुसंख्यकों को 'उपदेश' देने की प्रवृत्ति को छोड़कर यदि अल्पसंख्यकों की संकीर्णता और हठवादिता को दूर करने के लिये एकताबद्ध हो सकें, तो अच्छा हो। *आज भी कश्मीर से निकाल दिये गये पंडितों की पुस्तकें जलायी जा रही हैं और काबुल का समृद्ध संग्रहालय उजाड़ दिया गया है।* भारतीय संस्कृति आज भी दुनिया की सर्वश्रेष्ठ संस्कृतियों में से एक है और *यहाँ की अधिसंख्य जनता इन 'उपदेशक' नेताओं से अधिक सुसंस्कृत है।* भारतीय संस्कृति के नये आयामों में इस दृष्टि का समावेश भी अत्यावश्यक है।

'हिन्दु' शब्द हमारा अपना नहीं है। यह विदेशियों से हमें तोहफे में मिला है। किन्तु अब इससे हमें इतना मोह हो गया है कि उसे हम छोड़ना नहीं चाहते। कुछ वर्षों पहले इन पंक्तियों के लेखक ने "हिन्दूकरण नहीं, भारतीयकरण" शीर्षक लेख लिखा था और "यह भारतीयकरण क्या है" इसमें भारतीयकरण को परिभाषित किया था। ये दोनों लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में समाविष्ट हैं। प्रो० बलराज मधोक को भी यह शब्द भाया था, किन्तु न जाने क्यों अब "गर्व से कहो हम हिन्दु हैं" का नारा बुलन्द होने लगा है।

संस्कृत व्याकरण में कात्यायन का एक वार्त्तिक है — "येषां च विरोधः शाश्वतिकः"। इसके उदाहरण के रूप में वहाँ "अहिनकुलम्" और "श्रमणब्राह्मणम्" जैसे शब्द दिये गये हैं। साँप और नेवले की तरह कभी श्रमण और ब्राह्मण का भी दृढमूल वैर रहा है, किन्तु आगम और तन्त्रशास्त्र ने इस वैरभाव को बहुत कुछ दूर कर दिया। तन्त्र मात्र जादू-टोना, मारण-उच्चाटन तक ही सीमित रहने वाला शास्त्र नहीं है, न यह उन तान्त्रिकों का ही शास्त्र है, जिनके यहाँ जाकर आजकल के नेतागण नाक रगड़ते हैं और न वह तन्त्रशास्त्र है, जिसकी सिद्धियों को उपन्यास की शैली में पेश कर लोगों को भरमाया जाता है। यदि यह सब होता तो एक हजार वर्ष पहले भारत को और आज तिब्बत को पराधीनता का मुँह न देखना पड़ता। यह तो वह शास्त्र है, जिसने सिद्धों और नाथों को, आलवारों, सन्तों और गुरुओं को प्रेरणा

दी ; कबीर, रामानन्द, रविदास और मीरा को पैदा किया। सूफी सन्तों की प्रेरणा का स्रोत भी यही शास्त्र रहा है। यह बिना किसी भेदभाव के मानवता का ही नहीं, प्राणी मात्र का कल्याण चाहता है।

भारत में परस्पर-विरोधी विचारधाराओं के जोड़ने के दो-तीन सफल प्रयत्न हुए हैं। उनकी अन्तिम परिणति हमें पुराण, आगम और तन्त्रशास्त्र के रूप में मिलती है। इसी तरह के एक और प्रयत्न की हमें अपेक्षा है। हिन्दु शब्द आज जैन, बौद्ध, पारसी, मुसलमान, सिख और ईसाई समुदाय को अपने में समेट पाने में असमर्थ है। आज 'श्रमणब्राह्मणम्' जैसी ही स्थिति 'हिन्दु-मुसलमान' की हो गई है, किन्तु शैवों, वैष्णवों और भारत के अन्य अनेक सम्प्रदायों और पन्थों के समान हम उक्त सभी मतों को भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं के रूप में मान्यता दे सकते हैं। भारतीय संस्कृति में धर्म और सम्प्रदाय ये दोनों शब्द अतिपवित्र माने जाते हैं। आज की धर्मनिरपेक्षता ने तो भारतीय संस्कृति की चूलें ही हिला दी हैं।

विदेशो में हम सब केवल भारतीय के रूप में पहचाने जाते हैं। पासपोर्ट में यह नहीं लिखा रहता कि वह किस धर्म या सम्प्रदाय का अनुयायी है। उसमें तो मात्र उसकी राष्ट्रीयता अंकित रहती है। *यहाँ के सभी सम्प्रदाय जायज या नाजायज तरीकों से अपनी संख्यावृद्धि का आग्रह छोड़कर यदि शान्ति से रहना सीख लें, धर्मान्तरण को तिलांजलि दे दें, तो हिन्दुत्व को इस शुभ कार्य में आड़े नहीं आने देना चाहिये। भारतीयता को ही सर्वोपरि मान्यता मिलनी चाहिये।*

भारतीय राजनीतिज्ञों और प्रबुद्ध विचारकों को यह समझ लेना चाहिये कि अब बचे हुए देश को अखण्ड रखने के लिये एक राष्ट्रीयता आवश्यक है और इसके निर्माण में 'हिन्दु' शब्द सबसे बड़ी बाधा है। पाश्चात्य देशों में इतना सारा साहित्य निर्मित हो गया है कि इस शब्द के माध्यम से जैन और बौद्ध जैसे प्राचीन सम्प्रदाय ही नहीं, सिक्खों जैसे अनेक आधुनिक पन्थों को भी इसकी परिधि से बाहर कर दिया गया है। यह वैदिक, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त सम्प्रदायों के जैसे अन्य सम्प्रदायों को अपने में समेटने में असमर्थ है। पेट्रो-अमेरिकन डालर अलगाव को बढ़ाने में लगा हुआ है। सीमान्त प्रदेशों, जनजातियों और पिछड़ों में भी इसके बीज बोये जा रहे हैं। *तन्त्र और सन्त साहित्य की नयी पृष्ठभूमि में ही भारतीय संस्कृति के नये आयामों की खोज की जा सकती है और भारतीयकरण की प्रक्रिया का विस्तार अन्य सम्प्रदायों और समुदायों में भी किया जा सकता है। इसके लिये हमें भारतीय संस्कृति को यूरोपीय चश्में से देखना बन्द करना होगा।*

भारत को समाजवादी गणतन्त्र घोषित किया गया था, किन्तु समाजवादी भारतीय संस्कृति की रचना के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया गया। गांधीवादी संस्कृति की छीछालेदर तो स्वयं नेहरू ने ही कर दी थी, कम्युनिस्टों ने गांधीवाद की 'शवयात्रा' ही निकाल दी। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के इन अनुयायियों ने सर्वत्र सौहार्द के स्थान पर विद्वेष को प्रश्रय दिया। पश्चिम

की दो विपरीत संस्कृतियों का चश्मा चढ़ाये लोगों से और आशा भी क्या की जा सकती है ? इस सन्दर्भ में कुछ ठोस कार्य तब होता, जब नेहरू अपने कल्याणमित्र आचार्य नरेन्द्रदेव के प्रति अधिक सहिष्णु और ईमानदार रहते, किन्तु नेहरू की महत्त्वाकांक्षा तथा मिथ्या व्यामोह ने ऐसा नहीं होने दिया। उनके अन्तरराष्ट्रीय व्यामोह ने कश्मीर के प्रति उनकी दृष्टि को धुंधला कर दिया और उनकी महत्त्वाकांक्षा तिब्बत को चीन के चंगुल में जाने से रोक न सकी। शायद उनको यह आशा थी कि माओत्सेतुंग भी अन्य चीनी यात्रियों के समान उनकी शरण में आवेगा। उनका अशोक महान् बनने का सुहावना सपना बोमदिला की ऊँचाई से गिरकर चकनाचूर हो गया।

धर्मनिरपेक्ष समाजवादी संस्कृति के निर्माण की तरफ से आँखें मूँद कर पं. नेहरू ने दक्षिण-पूर्व एशिया के लिये बौद्ध धर्म को, पश्चिम एशिया के लिये इस्लाम को और बाकी दुनियाँ के लिये अपनी अधकचरी खिचड़ी संस्कृति को पेश किया। उनकी डिक्शनरी में 'सेक्युलर' शब्द का अर्थ हिन्दु धर्म से निरपेक्ष होना था। उनके इस प्रयोग की असफलता चीनी और पाकिस्तानी आक्रमण के समय उजागर हो गई थी, जबकि भारत का साथ किसी ने नहीं दिया। आज भी हमारी परराष्ट्र नीति उसी ढर्रे पर चल रही है। आभिजात्यवाद की मनोवृत्ति से घिरे हुए हमने आज भी नेहरू की गलतियों को आँख ओझल कर दिया है। भारतीय राजनीति में सबसे पहले असामाजिक तत्त्वों को प्रवेश दिलाने वाले आज उसके खिलाफ बोल कर अपना चरण छूने वालों की संख्या में वृद्धि करना चाहते हैं, किन्तु नेहरू की यह तीसरी सबसे बड़ी गलती थी कि आचार्य नरेन्द्रदेव सरीखे भद्रपुरुष को हराने के लिये उन्होंने धर्म की आड़ ही नहीं ली, सारे नैतिक मूल्यों को भी ताक पर रख दिया। आभिजात्यवाद से दबे कुछ लोग इस दोष को दूसरे के मत्थे मढ़ना चाहते हैं, किन्तु भारतीय संस्कृति बुरा काम करने वाले को ही नहीं, उनको प्रेरित करने वालों अथवा उनकी ओर से पीठ फेर लेने वालों को भी दोषी मानती है। पं० नेहरू के प्रधानमन्त्री रहते यह घटना हुई और *तब से भारतीय राजनीति में भद्रपुरुषों का प्रवेश वर्जित होता चला गया।* भौतिक दृष्टि से उन्नत हो जाने पर भी देश दिन-प्रतिदिन नैतिक पतन की ओर तेजी से बढ़ रहा है। गांधीवाद और देश की प्राचीन संस्कृति को नेस्तनाबूद करने को उतारू कुछ पार्टियाँ आजकल जो कुछ बढ़-चढ़ कर बोल रही हैं, उनका अन्धानुकरण करने वाले कुछ राजनीतिक दल कहीं एक जगह ठहर कर सोचें कि क्या अब भी समाजवादी संस्कृति के निर्माण का समय नहीं आया है? यदि वे सोचने का प्रयत्न करेंगे, तो उनको दिखाई देगा कि आचार्य नरेन्द्रदेव एक टिमटिमाता प्रकाश हमारे बीच छोड़ गये हैं। हम घोर अनैतिकता के अन्धकार से घिरे इस दुष्काल में उसी की सहायता से सही रास्ता निकाल सकते हैं और अपने लिये जीने की एक उदात्त प्रवृत्ति को बढ़ावा दे सकते हैं।

जीने की एक प्रवृत्ति मनुष्य को समझाती है — ''वादे वादे जायते तत्त्वबोध:''। भाव यह है कि आपस में मिल बैठ कर हम किसी भी नतीजे तक पहुँच सकते हैं। दूसरी प्रवृत्ति यह सुनकर नाक-भौं सिकोड़ने लगती है, उसमें अकुलाहट पैदा हो जाती है। वह इस तरह से बोलने और लिखने की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाने की मांग कर बैठती है। सम्पादक के नाम छपने वाले पत्रों में हम इन दोनों ही तरह की प्रवृत्तियों को देख सकते हैं।

एक प्रवृत्ति वेद, जेन्दावेस्ता, बाइबिल, कुरान, गुरुग्रन्थसाहिब और अन्य सभी धर्मों के अनुयायी सन्तों की वाणी को आदर देने में कोई संकोच नहीं करती, वसिष्ठ और विश्वामित्र के समान कबीरदास और रविदास को भी संमान देने में कोई संकोच नहीं करती। दूसरी प्रवृत्ति केवल एक किताब को ही मान्यता देती है।

एक तरफ महात्मा बुद्ध कहते हैं — ''परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्''। ए भिक्षुओं ! मेरे वचन की परीक्षा कर तब उसे ग्रहण करो, मेरे प्रति केवल गौरव बुद्धि होने के कारण नहीं। पुराणों का भी कहना हैकि आगम (शास्त्र), अनुमान, प्रत्यक्ष और उपपत्ति (तर्क) के द्वारा परीक्षित अर्थ को ही ग्रहण करना चाहिये। दूसरी तरफ ऐसा करने वालों को मौत के फतवों का सामना करना पड़ता है। *आजकल की दुनियाँ की सर्वश्रेष्ठ संस्कृति ! का देश माने जाने वाले यूनान में भी वहाँ के महान् सन्त सुकरात को जहर का प्याला पीना पड़ा था।*

पहली प्रवृत्ति गुरु को भगवान् से भी बढ़ कर मानती है। साथ ही, किरणागम और योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थ शास्त्र और गुरु से भी बढ़ कर मनुष्य के प्रातिभ ज्ञान को वरीयता देते हैं। निरुक्त में मनुष्य की तर्क शक्ति को देवताओं का वरदान माना गया है और आगम-तन्त्रशास्त्र इसको योग का सर्वश्रेष्ठ अंग मानते हैं। दूसरी तरफ मनुष्य के देखने और सुनने की भी सारी खिड़कियाँ बन्द कर दी गई हैं। कोल्हू के बैल के जैसे उनको एक निश्चित दायरे में ही लगातार घूमते रहने को बाध्य कर दिया गया है।

महाकवि कालिदास की ''पुराणमित्येव'' इस उक्ति की चर्चा यहाँ हो चुकी है। पहली प्रवृत्ति इस सिद्धान्त को स्वीकार कर अपनी बुराइयों को छोड़ने और दूसरों की अच्छाइयों को ग्रहण करने में निरन्तर लगी रही है। एक हजार वर्ष पहले वह उन सब बुराइयों की निन्दा इतने कड़े शब्दों में कर चुकी है कि आजकल का कम्युनिस्ट बुद्धिजीवी भी, खुशवन्त और नैयर जैसे प्रगतिशील ! विचारक भी अपनी नैतिक दुर्बलता के कारण वैसा नहीं पर सकेंगे। इसके विपरीत एकेश्वरवादी व्यवस्था, दूसरे शब्दों में अधिनायकवादी विचारणा दुनियाँ को जीने की एक उत्कृष्ट कला को सिखाने वाली इस पद्धति को दफना देने में एक हजार वर्ष से लगी हुई है। आजकल के तथाकथित प्रगतिशील विचारक भी इन्हीं का साथ दे रहे हैं। ब्राह्मणवाद तो बौद्धों और जैनों के साथ हुए वैचारिक संघर्ष में कभी का नामशेष हो चुका है। मनुस्मृति के स्थान पर भी भारत की अधिसंख्य प्रजा आज भारतीय संविधान और हिन्दु

कोड बिल से संचालित है। यह सब कुछ जानते हुए भी ब्राह्मणवाद और मनुवाद का भूत खड़ा कर बिखरती भेड़ों और बकरियों को एक जुट करने में योजनाबद्ध तरीके से लगातार दुष्प्रचार किया जा रहा है। अयोध्या का सांस्कृतिक मसला भी इसी तरह के धार्मिक दुष्प्रचार का शिकार हो गया है।

होना यह चाहिये था कि मध्यकालीन बर्बरता से अब भी चिपके रहने वाले एक बहुत बड़े वर्ग को शिक्षित करने के लिये इस प्रकार के सभी धार्मिक अतिक्रमणों को हटा कर उनका पुनरुद्धार किया जाता। भटकी मानवता को सही रास्ते पर लाने का यह एक नायाब तरीका था, किन्तु पिंडी-पेकिंग-वाशिंगटन धुरी को यह स्वीकार नहीं है। एकेश्वरवाद के आगे वह सर्वधर्मसमभाव को नाकारा कर देना चाहती है। इसीलिये इस तरह की प्रवृत्तियों में बी.बी.सी. को हिन्दु आतंकवाद दिखाई पड़ता है। वह भूल जाता है कि आतंकवाद और अलगाववाद एकेश्वरवाद की देन है, सर्वधर्मसमभाव की नहीं। भोली-भाली भारतीय प्रजा को फुसलाने के लिये वह गाय के बछड़े को बकरी का बच्चा बना देना चाहती है। *अयोध्या में पत्रकारों पर आक्रमण नहीं हुआ था, यह तो बी.बी.सी. और उसके मानसिक पुत्रों के गाल पर एक करारा तमाचा था। इसी की उस समय आवश्यकता थी — ''वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि''।* व्यक्ति को कभी-कभी वज्र से भी कठोर बनना पड़ता है। एकेश्वरवादी दुष्प्रचार को पराजित करने के लिये आज इसी की आवश्यकता है। अन्तरराष्ट्रिय आतंकवाद का तभी सामना किया जा सकता है।

इस प्रसंग में हम अपने मुसलमान भाइयों से कुछ निवेदन करना चाहते हैं। तथाकथित समाजवादी नेता मुलायमसिंह यादव साहब फरमाते हैं कि भारतीय मुसलमान डरे हुए हैं। वे डरे हुए हैं, यह इससे साबित होता है कि वे हथियारों की तलाश में हैं। बड़ा विचित्र तर्क है। भला ये क्यों डरे हुए हैं? इसका भी खुलासा होना चाहिये था। मुट्ठी भर पारसी आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले इस्लाम से प्रताड़ित होकर भारत में आये और वे दूध में चीनी की तरह घुलमिल कर यहाँ रह रहे हैं। टाटा और भाभा जैसी विभूतियाँ उनकी देन हैं। मुट्ठी भर पारसी यहाँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रख कर भी भारतीयता से पूरी तरह से ओतप्रोत हैं। इसके विपरीत इस बीसवीं शताब्दी के अन्त में भी पूरी दुनियाँ को इस्लाम के झण्डे के नीचे बटोरने के सपना देखा जा रहा है। उसी के तहत ''हँस के लिया है पाकिस्तान, लड़ के लेंगे हिन्दुस्तान'' जैसा नारा ईजाद किया गया था। हथियारों की तलाश इस पवित्र कार्य को पूरा करने के लिये है, या यह डरे हुए आदमी की बौखलाहट है, यह सोचने की बात है।

भाइयों ! सपने में टहलना छोड़ो और राजनीतिज्ञों के जाल में फंसने से अपने को बचाओ। भारतीय संस्कृति की उदारता को अपने में उतारने का प्रयत्न करो। सभी धर्मों और विचारों के प्रति सहिष्णुता इसकी सबसे बड़ी देन है। एक तरफ यह गुरु को भगवान् से भी बढ़ कर मानती है, तो दूसरी तरफ मनुष्य की तर्क-शक्ति को, मानव-प्रतिभा को भी

नकारती नहीं है। यह दुर्भाग्य की ही बात है कि एक हजार वर्ष तक साथ-साथ रह कर भी इस्लाम ने भारतीय सहिष्णुता को स्वीकार नहीं किया, उलटे उसने अन्य समाजों में भी असहिष्णुता का जहर घोल दिया है। अन्यथा सलमान रुश्दी की किताब पर प्रतिबन्ध लगाने में यह देश अगुआई न करता। यह कौन नहीं जानता कि इस्लाम की मध्यकालीन बर्बरता ने अनेक देशों की संस्कृतियों को बर्बाद किया है। इसको कौन नकार सकता है कि मन्दिरों को तोड़ कर मस्जिदें बनाई गई हैं। गुजरात में राजा मूलराज के बुलावे पर उत्तर भारत से गये एक हजार विद्वानों ने सिद्धपुर में रुद्र महालय की स्थापना की थी। आज इस मन्दिर के दो कोनों पर एक-एक हाथ की मीनार बनी दिखाई पड़ती है।

आपको भयमुक्त करने का रास्ता राजनीतिज्ञों के पास नहीं है, वह तो स्वयं आपके पास ही है। जैसे कस्तूरीमृग की खुशबू उसी की कोख में छिपी रहती है, वैसे ही आपके पास वह खुशबू है अपने में निर्णय करने की स्वतन्त्र शक्ति। भारतीय बहुसंख्यक समाज अपने धर्माचार्यों की बात सुनता है, किन्तु वह वोट अपने मनचाहे व्यक्ति को ही देता है, इसके लिये किसी के फतवे की जरूरत नहीं पड़ती। वोट देने की यह स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति ही आपको भयमुक्त कर सकती है। इस स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति का ही सहारा लेकर भारतीय मुसलमान भाइयों को इस्लाम के नाम पर पूर्व में किये गये अतिक्रमणों से अपने को मुक्त कर लेना चाहिये। भयमुक्त होने का यही सही रास्ता है। भगवान् बुद्ध ने धम्मपद में कहा है कि बैर से बैर कभी दूर नहीं होता। भाइयों, स्वतन्त्र रूप से आप सोचें कि आपको भयमुक्त करने का नारा देने वाले ये राजनीतिज्ञ कहीं आपको गहरी अंधेरी खंदक में तो नहीं ढकेलने जा रहे हैं? खोमेनी और सद्दाम जैसे सिरफिरों को सही रास्ते पर लाने की जिम्मेदारी खुदा ने भारतीय मुसलमानों के कन्धों पर रख छोड़ी है।

क्या इस जिम्मेदारी से आप लोग भागेंगे? क्या राजनेतागण आप लोगों के साथ भेड़ों और बकरियों के जैसा बर्ताव अनन्त काल तक करते रहेंगे? क्या अभी भी आप छठी-सातवीं शताब्दी की मानसिकता में ही जीना चाहते हैं? आपके आजकल के किसी राजनीतिज्ञ रहनुमा का मानसिक विकास अभी तो जनाब अली मियाँ तक भी नहीं पहुँच पाया है। सूफियों ने आप लोगों को एक रास्ता दिखाया था। उनको आपने उसी तरह से नकार दिया है, जैसे कि आजकल के राजनीतिज्ञों ने महात्मा गांधी को नकारा। उठिये और सूफी सन्तों एवं महात्मा गांधी के बताये मार्ग पर चलकर नये भारत राष्ट्र के निर्माण में अपना महनीय योगदान कीजिये। सूफी सन्तों और महात्मा गांधी के विचारों से अनुप्राणित भारतीय संस्कृति के सहारे ही पूरी दुनियाँ को भविष्य में अपना मार्ग निर्धारित करना पड़ेगा। आप लोग बड़ी सहूलियत से इस ओर अपना डग भर सकते हैं। इसके लिये यह आवश्यक है कि अधिकार के साथ आप में कर्तव्यबोध भी जागे।

इसी प्रसंग में हम युवा तुर्कों से भी कुछ कहना चाहते हैं। भारत के प्रधानमन्त्री पद तक पहुँचे स्वनामधन्य श्री चन्द्रशेखर का नाम युवा तुर्कों में अग्रणी रहा है। उनके एक वक्तव्य से जानकारी मिली कि एम०ए० कर लेने के बाद प्रो० मुकुटबिहारीलाल उनको शोधकार्य में लग जाने को कह रहे थे। प्रो० मुकुटबिहारी लाल चाहते होंगे कि यह प्रतिभाशाली छात्र विद्वान् बने, किन्तु आचार्य नरेन्द्रदेव जी ने देश की आवश्यकता को देखकर उनको राजनीति करने को कह दिया और अन्ततः उन्होंने चौधरी चरणसिंह के चरण-चिह्नों पर चलकर ही सही, एक दिन देश के प्रधानमन्त्री का पद हथिया लिया। पर उनको यह याद रखना होगा कि देश के सोने को विदेश में गिरवी रख देने वाले प्रधानमन्त्री के रूप में ही वे सदा याद किये जायेंगे।

आपका फरमाना है कि साम्प्रदायिक तत्त्वों ने पूरे विश्व में भारत की प्रतिष्ठा और धार्मिक सहिष्णुता के उच्च आदर्शों को मटियामेट कर देने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। शहाबुद्दीन जैसे भस्मासुर को पालने वालों की ये बातें अजीब सी लगती हैं। अशोक महान् बनने की पं० नेहरू की सनक ने इस देश का बहुत अहित किया है। पूरी दुनियाँ को उपदेश देने की बीमारी पालने और विदेशी वाहवाही लूटने की मानसिकता को यह देश यदि छोड़ सके, तो ईश्वर की महती कृपा होगी। धार्मिक सहिष्णुता और आदर्शों की हत्या करने में तथाकथित साम्प्रदायिक तत्त्वों की अपेक्षा आज के इन राजनीतिज्ञों के द्वारा पाले-पोसे जा रहे तत्त्वों का अधिक गहरा हाथ ही नहीं है, वे इसमें रुचि भी ले रहे हैं। नेताओं और अभिनेताओं का पर्दाफाश हो चुका है कि पेट्रो-अमेरिकन डालर इनको कैसे नचा रहा है? आज का पत्रकार और बुद्धिजीवी भी प्रायः अर्थदास हो गया है। इसी की आशा में वह जहाँ भी मौका मिलता है, अंगचालन करता हुआ पहुँच जाता है। कहाँ है भारत की प्रतिष्ठा? कहाँ है धार्मिक सहिष्णुता?

हमारी दृष्टि में इन सबका कारण स्वातन्त्र्योत्तर काल में भारतीय संस्कृति को परिभाषित न कियां जाना है। महात्मा गांधी इस देश की समृद्ध संस्कृति के प्रतीक थे। उनको अब रास्ते से हटा दिया गया है। उनके स्थान पर पं० नेहरू ने अपनी अधकचरी ख़िचड़ी परोसी और गंगा-जमुनी संस्कृति उसको नाम दिया गया। देश को धर्मनिरपेक्ष, अर्थात् अर्थ और काम का दास बना दिया गया। अब इस शब्द का विरोध मुखर हो रहा है। धर्म के स्थान पर सम्प्रदाय, पन्थ आदि शब्द परोसे जा रहे हैं, किन्तु निरपेक्ष शब्द उनका पिण्ड नहीं छोड़ रहा है। 'सेक्युलर' एक विधायी शब्द है और निरपेक्ष प्रतिषेधात्मक। इनकी संगति कहाँ बैठती है? भारतीय चार्वाक दर्शन इसका सही पर्याय दे सकता है और इसकी हमने चर्चा भी की है (पृ. १५२)। भारतीय वाङ्मय में आर्य शब्द का प्रयोग गुणवाचक शब्द के रूप हुआ है, यह जातिवाचक शब्द नहीं है, किन्तु जबर्दस्ती आर्य-द्रविड, दक्षिण-उत्तर की कल्पना कर देश में जहर घोला जा रहा है। पूरे देश में फैले सन्त साहित्य में वर्णाश्रम-व्यवस्था,

ब्राह्मणवाद आदि पर करारा प्रहार किया गया था और उसका समयोपयोगी स्वरूप निर्धारित हो चुका था, जिसमें कि धन, कुल विद्या की अपेक्षा चरित्र को वरीयता दी गयी थी, किन्तु धुआंधार विदेशी मिथ्या प्रचार के आगे यह सब कुछ आज आँखों से ओझल किया जा रहा है। भारतीय संस्कृति पर चतुर्दिक् प्रहार हो रहे हैं। इसके वास्तविक स्वरूप से अपरिचित आज के राजनेता और तथाकथित बुद्धिजीवी अपने अज्ञान के कारण उसको गहरा दफना देने में लगे हुए हैं।

युवा तुर्कों को यह समझ लेना चाहिये कि *गंगा और यमुना ये दो बहती जलधाराओं के नाम हैं। वे बहुत दूर तक अलग-अलग नहीं बह सकतीं। थोड़ी देर के लिये ऐसा होने पर भी अन्ततः वे एक नाम-रूप हो जाती हैं। यही इनकी नियति है।* उनको यह भी समझ लेना चाहिये कि धर्म और संस्कृति ये दो अलग-अलग उपादान हैं। जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि अनेक धर्मों, सम्प्रदायों और पन्थों में विभक्त होने पर भी इन सबके अनुयायी भारतीय संस्कृति की छत्रछाया में बिना किसी विरोध-भावना के जीना सीख गये थे। वैसे ही पारसियों और यहूदियों का अनुसरण कर नये धर्म और सम्प्रदाय भी बिना किसी हीनभावना या श्रेष्ठभावना के यहाँ समाजवाद की समानता के आधार पर जी सकते हैं। इस तत्त्व को यदि युवा तुर्क हृदयंगम कर सकें और अपने सिरफिरे मित्रों को समझा सकें, तो इस देश की अनेक समस्याओं का समाधान अपने आप हो जायगा। युवा तुर्कों को इतना तो अवश्य ही समझ लेना चाहिये कि जिनको वे साम्प्रदायिक कहते हैं, वे भारतीय संस्कृति के इस स्वरूप से उनकी अपेक्षा अधिक नजदीक हैं और वे घृणित साम्प्रदायिकता से अधिक चिपके हुए हैं, जिनको वे जाने-अनजाने पालपोस रहे हैं। देश की प्रतिष्ठा को, नहीं! इसके अस्तित्व को भी खतरा इस हीन असहिष्णु साम्प्रदायिकता से ही है।

काश, ये युवा तुर्क और तथाकथित बुद्धिजीवी भारतीय संस्कृति के एक परिनिष्ठित समयोपयोगी स्वरूप को सजाने में अपनी संघटन-शक्ति और बुद्धिबल का उपयोग करते। आचार्य नरेन्द्रदेव और उनके वरिष्ठ सहयोगी प्रो० मुकुटबिहारीलाल ने तथा प्रो० राजाराम शास्त्री जैसे प्रबुद्ध चिन्तकों ने इस ओर प्रयत्न किया था। आजकल की भ्रष्ट राजनीति का व्यामोह छोड़ कर उक्त महानुभावों के निकट-सम्पर्क में रहने वाले इस ओर आगे बढ़ते, तो वह भारत की वर्तमान ज्वलन्त समस्याओं के समाधान का एक सही प्रयास माना जाता।

पंडित नारायण दत्त तिवारी जैसे सुलझे राजनेता भी सामान्य मन्दिरों-मस्जिदों और आततायियों के द्वारा मन्दिरों को तोड़ कर बनाई गई मस्जिदों में कोई फरक नहीं देखते। वे जाने-अनजाने मध्यकालीन बर्बरता को, जिसने कि आज आतंकवाद का रूप धारण कर लिया है, खुला खेल खेलने की छूट देना चाहते हैं। विभिन्न मतवादों और मान्यताओं के रूप में फैली अपसंस्कृतियाँ मनुष्य की विचार-शक्ति को कितना कुन्द बना देती है, इसका यह एक अच्छा उदाहरण है। अपनी सांस्कृतिक धरोहरों को नष्ट कर प्राप्त की गई भौतिक

उन्नति से मनुष्य लम्बी अवधि तक सुख-शान्ति से नहीं रह सकेगा। इस तरह के सांस्कृतिक प्रश्नों पर कुण्ठाग्रस्त राजनीतिज्ञ खुलकर कुछ बोल नहीं पाते। ये हीनभावना से पीडित हैं और इनके मन में भारतीय संस्कृति के प्रति भी हीनभावना ही भरी हुई है। धर्मनिरपेक्षता की गौरवशाली परम्परा की ये लोग चर्चा करते हैं, किन्तु उनकी समझ में यह बात नहीं आती कि ये धर्मनिरपेक्षता के नाम पर इस देश की गौरवशाली परम्परा का कितना अधिक अहित कर चुके हैं और करते जा रहे हैं।

धर्मनिरपेक्षता की गुहार लगाने वाले ये राजनेतागण भीड़ भरे धार्मिक पर्वों के अवसर पर पुण्य बटोरने की अपनी मानसिकता पर नियन्त्रण नहीं रख पाते और इसी के कारण प्रति वर्ष अनेक श्रद्धालु जनों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। काश, ये अपनी धार्मिक आस्था की पूर्ति के लिये ऐसे भीड़-भरे अवसरों का उपयोग न कर सामान्य दिनों में देवदर्शन का कार्यक्रम बनाते। संभवत: उनकी धर्मनिरपेक्षता (भूतदया आदि गुणों का अभाव) ही उनको ऐसा करने से रोक देती है।

भाकड़ा बांध को राष्ट्र को समर्पित करते हुए पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इसको नया तीर्थ बताया था। मैं भी इस तीर्थ की यात्रा करने गया था। बाद में ''कालामुख्स एण्ड कापालिक्स'' नामक पुस्तक को पढते समय एक टिप्पणी देखने को मिली कि इन बाँधों के निर्माण के अवसर पर नरबलि भी दी जाती रही है। गुप्तचर विभाग के एक अधिकारी को मैंने इसकी सूचना दी थी, किन्तु आजतक मुझे नहीं मालूम कि उक्त लेखक की टिप्पणी का कहीं से प्रतिवाद हुआ हो। आजकल के राजनेतागण इनको विकास के मन्दिरों और मस्जिदों के रूप में पेश करते हैं। तब से अबतक पानी बहुत बह चुका है। भ्रष्टाचार के इन पुतलों को मन्दिर-मस्जिद बताने वालों में कुछ तो शर्म-हया बाकी रहनी चाहिये। ये नये मन्दिर-मस्जिद जब काल के गाल में समाने लगेंगे, तब धर्मनिरपेक्षतावादी राजनेताओं के पुण्य बटोरने की मानसिकता से प्रति वर्ष होने वाली श्रद्धालु जनों की अकाल मृत्यु से कहीं अधिक भयंकर धन-जन की हानि होगी। राजस्थान के उदयपुर के आस-पास आज से ३०० वर्ष पहले बने जयसमुद्र और राजसमुद्र जैसे बाधों को हम अवश्य तीर्थ की संज्ञा दे सकते हैं, जो कि इतनी लम्बी अवधि तक सुरक्षित हैं और आज भी जनकल्याण में उनका उपयोग हो रहा है।

अनेक राजनेता अपनी जुबान पर लगाम नहीं लगा पाते। उनका आचरण अधिनायक (फासिस्ट) का सा होता है। तिस पर भी वे चाहते हैं कि समाज में उनकी प्रतिष्ठा हो। ऐसा न होने पर वे समाज को ब्राह्मणवादी और मनुवादी करार देते हैं। अपनी मानसिक दुर्बलताओं को वे समाज पर थोपना चाहते हैं। आधुनिक युग में खेल और राजनीति के मैदान में प्रतियोगिता चलती है, शत्रुता नहीं। यह देश का दुर्भाग्य है कि भारतीय गणतन्त्र में प्रतियोगिता ने नहीं, शत्रुता ने स्थान बना लिया है। भारत में तो शत्रु भी रात्रि में निश्चिन्त हो विश्राम कर सकता था। स्त्रियों और बच्चों की हत्या घृणित कार्य माना जाता था। बार-बार दुहराने से झूट सच

बन जाता है, यह सिद्धान्त भी पाश्चात्य जगत् का ही है। भारत में तो अन्तिम विजय सत्य की ही मानी गई है। ''सत्यमेव जयते'' इस आदर्श वाक्य में लगा 'एव' (ही) शब्द इसी की ओर इंगित करता है। *इसके लिये यह आवश्यक है कि विचारशक्ति दण्ड के भय और धन के प्रलोभन से मुक्त हो एवं वह सेवा से भी विचलित न हो।*

आर्यसमाजी विचारों से प्रभावित कुछ विचारक इस देश की विगत ढाई हजार, दो हजार अथवा १४ सौ वर्षों की परतन्त्रता की चर्चा करते हैं। उनका कहना है कि हिन्दुत्व इस अवधि में अनेक प्रकार की समस्याओं से जूझता रहा है। हमारी समझ में तो उस समय तक हिन्दु शब्द प्रचलन में भी नहीं आया था। इस कथन का अभिप्राय तो यह निकलता है कि वेदों के अतिरिक्त जैन, बौद्ध, पुराण, आगम-तन्त्रशास्त्र और सन्त परम्परा के पूरे वाङ्मय को ये नकार देना चाहते हैं। हमने इस ग्रन्थ के द्वितीय और तृतीय परिच्छेद में बताया है कि महाभारत से लेकर प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के महान् आचार्य अभिनवगुप्त तक के साहित्य में भारत के आध्यात्मिक, दार्शनिक और सामाजिक दृष्टिकोण में प्रभावकारी परिवर्तन हुआ है। इन सबको नकार कर हम एक अखण्ड भारतीय संस्कृति के समयोचित स्वरूप का निर्धारण नहीं कर सकते।

भारतीयों की दुर्दशा का काल दसवीं शताब्दी के बाद आरंभ होता है। हममें संघबद्धता का अभाव ही इसका प्रमुख कारण है। व्यक्तिगत स्वार्थ और अहंमन्यता ने, एक दूसरे को गिराने की प्रवृत्ति ने आज भी हमारा पिण्ड नहीं छोड़ा है। इसके अभाव में ही हम वर्तमान स्वतन्त्रता की पचास वर्ष की लम्बी अवधि में भी एक राष्ट्र, एक भाषा और एक संस्कृति का स्वरूप निर्धारित नहीं कर पा रहे हैं। उलटे विदेशी अपसंस्कृतियों का शिकंजा कसता चला जा रहा है। अब तो यहाँ तक कहा जाने लगा है कि राष्ट्रीय दलों की अपेक्षा क्षेत्रीय दल जनता की आकांक्षाओं को अधिक अच्छी तरह से समझ सकते हैं। इस देश को अनेक टुकड़ों में बाँट देने का ही तो यह उपक्रम हो रहा है।

हमने ''धर्म और संस्कृति का अन्तर पहचानिये'' शीर्षक निबन्ध में धर्म और संस्कृति की अलग-अलग पहचान की है। प्रश्न उठ सकता है कि इनमें से किसे वरीयता दी जाय? जहाँ तक चार पुरुषार्थों में प्रथम स्थान प्राप्त धर्म की बात है और धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में धृति, क्षमा आदि के रूप में जिसकी व्याख्या की गई है, उसकी श्रेष्ठता के विषय में कोई विवाद नहीं होना चाहिये। संस्कृति को उज्ज्वल इसी की सहायता से बनाया जा सकता है। किन्तु विभिन्न सम्प्रदायों और पन्थों के लिये भी 'धर्म' शब्द का प्रयोग होता है। इन धर्मों से संस्कृति को अवश्य वरीयता मिलनी चाहिये। इस पृष्ठभूमि में संस्कृति में एक ही दोष नजर आता है कि प्रत्येक धर्म के अनुयायी को इसमें अपने धर्म के लोप की आशंका होने लगती है।

परमाणु अस्त्र निषेध सन्धि को अमान्य करने की दृढता जैसे पूरे विश्व के प्रचार-तन्त्र को नकार कर दिखाई गई, वही दृढता सांस्कृतिक क्षेत्र में भी वरणीय होनी चाहिये। यदि

हम सही रास्ते पर हैं, तो केवल विश्व के प्रचार माध्यमों से अभिभूत हो उसे नहीं छोड़ना चाहिये। आज का प्रचार-तन्त्र भारतीय धर्म और संस्कृति को सबल करने वाले प्रत्येक कार्य का विरोध करेगा। मन्दिरों को तोड़ कर बनाई गई मस्जिदें ऐसा ही मसला है। सामान्य मस्जिदों और इनको एक-सा नहीं माना जाना चाहिये। पूरे विश्व में जहां-जहां भी यह निन्दनीय कार्य हुआ है, वहां की जनता को प्रबुद्ध करना चाहिये और विरोधी मानसिकता का पर्दाफाश किया जाना चाहिये। इस संबन्ध में हम लिख चुके हैं कि यह कार्य यदि शान्तिपूर्वक हो सके, तो वह मध्यकालीन असहिष्णु मानसिकता को दूर करने में सहायक होगा।

विश्व हिन्दु परिषद् के महामन्त्री श्री अशोक सिंहल का यह सोच सही नहीं है कि हिन्दु और ईसाइ मिलकर इस्लाम का सामना करेंगे। अभी तो इस्लाम, ईसाइ-मिशनरी और देशी-विदेशी प्रचार माध्यम — ये सभी हिन्दुत्व के नाश पर उतारू हैं। उन्होंने तथाकथित प्रबुद्ध भारतीय प्रजा को धर्मनिरपेक्षता के बाड़े में अपनी कुर्बानी देने के लिये बन्द कर दिया है और बाकी अबोध प्रजा को वे हिन्दु-आतंकवाद के डंडे से हाँकने में लगे हैं। हमें यदि ससंमान जीना है, तो धर्मनिरपेक्षता और हिन्दु-आतंकवाद जैसे शब्दों से अपने को बचाये रखना होगा।

चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे महान् सम्राट् के प्रधानमन्त्री विष्णुगुप्त चाणक्य के विषय में एक कथा प्रसिद्ध है कि जब यूनान का राजदूत उनसे मिलने गया, तो वे सरकारी दीपक जला कर प्रशासनिक कार्य निपटा रहे थे। राजदूत के आने पर उन्होंने सरकारी दीपक बुझा दिया और अपना निजी दीपक जला लिया। यह निजी दीपक आज बिजली की रोशनी में खोजने पर भी कहीं नहीं मिलेगा। ऐसे एक व्यक्ति के दर्शन का सौभाग्य मुझे प्राप्त है। वे राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी के प्रिंसिपल के रूप में काशी आये थे। कार्यालय के समय के अतिरिक्त वे महाविद्यालय के सेवकों की सहायता नहीं लेते थे। इसके लिये उन्होंने अपने खर्चे से सेवक रखा हुआ था। उनके यहाँ से चले जाने के बाद फर्नीचर के एक ठेकेदार के मुँह से सुना था कि ऐसा ईमानदार अधिकारी मेरे जीवन में दूसरा कोई नहीं आया। टिपटाप कर दी गई पाँच कुर्सियों को उन्होंने छाँट कर अलग कर दिया था। ये थे स्वनामधन्य प्रो० को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर। इसी प्रसंग में श्रद्धेय आचार्य नरेन्द्रदेव का भी मुझे स्मरण हो आता है कि आततायी को हानि पहुँचाने की अपेक्षा उन्होंने पीड़ित व्यक्ति को बचाने का प्रयत्न किया था। ऐसे महानुभावों को श्रद्धा से अवनत हो हम शत-शत नमन करते हैं ॥

❃❃❃

विशिष्टपदानुक्रमणी

❋❋❋